नेमिचन्द्र जैन

39407

रंग-दर्शन

प्राक्कथन

यह पुस्तक भारतीय या हिन्दी रंगमंच का इतिहास नहीं है, और न इसमें देश के विभिन्न भागों या किसी एक ही भाग के रंगमंच की स्थिति का, अथवा देश में उपलब्ध विभिन्न नाट्यरूपों और शैलियों का, कोई विवरण ही प्रस्तुत है। इसके विपरीत इस पुस्तक में वर्तमान भारतीय रंगमंच के महत्त्वपूर्ण पक्षों के तल में जाकर उन्हें देखने-समझने और इस भाँति आज के रंगकर्मी की दृष्टि से उनकी सार्थकता खोजने की कोशिश है। हमारे देश में आधुनिक रंगमंच का प्रारंभ बड़ी असाधारण परिस्थितियों में और बड़े अनोखे रूप से हुआ। इसके फलस्वरूप कुछ बड़े मूलभूत अन्तर्विरोध उसमें प्रारम्भ से ही अन्तर्निहित हैं जो उसे सहज ही अपनी परिपूर्णता और चरम उपलब्धि की ओर बढ़ने से रोकते हैं। जब तक हमारे देश का रंगकर्मी इन परिस्थितियों और उनके इन अन्तर्विरोधों से साहसपूर्वक साक्षात्कार नहीं करता, तब तक वह एक प्रकार के अपरिचित रिक्त में छटपटाता रहेगा और कोई सार्थकता प्राप्त न कर सकेगा। इस पुस्तक में भारतीय रंगमंच की इन मूलभूत स्थितियों के सूत्रों को सुलझाने का प्रयास है। इस प्रयास का संदर्भ और परिप्रेक्ष्य है, रंगकार्य को हमारे देश में समर्थ और सर्जनशील अभिव्यक्ति माध्यम के रूप में स्वीकृति और आगे विकास। यदि निरे मनोरंजन से बढ़कर एक *कलात्मक क्रिया के रूप में रंगमंच की प्रतिष्ठा* की दिशा में इस पुस्तक का कोई योग हो सका तो इसका उद्देश्य सफल होगा।

एक बात और। इस सम्पूर्ण विवेचन में परिप्रेक्ष्य भारतीय नाटक और रंगमंच का रहते हुए भी, बल जानबूझकर और स्वभावतः हिंदी नाटक और रंगमंच पर ही रहा

है। मूलत: हिंदी पाठक के लिए लिखी गयी इस पुस्तक के लिए यही उचित भी है। इसी विचार से अंत मे परिशिष्ट में अन्य विभिन्न अवसरो पर लिखे गये तथा पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पांच ऐसे लेख भी और सम्मिलित कर लिये गये हैं जो इस पुस्तक की कुछ मुख्य स्थापनाओं को हिंदी नाटक और रंगमंच के संदर्भ मे और भी परिभाषित करते हैं।

पुस्तक की परिकल्पना पिछले कई वर्षों से मेरे मन मे रही है और इसके कई अंश पहले लिखे जाकर इधर-उधर प्रकाशित भी होते रहे हैं, यद्यपि यहां उन्हें अब फिर से संशोधित और संपादित करके ही पुस्तक मे जोड़ा जा सका है। मैं उन सब पत्रिकाओ आदि के संपादकों का कृतज्ञ हूं जहां ये अंश पहले छपे थे। पुस्तक मे प्रकाशित छायाचित्र मुझे श्री बलवंत गार्गी, श्री गोविंद विद्यार्थी, श्री सत्यदेव दुबे से, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, बहुरूपी, लिटिल थिएटर ग्रुप, महाराष्ट्र सूचना केन्द्र, नई दिल्ली तथा भारत सरकार के पत्र सूचना विभाग से प्राप्त हुए। मैं इन सभी का हृदय से आभारी हूं क्योंकि निस्संदेह इन छायाचित्रों से पुस्तक को अधिक उपयोगी और आकर्षक बनाने मे सहायता मिली है। छायाचित्रो का सज्जा-संयोजन ललित कला अकादेमी के सहायक संपादक श्री सु० अ० कृष्णन ने किया है जिसके लिए मैं उनका बहुत ही कृतज्ञ हूं।

मैं अपने उन सहयोगियो का, विशेषकर बंधुवर सुरेश अवस्थी का, ऋणी हूं जिनके साथ समय-समय पर रंगमंच और नाटक को लेकर अनेक चर्चाओं मे, विभिन्न प्रश्नों पर अपने विचारो को रूप देने और स्पष्ट करने मे मुझे सहायता मिलती रही है। किंतु सबसे अधिक कृतज्ञ मैं देश के उन सैकड़ों रंगकर्मियों का हूं जिनकी सच्ची लगन और प्रतिभा ने ही, असंख्य कठिनाइयों के बावजूद देश में एक सार्थक और समर्थ रंगमंच का निर्माण करने मे जिनकी सूझबूझ और अदम्य उत्साह ने ही, इस पुस्तक की अधिकांश स्थापनाओं को प्रेरणा दी है। आशा करता हूं इसमें उन्हें अपनी कुछ उलझनों को ही नहीं, उनका सामना करने के लिए कुछ आधारों को भी झांकी मिलेगी।

नई दिल्ली
१ अगस्त, १९६७

नेमिचंद्र जैन

शंभु मित्र को

पच्चीस वर्ष पूर्व के उन अविस्मरणीय
दिनों की स्मृति में जब परनिन्दा सुख
से प्रारंभ बंधुत्व के साथ-साथ गहरी
और सच्ची नाट्य-दृष्टि भी मिली।

अनुक्रम

प्रारंभ

संस्कृति की परिभाषा कोई चाहे जिस प्रकार करे, इतना शायद सभी स्वीकार करेंगे कि वह मनुष्य के अवकाश के क्षणों की उपज है। जीवन-यापन के संघर्ष में विजयी होकर, अथवा उसकी तीव्रता में कमी होने से कुछ चैन मिलने पर ही, मानव उन भौतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की सृष्टि करता है जिनकी समग्रता का नाम संस्कृति है। प्रारंभ में अवकाश के समय का यह कार्य केवल मन बहलाने के लिए, मन के बोझ को हलका करने के लिए ही रहा होगा। फिर धीरे-धीरे इस मनोरंजन के कार्य में से ही व्यापक सांस्कृतिक प्रक्रिया की संभावनाएँ उदित हुई होंगी। इसी से संस्कृति एक ओर मानव की क्रीडा की प्रवृत्ति की महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति है, और दूसरी ओर उसकी सर्जनात्मक सामर्थ्य, उसके आध्यात्मिक वैभव का मापदंड भी है, और इसी कारण अवकाश की परिस्थितियों और साधनों में परिवर्तन और विकास के फलस्वरूप हर समुदाय की, अथवा एक ही समुदाय की विभिन्न युगों में, सांस्कृतिक उपलब्धि भिन्न होती है, फिर चाहे उसमें कितनी ही निरंतरता क्यों न हो।

संस्कृति अपने आदिम रूप में चित्तानुरंजन के उद्देश्य से की गयी अवकाश-कालीन गतिविधि होने के कारण आज भी समाज के मनोरंजन की पद्धतियों से अभिन्न रूप में जुड़ी हुई है। किसी भी संस्कृति की सर्जनात्मक-कलात्मक अभिव्यक्तियों पर विचार करने से यह बात तीव्रता से स्पष्ट हो जाती है। काव्य, साहित्य, चित्रकला, मूर्तिकला, संगीत, नृत्य, नाटक आदि सभी रचनात्मक अभिव्यक्तियाँ जहाँ किसी समाज के मौलिक आदर्शों को और मूल्यों को प्रकट करती हैं, वहीं वे मूलतः व्यक्ति तथा समुदाय के मनोरंजन का भी सबसे महत्त्वपूर्ण और सबसे परिष्कृत तथा समृद्ध साधन होती हैं। वास्तव में रचनात्मक प्रक्रिया के स्वरूप का यह दोहरा पक्ष ही साहित्य-कला आदि के जीवन में इतने व्यापक और गहरे महत्त्व का आधार है। और अपनी इसी विशेषता के कारण सर्जनात्मक कार्य किसी संस्कृति और सभ्यता का सर्वोत्कृष्ट और सर्वप्रमुख अंश माना जाता है। कलात्मक अभिव्यक्ति द्वारा समाज का सर्वाधिक वांछनीय और संस्कृत मनोरंजन होता है जो जनमानस का परिष्कार भी करता है और संस्कृति के मौलिक मूल्यों और स्वरूप की स्थापना भी।

यह बात निस्संदेह निरपवाद रूप मे सभी कलाओ के लिए सत्य है, पर विशेष रूप से रंगमंच के लिए इसका महत्त्व बहुत ही प्राथमिक और बुनियादी है, क्योकि रंगमंच कलात्मक अभिव्यक्ति का ऐसा माध्यम है जिसमे मनोरंजन का अश अन्य कलाओ की तुलना मे अपेक्षाकृत सबसे अधिक है। रंगमंच पर प्रदर्शित नाटक प्रेक्षको का रंजन करके ही सम्पूर्ण और सफल होता है और अपना उद्देश्य पूरा करता है। किन्तु वह मनोरंजन का ऐसा साधन और कलात्मक अभिव्यक्ति का ऐसा रूप है जिसके द्वारा हम जीवन की नानाविध अनुभूतियो का, उदात्त से लगाकर क्षुद्रतम भावावेगो तथा भावदशाओ और उनके विविध शारीरिक तथा अन्य मानसिक प्रभावो का, लगभग प्रत्यक्ष रूप से सामना करते है। एक प्रकार से यह सभी कलात्मक अभिव्यक्तियो के अनुशीलन द्वारा होता है, पर जितनी तीव्रता से, तथा जितने व्यापक रूप मे, अधिक से अधिक व्यक्तियो का एक साथ, यह रंगमंच पर नाट्याभिनय द्वारा होता है उतना और कही नही। इस दृष्टि से रंगमंच द्वारा संस्कृति के इस मूल धर्म की प्राप्ति कही अधिक सम्पूर्णता से हो सकती है और होती है कि वह जीवन के विभिन्न अनुभवों के आस्वादन द्वारा हमारे मन को अधिक संवेदनशील और ग्रहणशील बनाये, हमारे भीतर सह-अनुभूति और द्रवित होने की क्षमता को न केवल जीवित रखे बल्कि उसे और भी प्रबल और तीव्र कर दे।

रंगमंच की यह विशेषता उसे किसी भी देश-काल की संस्कृति का महत्त्वपूर्ण उपादान बनाती है, बल्कि साथ ही उसे उस संस्कृति के प्रसार और विस्तार का भी सबसे प्रधान साधन बनाती है। वास्तव मे रंगमंच द्वारा यह कार्य एक साथ कई स्तरो पर संभव होता है। संयुक्त दृश्य और श्रव्य माध्यम होने के कारण विस्तार की दृष्टि से उसका प्रभाव समुदाय के शिक्षित-अशिक्षित सभी वर्गों पर पड़ता है, समाज के सजीव और जराग्रस्त दोनो प्रकार के विचारो, भावो, मान्यताओ और आदर्शों को रंगमंच समुदाय के दूरस्थ से दूरस्थ क्षेत्र तक ले जाता है और ले जा सकता है। नाटकघर में विभिन्न वर्गों के दर्शक एक साथ बैठने और मंच पर प्रस्तुत नाटक की भावदशाओ का एक साथ आस्वादन करते हैं। फलस्वरूप एक नाटक के दर्शक इतने विविध और भिन्न होने पर भी किसी विलक्षण अदृश्य शक्ति द्वारा एकसूत्र होकर एक निश्चित समुदाय का रूप ग्रहण करते हैं और उनकी भावात्मक, आवेगात्मक और स्नायविक प्रतिक्रियाएँ प्राय समान या समानान्तर दिशा मे प्रवाहित होती हैं। इसीलिए भावात्मक एकता का रंगमंच से बड़ा माध्यम दूसरा नही। रंगमंच वास्तव मे हमारे मूल आदिम आवेगो और प्रवृत्तियों को जागृत करके उन्हे एक सामूहिक सूत्र मे बाँधता है और इस प्रकार किसी भी समाज को एकीकृत और संगठित करने मे उसका बड़ा योग हो सकता है।

एक अन्य स्तर पर भी यह प्रक्रिया रगमच मे सम्पन्न होती है। रगकला काव्य की भाँति आवेगो, रागो, विचारो, अनुभूतियो की अमूर्त तथा भावात्मक अभिव्यक्ति मात्र नही है, और न वह चित्र तथा शिल्प कला की भाँति किसी एक क्षण अथवा अनुभूति का काल के आयाम मे स्थिरीकृत रूप ही है। रगमच गति शील कार्य-व्यापार (ऐक्शन) के रूप मे जीवन की अनुभूति को प्रस्तुत करता है। इस प्रकार अन्य कलात्मक अभिव्यक्तियो की अपेक्षा वह जीवन को अधिक समग्रता के साथ, अधिक सपूर्णता मे विशेष रूप से विचारो, भावो, आवेगो और प्रवृत्तियो को उनके क्रियात्मक तथा इसीलिए दूसरो से सम्बद्ध सामाजिक रूप मे, प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से जहाँ काव्य आदि कलाएँ बहुत बार जीवन की सूक्ष्मता और गहराई को अभिव्यक्त करती है, वहाँ रगमच उसके गतिमूलक, सक्रिय सजीव रूप को प्रकट भी करता है और उसे सवारता निखारता भी है। अपनी इस विशेषता मे भी रगमच सस्कृति का सर्वथा अनन्य रूप है।

इसी प्रकार सस्कृति के सामूहिक-सामुदायिक पक्ष की दृष्टि से भी रगमच सबसे सम्पूर्ण और सशक्त आधार और साधन है। क्योकि अन्य कलाओ से भिन्न रगमच तो सर्जनात्मक क्रिया के रूप मे भी एक सामूहिक कार्य है। बहुत-से व्यक्तियो, बहुत-से विचारो और भावो, बहुत-सी कलाओ, शिल्पो और विद्याओ के किसी एक समन्विति मे गुफित हुए बिना रग कला सभव नही। अभिनेता को केवल अपने ही चरित्र के व्यक्तित्व से नही, नाटक के सभी पात्रो के व्यक्तित्व से, पहले मानसिक और फिर अत मे रगमच पर वास्तविक, सम्पर्क स्थापित करना आवश्यक हो जाता है। रगकार्य अपने मूल रूप मे मानव अस्तित्व की सामूहिकता की चेतना से अनिवार्य रूप म सम्बद्ध है। ऊपर इस बात का उल्लेख किया गया है कि किस प्रकार नाटक देखते समय दर्शक एक ही रागात्मक स्थिति के सह भोक्ता होकर परस्पर एक भावसूत्र मे बँधते हैं और उनका सामूहिक व्यक्तित्व ऊपर उभर कर आ जाता है। इसी प्रकार की स्थिति दूसरे ढग से अभिनेताओ की भी होती है। किसी भावात्मक यथार्थ को रगमच पर सम्मिलित रूप से प्रस्तुत करने के प्रयत्न म अभिनेताओ को अनिवार्यत बाध्य होकर एक दूसरे के आगे अपना आतरिक रूप प्रगट करना पडता है। गहरा, अनुभूतिपूर्ण और मार्मिक अभिनय उसके बिना असमव है। एक श्रेष्ठ नाटक मडली के अभिनेता-सदस्य एक दूसरे को नग्नता की सीमा तक गहराई और आत्मीयता के साथ जानने लगते हैं। मानव मन और चरित्र का ऐसा ज्ञान चाहे जितनी तात्कालिक समस्याएँ उत्पन्न करे, अन्तत यह अनुभव एक प्रकार की सहिष्णुता और सामजस्य की प्रवृत्ति मन मे पैदा करता है। किसी अच्छे नाटक मे भाग लेकर हम अपने भीतर के बहुत-से वृथा अहकार के, मिथ्या श्रेष्ठता के, भाव के प्रति सजग और सतर्क होते हैं। इस प्रकार रगमच मनोरजन का एक रूप होकर भी उन सब मौलिक मूल्यो और

क्रियाओं के साथ घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध है जिनके बिना संस्कृति की कोई सार्थकता नहीं।

संस्कृत में रंगमंच के योगदान का सबसे उत्कृष्ट प्रमाण है भरत के नाट्यशास्त्र का वह अंश जहाँ नाट्य का उद्गम बताते हुए कहा गया है, यह नाट्य *नामक पाँचवाँ वेद मनोरंजन का ऐसा दृश्य और श्रव्य साधन है* "जो धर्म, यश, आयु को बढ़ानेवाला, बुद्धि को उद्दीप्त करनेवाला, तथा लोक को उपदेश देनेवाला होगा। न ऐसा कोई ज्ञान है, न शिल्प है, न विद्या है, न ऐसी कोई कला है, न कोई योग है और न कोई कार्य ही है जो इस नाट्य में प्रदर्शित न किया जाता हो।'

साथ ही यह भी कहा गया है

'इस नाट्यवेद के अन्तर्गत कहीं धर्म है, कहीं क्रीड़ा, कहीं अर्थ, कहीं शान्ति अथवा श्रम, कहीं हँसी कहीं युद्ध, कहीं काम और कहीं वध का अनुकरण है। इसमें *कर्तव्य का पालन करनेवाले लोगों के लिए कर्तव्य की शिक्षा है, काम की चाहना* करनेवालों के लिए काम है, दुर्विनीतों को संयमित करने और विनीत जनों के लिए संयम की विधि का उल्लेख है। यह कायरों को साहस, शूरवीरों को उत्साह, अज्ञानियों को ज्ञान और पंडितों को विवेक प्रदान करता है। इसमें धनिकों को विनोद, *शोकग्रस्तों को चित्त की दृढ़ता और अर्थकामियों को धनोपार्जन के साधन तथा* उद्विग्न व्यक्तियों को धैर्य की प्राप्ति होती है। विविध भावों से परिपूर्ण और विभिन्न परिस्थितियों के चित्रण वाले इस नाट्य में लोक वृत्त की अनुकृति है। यह अच्छे, बुरे और साधारण सभी प्रकार के लोगों से संबंधित है और उन सभी *को साहस, मनोरंजन, आनंद और शिक्षा प्रदान करनेवाला है।*"

निस्सन्देह न केवल नाटक और रंगमंच की वरन् संस्कृति के मौलिक उद्देश्य और धर्म की इससे व्यापक व्याख्या दुर्लभ है। किन्तु यह दुर्भाग्य की ही बात है कि संस्कृत नाट्य परंपरा के छिन्न भिन्न होने के बाद हमारे देश में संस्कृति के *इस महत्त्वपूर्ण रूप पर उसके विभिन्न अंगों और पक्षों पर अधिक ध्यान नहीं दिया जा सका है। यह नहीं कि इस बीच रंगमंच का हमारे जीवन से सर्वथा* लोप हो गया, पर एक ओर क्रमशः वह अधिकाधिक निरा मनोरंजन का साधन बनता गया, दूसरी ओर उसको लेकर चिंतन विवेचन कम होता गया। इन दोनों ही स्थितियों के बीच स्पष्ट ही गहरा संबंध है। पर आज जब हमारे जीवन में *फिर से रंगमंच को मान्यता और प्रतिष्ठा मिलना प्रारम्भ हो गया है तो यह* सर्वथा आवश्यक है कि संस्कृति के इस महत्त्वपूर्ण और अत्यन्त जटिल तथा घनिष्ठ रूप की मूलभूत मान्यताओं और आवश्यकताओं पर गंभीरतापूर्वक विचार करें, उसके विभिन्न तत्त्वों के पारस्परिक संबंधों को पहचानने का प्रयास करें और आज *के बदलते हुए जीवन के परिप्रेक्ष्य में उनके सयोजन और अपेक्षित सार्थकता-*

पूर्ण प्रकाश के लिए अग्रसर हो। इस अध्ययन म कुछेक इन्ही मूलभूत तत्वो को पहचानन, उनका रूप निर्धारित करन और उनके सयोजन की समस्याग्रो का सामना करन का एक प्रयास है।

रगमच सबधी पुस्तक ग्राम तौर पर इस प्रश्न की चर्चा स प्रारभ होती हैं कि थिएटर या रगमचीय काय अथवा नाटय क्या है। इस पुस्तक के विभिन्न ग्रध्यायो म अलग अलग रूपो म और विभिन्न दृष्टियो से इस प्रश्न का सामना करन और उसका उत्तर खोजने की कोशिश है। इसलिए अलग से इस पर कोई विवेचन नही किया जा रहा है। किन्तु पूरे अन्वेषण के परिप्रेक्ष्य और क्षेत्र को स्पष्ट करने के लिए एक कामचलाऊ परिभाषा यहां देना सभवत उपयोगी होगा। इस अध्ययन म हम यह मानकर चले है कि नाट्यकला सर्जनात्मक ग्रभिव्यक्ति का वह रूप है जिसमे मुख्यत किसी सवादमूलक ग्रालेख या कथा को (जिसे हम नाटक कहते है) अभिनेताग्रो द्वारा अन्य रगशिल्पियो की सहायता से किसी रगमच पर दशक समूह के सामन प्रदर्शित किया जाता है। यह प्रदर्शन कभी सवादमूलक होता है, कभी सगीतमूलक, कभी नृत्यमूलक और कभी इन सबका, या एक-दो का, समन्वित रूप, कभी वह आधुनिकतम सयत्रो से सुसज्जित रगभवन मे प्रस्तुत होता है, कभी खुले ग्राकाश के नीचे, कभी केवल सामने एक ओर बैठे सौ पचास या दो चार सौ दर्शको के सामने प्रस्तुत होता है, और कभी ग्रभिनेताग्रो के चारो ओर हजारो दर्शको के बीच। इन सभी स्थितियो म जो तत्व, चाहे विभिन्न ग्रनुपातो और रूपो मे ही सही, निरतर मौजूद रहते हैं वे है कोई कथामूलक ग्रालेख, अभिनेता तथा निर्देशक सहित रगशिल्पी, रगमच और दर्शकवर्ग। परवर्ती अध्यायो म नाट्याभिव्यक्ति के इन अनिवार्य स्थायी तत्वो के रूप ग्रौर उनकी समस्याग्रो के अन्वेषण और पहचान का प्रयास किया गया है। इस प्रयास का सामान्य परिप्रेक्ष्य समस्त भारतीय रगमच ही है, यद्यपि स्वभावत ही उसमे हिन्दीभाषी क्षेत्र के रगमच के ही अनुभव और सदर्भ पर विशेष बल है जिससे हिन्दी पाठक के लिए यह चर्चा, विश्लेषण और विवेचन अधिक यथार्थ, वास्तविक तथा सार्थक बन सके।

अनिवार्यत यह विवेचन नाटक की चर्चा से प्रारम्भ होता है। नाटक के अध्ययन, उसकी रचना प्रक्रिया तथा रगमच के साथ उसके सबध को परिभाषित करना इसलिए भी आवश्यक समझा गया है क्योकि हिन्दीभाषी क्षेत्र मे नाटक को लेकर ही सबसे अधिक मतिभ्रम है। पिछली शताब्दी के मध्य मे नाटक और रगमच का आधुनिक युग प्रारभ होन के बाद से आज तक हिन्दी का नाटककार, सगीतक, पाठक कई ऐतिहासिक, सामाजिक-सास्कृतिक कारणो से नाटक के यथार्थ स्वरूप को समझने मे भटकता रहा है, जिसका ग्रशत कारण और परिणाम है हिन्दी क्षेत्र मे ग्राधुनिक रगमच का प्राय ग्रभाव ग्रथवा ग्रविकसित रूप। हिन्दी

साहित्य जगत मे आज भी नाटक के विषय मे जो कुछ लिखा जाता है वह इतना अधिक भ्रामक, अनिश्चित और दिशाहीन है कि वह नाटक और रगमच की पूर्ण सार्थकता की ओर बढने से यदि रोकता नही तो कम से कम सहायक तो नही ही होता। इसके अतिरिक्त नाटक के अध्ययन से आरम्भ करने की एक सार्थकता यह भी है ही कि समस्त रूपगत जटिलता और सश्लिष्टता के बावजूद रगमचीय अभिव्यक्ति का मूल आधार अन्तत नाटक ही है। रगकला का प्रारभ बिंदु वही है। भारतीय तथा विशेषकर हिन्दी रगकर्मी को सबसे पहले नाटक के सबध मे ही अपनी दृष्टि को स्पष्ट और निश्चित करना है, तभी रगकार्य के अन्य तत्त्वो के सबध म भी उसका चितन अधिक एकाग्र, कार्यकारी और सार्थक हो सकेगा।

तो आइये, नाटक के अध्ययन से यह अन्वेषण प्रारभ करे।

नाटक का अध्ययन

नाटक साहित्यिक अभिव्यक्ति की ऐसी विधा है जो केवल साहित्य नही, उससे अधिक कुछ और भी है, क्योकि रचना की प्रक्रिया लेखक द्वारा लिखे जाने पर ही समाप्त नही होती, उसका पूर्ण प्रस्फुटन और सप्रेषण रगमच पर जाकर ही होता है। रगमच पर अभिनेताओ द्वारा प्राण प्रतिष्ठा के बिना नाटक को सम्पूर्णता प्राप्त नही होती। और इसीलिए रगमच से अलग करके नाटक का मूल्याकन या उसके विविध अगो और पक्षो पर विचार अपूर्ण ही नही भ्रामक है। ससार के नाटक साहित्य के इतिहास मे कही भी नाटक को रगमच से अलग करके, केवल साहित्य रचना के रूप मे नही देखा जाता और रगमच तथा उसकी आवश्यकताओ के पारखी ही नाटक के असली समालोचक होते हैं और माने जाते है। किन्तु हमारे देश मे स्थिति कुछ भिन्न है। सस्कृत नाटक के स्वर्णयुग के बाद हमारी रगमच की परपरा विच्छिन्न हो गयी। उसके बाद प्राय एक हजार वर्ष तक आधुनिक भाषाओ मे नाटक बहुत ही कम लिखे गये और जो इक्का-दुक्का प्रयत्न हुए भी वे सस्कृत नाटको की अनुकृति मात्र थे और उनका किसी रगमच से कोई सबध नही था, क्योकि नियमित सगठित रगमच किसी भाषा मे था ही नही। जब विभिन्न परिस्थितियो मे अठारहवी-उन्नीसवी शताब्दी मे रगमच का फिर से उत्कर्ष हुआ तो देश की बहुत सी भाषाओ मे कुछ-कुछ नाटक लिखे जाने लगे पर रगमच की जीवित और सशक्त परपरा के अभाव मे नाटक को या तो सर्जनात्मक साहित्य से अलग मनोरजन का कार्य समझा गया या फिर शैक्षिक क्षेत्रो मे वह बहुत-कुछ एक निरा साहित्य रूप गिना जाने लगा।

विशेषकर हिन्दी भाषा के क्षेत्र मे इस आधुनिक रगमच की जडे भी बहुत ही दुर्बल और क्षीण रही, जिसके फलस्वरूप हिन्दी के साहित्यकारो द्वारा लिखा गया नाटक रगमच से कटा हुआ रहा और साहित्य के इतिहास मे, तथा विभिन्न आलोचको द्वारा, उस पर विचार रगमच को ध्यान मे रखकर नही, बल्कि एक स्वतन्त्र विधा के रूप मे ही होता रहा। इसीलिए कोई विशेष आश्चर्य नही कि हिन्दी नाटककार का आज भी रगमच से बडा क्षीण सम्बन्ध है, हिन्दी के अधिकाश प्रतिभावान साहित्यकार नाटक की ओर उन्मुख ही नही होते, और नाटको के आलोचक तो प्राय रगमच के साधारण ज्ञान से

भी शून्य होते हैं। इसीलिए उनकी आलोचना अवास्तविक और नाटक के मूल्यांकन अथवा उसकी प्रगति में सहायता की दृष्टि से सर्वथा अनुपयोगी होती रही है। यदा-कदा संस्कृत नाट्य और रंगमंच के सिद्धांतों से आधुनिक नाटक *साहित्य को जोड़ने के प्रयत्न भी इसीलिए बड़े अनुपयुक्त रहे हैं और मूल समस्या* को नहीं छू सके। पिछले कुछेक वर्षों में कलात्मक और सौन्दर्यमूलक अभिव्यक्ति के रूप में रंगमंच को फिर से स्वीकृति मिलने लगी है, और आज यह नितांत *आवश्यक हो गया है कि नाटक के स्वरूप को समझने के लिए और नाट्य* चिंतन को नाटक की प्रगति में सहायक बना सकने के लिए नाटक को उसके रंगमंचीय आयाम में प्रतिष्ठित करके ही देखा और परखा जाय।

यह प्रारम्भ में ही कहा गया कि नाटक की सम्पूर्णता रंगमंच पर ही प्राप्त होती है। वास्तव में अपनी मूल प्रकृति की दृष्टि से नाटक वह संवाद-मूलक कथा है जिसे अभिनेता रंगमंच पर नाट्य-व्यापार के रूप में दर्शक वर्ग के सामने प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार नाटक के तीन मौलिक पक्ष हैं कवि या नाटककार द्वारा तैयार की हुई संवादात्मक कथा, अभिनेताओं द्वारा उसका अभिनय प्रदर्शन, और दर्शक-वर्ग। नाटक का कोई विवेचन इन तीनों पक्षों को एक साथ समन्वित किये बिना सर्वांगीण नहीं हो सकता। इस परिभाषा के *अनुसार केवल संवाद के रूप में लिखे जाने पर ही कोई रचना नाटक नहीं हो* जाती। यह अत्यन्त ही आवश्यक है कि उसकी अन्तर्निहित कथा का भावन दृश्य वस्तु के रूप में किया गया हो। केवल चमत्कारपूर्ण वाग्वैदग्ध्ययुक्त संवाद लिख *सकना पर्याप्त नहीं है आवश्यकता इस बात की है कि संवादों के माध्यम से* एक महत्त्वपूर्ण भावानुभूति दृश्य और अनुकरणीय रूप में प्रगट की गई हो। ऐसे संवाद लिख सकना भी बहुत दुष्कर नहीं जिन्हें दो या अधिक व्यक्ति किसी *प्रकार की रूपसज्जा में सामने बैठे-बैठे सहज ही बोले जायें और फिर भी कोई* नाटक न बने। नाटक में यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि संवाद ऐसे चुने हुए अनुभव से संबंधित हों जिसमें गति हो, जिसमें चित्रित व्यक्तियों की शारीरिक स्थिति में, अन्य बाह्य परिस्थितियों तथा भावों और विचारों में, उतार चढ़ाव निरन्तर परिवर्तन होता जाए और साथ ही यह गति और बाह्य तथा आन्तरिक स्थितियों का यह परिवर्तन ऐसा हो जिसे अनुकरण द्वारा, अभिनय द्वारा, मूर्त और व्यक्त किया जा सके। अभिनय द्वारा मूर्त होने की क्षमता और संभावना ऐसी कसौटी है जिस पर खरा उतरे बिना नाटक का अस्तित्व नहीं। निस्सन्देह इस कसौटी से रचनाकार और रचना दोनों के ऊपर ऐसा महत्त्वपूर्ण बन्धन *लगता है, उसके लिए एक प्रकार की ऐसी कठोर सीमा निर्धारित होती है, जिसकी* अन्तर्निहित सुविधाओं और कठिनाइयों पर सावधानी से विचार करना चाहिए।

साधारणतः प्रत्येक कथात्मक रचना में भावों और परिस्थितियों का उतार

धर्मवीर भारती का अंधा युग   राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय

मोहन राकेश का आषाढ़ का एक दिन
राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय

आषाढ़ का एक दिन
थिएटर यूनिट
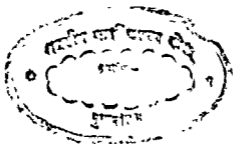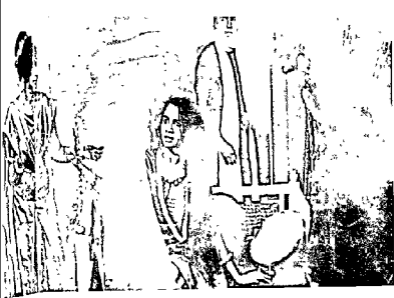
लहरों के राजहंस
राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय

द नाटककार गिरीश कारनाड का मोहम्मद तुगलक
ीय नाट्य वि

पृथ्वी थियेटर्स का पठान

चढाव होता है और उनकी कोई न कोई स्थूल अथवा सूक्ष्म गति भी होती है। पर नाटक मे यह उतार चढाव ऐसा होना आवश्यक है कि विभिन्न पात्रो के सवादो, गतियो, चर्याओ तथा मुखाभिनय द्वारा तुरन्त प्रकट और मूर्त हो सके। नाटकेतर कथा साहित्य म स्वय लेखक द्वारा वर्णन की बडी भारी सुविधा होती है, लेखक सहज ही सूक्ष्म से सूक्ष्म भावदशा अथवा बाह्य क्रिया-कलाप का विस्तार से वर्णन कर सकता है, ऐसी बात लिख सकता है जिन्हे कोई पात्र कहता नही, अथवा अनुभव तक नही कर सकता। नाटक म यह सुविधा एकदम नही है। उसमे केवल ऐसी बाते, भावदशाये तथा क्रियाए स्थान पा सकती है जिन्हे कोई न कोई पात्र कहने या करने की स्थिति म हो। इसी प्रकार अन्य कथा रूपो म एक ही क्षण मे दो स्थानो पर या दो युगो मे घटने वाली बात एक साथ कही जा सकती है, कथा के असबद्ध पात्रो और घटनाओ की चर्चा लेखक द्वारा की जा सकती है जो सब नाटक म लगभग असभव हो जाता है। इन सीमाओ के साथ किसी भी कथा के विभिन्न अ शा म से ऐसे अशा का चुनाव, जो उस अनुभूति को सम्पूर्ण तीव्रता और सार्थकता के साथ अभिव्यक्त कर दे, स्पष्ट ही बहुत सरल कार्य नही है, कम से कम साधारण कथा शिल्प से बहुत भिन्न है।

नाटक का अभिनय प्रदर्शन से सबद्ध होने का एक और भी महत्त्वपूर्ण परिणाम है। लिखी हुई रचना को पाठक एकाधिक बार म पूरा पढ सकता है, अटकने पर पिछला प्रकरण खोल कर फिर से दोबारा देख सकता है, भाव अथवा विचार को आत्मसात करने के लिए ठहर सकता है। किन्तु नाटक की कथा का ऐसा होना अनिवार्य है जिसे एक साथ एक ही बार मे शुरू से अन्त तक बिना रुके बिना पीछे लौटे दिखाया भी जा सके और दर्शको की समझ मे भी आ सके। दूसरे शब्दो म, नाटक मे अस्पष्टता की, अनिश्चित अलकरण की, घुमाव फिराव और दुरूहता की कोई गुजाइश नही। गहन स गहन विचार और अनुभूति का भी इतना तीक्ष्ण और सुस्पष्ट और सुनिश्चित होना आवश्यक है कि उसे अभिनेता स्वय आत्मसात करके व्यक्त कर सकें और उनके प्रदर्शन द्वारा दर्शक ग्रहण कर सकें। सहजता, स्पष्टता और गहनता के ऐसे समन्वय बिना श्रेष्ठ नाटक सम्भव नही। इसी प्रकार नाटक की रचना मे ऐसी बहुत सी बाते ध्यान म रखना आवश्यक होता है जिनका सीधा सम्बन्ध अभिनय या प्रदर्शन से है। जैसे, ऐसा कोई सवाद नाटक म नही लिखा जा सकता जिसको बोलने मे शिक्षित अभिनेता को लम्बाई, क्लिष्टता अथवा असामजस्य के कारण असुविधा हो, जो सुनने मे इच्छित से विपरीत प्रभाव डाले, अथवा ऐसी कोई स्थिति या घटना नही स्वीकृत हो सकती जिसका प्रदर्शन असोभन हो, समाज की नैतिक तथा आचरण-सबधी औचित्य तथा स्वच्छता-स्वस्थता की मौलिक धारणाओ के इतना विपरीत हो कि दर्शको को असह्य लगे अथवा जिसका प्रदर्शन शारीरत असभव हो। किसी

भी केवल पाठ्य कथा म यह सब सहज ही सम्भव नही, वरन् प्राय आवश्यक और अनिवार्य भी होता है।

अभिनेता और प्रदर्शन से सम्बन्धित ये परिस्थितियाँ नाटक को सीधे-सीधे दर्शक से जोड देती है। अभिनय प्रदर्शन केवल अभिनेता के स्वात सुखाय नही होता, वह अनिवार्य रूप से एक दर्शक-वर्ग को दिखाने और उस पर कोई एक निश्चित इच्छित प्रभाव डालने के लिए ही होता है। अन्य कलाओ तथा कथा साहित्य के ही अन्य प्रकारो की भाँति नाटककार और अभिनेता अपने दर्शक-वर्ग को भूल कर उसकी उपेक्षा करके, उससे सबध स्थापित होने की सभावना के प्रति तटस्थ होकर, रचना न तो करता है, न कर सकता है। अन्य किसी भी कला माध्यम मे रचनाकार और उसके उद्दिष्ट पाठक-श्रोता-दर्शक समुदाय मे इतना सीधा, प्रत्यक्ष और तात्कालिक सबध नही होता। बल्कि जैसा प्रारम्भ मे कहा गया, दर्शक-वर्ग किसी भी नाटक की एक अनिवार्य परिस्थिति, उसका एक अनिवार्य अग है।

नाटक की इस विशेषता का एक मोटा-सा प्रभाव यह है कि नाटक के आकार के विषय म लेखक स्वतन्त्र नही होता। प्रत्येक नाटक अनिवार्य रूप से उतना ही बडा हो सकता है जितना एक बार मे दर्शक ऊबे-उकताए बिना देख सके। वास्तव म यह सीमा नाट्य रचना को, उसकी प्रक्रिया को और उसके बाह्य तथा आतरिक रूप को, मूलत प्रभावित करती है। नाटक मे व्यक्त होने के लिए किसी भी अनुभूति का तीक्ष्ण सम्पादन सर्वथा आवश्यक है। नाटक मे सारी बात कह सकना सभव नही। किसी भी अनुभूति के, कथा के, घटना के, भाव के, कथन के, ऐसे अश या अशो का चयन नाटककार के लिए सर्वथा आवश्यक है जो अत्यतिक हो, जो न केवल स्वय सबसे महत्त्वपूर्ण हो बल्कि जो अनकहे अश की भी व्यजना कर सकते हो। इसीलिए सभवत अपनी अनुभूति और अपनी रचना को एक तटस्थ दर्शक और समीक्षक की दृष्टि से देख सकने की क्षमता सफल नाटककार के लिए आवश्यक होती है। हिन्दी के अधिकाश नाटको मे कथावस्तु, भावावेग वर्णन, सवाद आदि मे असाम्य स्फीति इसी क्षमता के अभाव के कारण है। आधुनिक युग म नाटक का समय दो-ढाई घटे से अधिक होना सुविधाजनक नही माना जाता। पुराने जमाने मे यह सीमा अधिक से अधिक चार-पाँच घटे होती थी। इतने समय मे भी कथासूत्र और भावावेग को सयम-पूर्वक प्रस्तुत कर सकना अधिकाश नाटककारो के लिए कठिन हो जाता है। क्योकि प्रश्न केवल समय होने न होने का ही नही है, नाटकघर मे बैठे दर्शक की ग्रहण और सहन कर सकने की शक्ति का भी है। विस्तार को हम पढने समय सहन कर सकते है, या पन्ने पलट कर उसमे बच सकते है, पर नाटक देखने समय वह हमे इतना अस्थिर और चचल बना सकता है कि अत तक देखना ही

सभव न रहे।

इसी प्रकार नाटक का दर्शक-वर्ग, पुस्तक के पाठक, चित्र के दर्शक और एकात मे सगीत के श्रोता से मूलत भिन्न है, क्योकि नाटक देखने की क्रिया एक सामूहिक क्रिया है। नाटक कोई व्यक्ति अकेले नही देखता, एक समुदाय मे, समाज के बहुत से विभिन्न रुचियो, शिक्षा और आर्थिक परिस्थितियो वाले लोगो के साथ देखता है। *यह बात बहुत ही महत्वपूर्ण है कि नाटक देखते समय दर्शक* अपने व्यक्तिगत रूप मे ही नही, मुख्यत अपने सामाजिक रूप मे प्रभावित होता है। दर्शक-वर्ग अलग-अलग व्यक्तियो का जोड नही, वह एक प्रकार की नयी सामाजिक इकाई है जिसमे शायद हमारा आदिम, सामूहिक, समष्टिमूलक व्यक्तित्व उभर कर जागृत होता है। नाटक का आवेदन इसीलिए उस सामूहिक समष्टि-मानव को है, मानव-मन की मूलभूत आदिम प्रवृत्तियो को है। इसीलिए नाटक देखते समय हम दूसरो के साथ हँसते हैं, रोते है, उत्तेजित होते है, कदाचित अथवा अस्थिर होते हैं। यही नही, देखा गया है कि नाटकघर के भीतर व्यक्ति का *व्यवहार बहुत बार उसके निजी एकात जीवन से एकदम भिन्न हो जाता है,* जैसे वह कोई और ही व्यक्ति हो। ऐसे दर्शक-वर्ग तक एक निश्चित समय की सीमा मे अपनी अनुभूति के सप्रेषण के लिए यह आवश्यक है कि नाटककार अपनी अनुभूति की व्यक्तिगत विशिष्टता को उस सामान्य समष्टिमूलक वस्तु-रूप मे प्रतिष्ठित करे जिसके बिना उसका सप्रेषण सचमुच सभव नही। नाटककार के लिए व्यक्तित्व की उपलब्धि जिस प्रकार आवश्यक है उसी प्रकार व्यक्तित्व से मुक्ति भी। इसी प्रश्न का एक पक्ष यह भी है कि इसी कारण नाटककार का लक्ष्य समुदाय के सर्वोन्नत, सर्वोत्कृष्ट व्यक्ति के बजाय उस अमूर्त व्यक्ति का अनुरजन है जो एक साथ ही दर्शक-वर्ग के सबसे कम और सबसे अधिक शिक्षित विकसित और परिष्कृत व्यक्तित्व का प्रतीक हो। नाटककार को अपने इस दर्शक की पहचान अपने आप, सहज ही होना चाहिए। इसके बिना नाटक या तो इतना जटिल और गहन होगा कि अधिकाश दर्शको के पल्ले न पड़ेगा और या फिर इतना सतही और छिछला कि सवेदनशील और परिष्कृत रुचिवाले दर्शक असतुष्ट होगे और उसका कोई स्थायी मूल्य न हो सकेगा।

यह प्राय कहा जाता है कि समसामयिक सार्थकता के बिना नाटक की सफलता सम्भव नही। इस बात का यही अभिप्राय है कि नाटक मूलत समकालीन दर्शको के लिए ही रचा जाता है। एक काव्य की रचना भविष्य के लिए चाहे हो सकती हो, पर नाटक आज के दर्शको के निमित्त ही लिखा जाना सभव है, *क्योकि आज के दर्शको पर उसका प्रयोग, और प्रभाव-परीक्षण अनिवार्य है।* और जिस मात्रा मे कोई नाटककार अपने युग के दर्शक-वर्ग की आत्मा को, उसके मर्म को छूने मे समर्थ होता है, उसी मात्रा मे उसकी कला दीर्घकालीन स्थायित्व

अर्जित कर पाती है। वास्तव में नाटककार के लिए केवल युगीन रह जाने की जोखिम उठाकर भी अपने समकालीन दर्शक-वर्ग को ध्यान में रखकर लिखना आवश्यक होता है। यही कारण है कि संसार के नाट्य और रंगमंच के इतिहास में ऐसे बहुत से नाम मिल जायेंगे जिनके नाटकों को अपने युग में बड़ी प्रतिष्ठा और यश और सफलता, सभी कुछ प्राप्त हुआ, पर परवर्ती युगों में जिनका कोई नाम तक नहीं लेता। ऊपरी टीमटाम और क्षणिक महत्त्व की समस्याओं में उलझे रहने वाले समाज का, गहरी संवेदनाओं और अनुभूतियों से हीन समाज का, नाट्य साहित्य प्राय: अपने युग के साथ विस्मृत हो जाता है। इस प्रकार नाटक अपनी प्रकृति से ही, अपनी रचना-प्रक्रिया और निष्पत्ति दोनों में ही, अभिनय-प्रदर्शन और दर्शक-वर्ग से अविभाज्य रूप से जुड़ा हुआ है और उसके ये प्रकृति-गत तत्त्व सबसे महत्त्वपूर्ण और माननीय हैं।

किंतु अभिव्यक्ति की एक साहित्यिक विधा के रूप में नाटक का मुख्य तत्त्व है किसी मूल भाव का विचार-सूत्र को रूपायित करने वाला कार्य-व्यापार, अर्थात् अनुभवमूलक भाव या विचार का एक बिंदु से दूसरे बिंदु तक संचरण। कार्य-व्यापार अथवा भाव, विचार या बाह्य स्थिति की यह गतिपरकता नाटक की अपनी अनिवार्य विशिष्टता है जो अन्य सर्जनात्मक विधाओं में इतनी मूलभूत नहीं है। नाटक का समस्त संयोजन और रूपबंध इसी से निर्धारित और शासित होता है। कार्य-व्यापार विषय-वस्तु के स्तर पर घटनाओं के कथाबद्ध संयोजन अथवा कथानक, उससे संबद्ध पात्रों के चरित्र निरूपण और इन दोनों को नियमित करने वाले विचार-तत्त्व से जुड़ा होता है, और रूपबंध के स्तर पर संवाद और दृश्यात्मक परिकल्पना से। नाटक की रचना में साधारणत: कथानक को सबसे महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। अरस्तू तो इसे ही नाटक का प्राण मानता था। भारतीय नाट्य शास्त्र में भी कथासूत्र का महत्त्व स्वीकार किया गया है। पर आधुनिक नाट्य चिंतन में कथानक का, विशेषकर गढ़े हुए, कृत्रिम रूप से बनाए हुए कथानक का वैसा महत्त्व नहीं रहा है। वास्तव में कथानक मूलत: वह घटना विन्यास है जिसके द्वारा नाटक की भाव-वस्तु को रूप मिलता है। नाटक का कथानक केवल घटनाओं का समूह मात्र नहीं, वह घटनाओं का ऐसा सुसंबद्ध संयोजन है जो किसी सत्य का उद्घाटन करे, जिसके माध्यम से कथा से संबद्ध पात्रों की अनुभूति के स्तर इस प्रकार खुलते जायें कि वे स्वयं तथा दर्शक अपने सच्चे स्वरूप की उपलब्धि करें। दूसरे शब्दों में, नाटकीय कथानक की घटनायें मनमाने ढंग से एकत्र की हुई नहीं होतीं, बल्कि उनका एक निश्चित क्रम और रूप होता है—निश्चित प्रारम्भ, विकास और अन्त होता है। यह क्रम अनिवार्य रूप से कालपरक नहीं होता। नाटक के कथानक की घटनायें प्राय: ऐसे स्थल पर प्रारम्भ होती हैं जहाँ किसी न किसी प्रकार का स्थिति-परिवर्तन आगामी

हो, और फिर नाटककार के उद्देश्य के अनुरूप आगामी अथवा अतीत की घटनाओं के द्वारा कथावस्तु एक ऐसे चरम बिंदु तक विकसित होती है जहाँ पहुँच कर पात्रों और दर्शकों दोनों को ही एक नयी भावोपलब्धि होती है। नाटकीय घटना विन्यास और कथानक की यह विशेषता उसे कथा साहित्य के अन्य रूपों से बुनियादी रूप में अलग करती है और प्रायः इस विशिष्टता को भली भांति न समझने के कारण ही बहुत से नाटककार अपने कथानक को ठीक ठीक नहीं प्रस्तुत कर पाते।

किन्तु यह घटना विन्यास अथवा कथानक मूलतः मानव व्यक्तियों से ही तो सम्बन्धित होता है और इस प्रकार अंततः नाटक के चरित्रों का व्यक्तित्व स्पष्ट करने और उन्हें एक परिणति की ओर ले जाने के लिए होता है। इस रूप में कथानक का चरित्रों के व्यक्तित्व के विकास से अन्योन्याश्रय संबंध है। सफल और श्रेष्ठ नाटक में केवल वे ही घटनाएँ प्रासंगिक हैं जो पात्रों के चरित्र या व्यक्तित्व को उद्घाटित करें और उनकी आत्मोपलब्धि में सहायक हों। इसी प्रकार नाटक के चरित्रों का उद्घाटन इन घटनाओं के कथानक के माध्यम से ही होता है। नाटकीय चरित्रनिरूपण जो कुछ पात्रों पर बीतता है, यानी जो कुछ वे करते हैं जो कुछ उन्हें अनुभव होता है और उसके फलस्वरूप वे जैसा व्यवहार और आचरण करते हैं, केवल उसी से व्यक्त और नियमित होता है। नाटकीय कार्य-व्यापार से ही कथानक निर्धारित होता है और कथानक ही नाटकीय कार्य-व्यापार की संभावना प्रस्तुत करता है। नाटक का पात्र नाटक में अपने कार्यों के बल पर ही जीवित रहता है और अंततः अपने कार्यों के द्वारा ही वह नाटक को आगे बढ़ाता है। साथ ही उसके लिए यह आवश्यक होता है कि अपने प्रत्येक कार्य का औचित्य, उसकी विश्वसनीयता वह स्वयं निर्मित करे और दर्शकों के समक्ष उसे स्थापित करे। चरित्रों के व्यक्तित्व और कथानक का यह सम्बन्ध बहुत बार आंतरिक असंगतियाँ और वस्तुगत विरोध भी उत्पन्न कर सकता है और करता है। कई बार नाटक के पात्र उसके कथानक के चौखटे में सही नहीं बैठते, कथानक एक ओर खींचता है और पात्रों के चरित्र दूसरी ओर। बहुत बार ऐसा भी होता है कि कथानक कृत्रिम लगता है और बहुत विश्वसनीय नहीं होता, पर उसके भीतर जीनेवाले चरित्र इतने सजीव और सशक्त होते हैं कि कथानक की यह दुर्बलता बहुत नहीं खटकती। किन्तु श्रेष्ठ नाटक वही होते हैं जहाँ चरित्र और कथानक एक दूसरे की अभिव्यक्ति और पूरक होते हैं। इसी प्रकार केवल कथानक-प्रधान नाटक, जिसकी घटनाएँ तो कितनी रोचक हों, पर चरित्रों में कोई मानवीय गुण न हो, सजीवता न हो, बहुत ही छिछला और सतही रह जाता है, उससे क्षणिक मनोरंजन भले ही हो जाये, पर वह श्रेष्ठ कला-कृति की कोटि में नहीं आता। दूसरी ओर यदि कथानक शिथिल और गतिहीन हो तो सप्राण चरित्र

भी अपने आप को स्थापित नही कर पाते। ऐसे प्रकार के नाटक सदा घटना-प्रधान होते है उनमे मानव चरित्र के क्रिया-कलाप की गहरी संवेदनाओ का अभाव होता है। श्रेष्ठ नाटक वे ही है जिनमे घटना विन्यास चरित्रो के कार्यों, उनके भावो विचारो और अनुभवो और परस्पर सम्बन्धो द्वारा नियमित और गतिमान होता है। अतत नाटको के महत्त्वपूर्ण चरित्र ही अपनी महत्त्वपूर्ण क्रिया द्वारा उन्हे स्थायी और श्रेष्ठ बनाते हैं।

किंतु जैसे पहले कहा गया घटना विन्यास और चरित्र दोनो अतत विचार-तत्त्व से जुडे होते है। वास्तव म वही कथानक और चरित्रो के परस्पर सघात से अन्त मे अभिव्यक्त और स्थापित होने वाला सार है, जिसके बल पर ही नाटक को श्रेष्ठ कला और साहित्य तथा उत्कृष्टतम मानवीय सृष्टि की श्रेणी प्राप्त होती है। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण नाटककार अपने नाटक द्वारा जीवन के किसी न किसी मूल्य को अपनी अन्तर्दृष्टि को, अपनी सामाजिक, दार्शनिक, नैतिक, मानवीय उपलब्धि को, ही तो अभिव्यक्त करता है। यह अत्यन्त ही आवश्यक है कि घटना-विन्यास, और उसके प्रेरक तथा उससे प्रेरित होने वाले पात्र, उस उपलब्धि को सचमुच व्यक्त करें। इसमे एक मौलिक कठिनाई सदा यह उपस्थित रहती है कि नाटक मे स्वय नाटककार को प्रवेश सुलभ नही। किसी उपलब्धि को सीधे-सीधे बाहर से आरोपित टिप्पणी या वक्तव्य द्वारा, नाटक म नही प्रकट किया जा सकता। यह कार्य नाटककार को विभिन पात्रो और घटनाओ के परस्पर सघात द्वारा ही पूरा करना पडता है। इसमे पात्रो, घटनाओ और समस्त कार्य-व्यापार म सतुलन और विभिन्न अगो पर यथा आवश्यक समुचित बल पडने की समस्या बहुत तीव्र है। यदि यह बल ठीक न पडे तो लेखक का उद्देश्य, उसका विचार-तत्त्व, या तो अस्पष्ट हो जाता है या भिन्न होकर नष्ट हो जाता है। नाटक विधा की यह परोक्षता उसकी बडी शक्ति भी है और सीमा भी। इसी प्रकार यदि नाटक मे विचार-तत्त्व बहुत बौद्धिक रूप मे प्रमुख हो जाये तो वह सतह पर तैर आता है और फिर समस्त विषय वस्तु को अविश्वसनीय, नाटक की गति को यात्रिक, और पात्रो को निर्जीव कठपुतली जैसा बना देता है। बहुत-से सोद्देश्य लिखे गये नाटक तथाकथित समस्या-नाटक, आदर्शो की स्थापना के लिए लिखे गये नाटक, प्रभावहीन प्रचार मात्र रह जाते हैं, उनका मूल कलात्मक सौष्ठव और स्वरूप नष्ट हो जाता है। इस प्रकार नाटक का विचार-तत्त्व नाटक के कथानक और चरित्रो की मूल परिकल्पना मे और उनके परस्पर सतुलन द्वारा ही प्रकट हो सकता है और होता है।

नाटक के रूप और रचनागत तत्त्वो में सवाद और दृश्यात्मक परिकल्पना दोनो ही बहुत विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण हैं। सवाद तो एक प्रकार से नाटक का कलेवर ही है, नाटक की भाव-वस्तु, उसकी आत्मा, सवादो के रूप मे ही अभि-

व्यक्त होती है। विभिन्न पात्रा के परस्पर कथोपकथन द्वारा ही चरित्र अपने आपको प्रकाशित करते हैं, जिससे नाट्य व्यापार का आधार तैयार होता है और कथानक आगे बढता तथा विकसित होता है। सवादहीन मूक अभिनय द्वारा किसी चरित्र का प्रकाशन अथवा कथानक की स्थापना असभव नही, पर वह सामान्य नाटक का रूप नही और उस नाट्य प्रकार की अपनी आवश्यकताए और सिद्धान्त है। सामान्य नाटक मे भी ऐसे बहुत से स्थल होते हैं जहा पात्र कुछ कहते नही, उनके मुख के भाव भगिमाओ शरीर की स्थिति मे और गतिया आदि से उनके व्यक्तित्व और घटना कम प्रकट होते हैं। पर मूलत ऐसा या तो सवादो के साथ-साथ अथवा दो सवादो के बीच की क्रिया के रूप मे ही होता है। नाटक का मूल माध्यम और वाहन सवाद ही है, वे नाटकीय कार्य-व्यापार का एक महत्त्वपूर्ण अग है।

नाटक रचना मे यह महत्त्वपूर्ण कार्य पूरा करने के लिए सवादो मे दो लगभग परस्पर-विरोधी तत्वो के बीच सतुलन रखना सर्वथा अनिवार्य हो जाता है। *एक ओर तो सवादो का समस्त नाटक के कथानक, घटना-विन्यास, विचार-तत्व* और चरित्रो को प्रकट करने के लिए बहुत ही सावधानी से, बडी सचेष्टता से सुचिंतित, लगभग एक आलोचक की-सी तीक्ष्ण दृष्टि से सतुलित होना आवश्यक है। दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि वे विभिन्न पात्रो के सदर्भ मे स्वाभाविक हो, उनके लिए बोलने मे सहज हो, और इतने स्पष्ट और तीक्ष्ण हो कि श्रोता को तुरन्त समझ मे आ सके। एक ओर वे पात्रो के चरित्र के अनुकूल हो, उसको प्रकट करने वाले हो, और ऐसे सर्वथा निर्विशिष्ट न हो कि कोई छाप ही मन पर न पडे, दूसरी ओर इतने सरल और उलझाव से रहित हो कि समझने मे तनिक भी कठिनाई न हो, बोलचाल के भी हो और गम्भीर भावो को प्रकट करने वाले भी हो। इन दो परस्पर विरोधी जैसी विशेषताओ को समन्वित करना कितना कठिन है, यह ससार के नाट्य साहित्य पर दृष्टि डालने से सहज ही स्पष्ट होता है। बहुत-से नाटक सवाद रचना की इस जटिलता के कारण ही असफल और प्रभावहीन होते हैं।

किन्तु नाटकीय सवादो की समस्या इतने से ही हल नही होती। दो-तीन या चार घटे तक धैर्यपूर्वक कोई दर्शक नाटक को सुनता और देखता रहे, इसके लिए यह अत्यन्त ही आवश्यक है कि सवादो मे बोधगम्यता के साथ आतरिक सगीत, सौष्ठव और काव्य भी हो, उक्ति और भाव की ऐसी चमक हो जो सहज स्वाभाविक होकर भी मन को बाँधे रक्खे। नाटक मूलत काव्य ही है। और ससार के समस्त श्रेष्ठ नाट्य साहित्य की भाषा मे काव्य की-सी गहन व्यजना और चमक अनिवार्य रूप से होती है। नाटक की भाषा एक विशेष प्रकार के काव्य की भाषा है, जिसका व्यजनापूर्ण, भावगर्भित और उद्दीप्त होना एकदम अनिवार्य है। आधु-

निक युग म तथाकथित यथार्थवाद के भ्रामक प्रभाव मे बहुत-से नाटककार नाटकीय सवाद के इस पक्ष की उपेक्षा करके अपनी रचनाओं को एकदम नीरस, प्रभावहीन और महत्त्वशून्य बना लेते हैं। बहुत-से नाटककार तो छदोबद्ध काव्य नाटक भी बडी फीकी बरग और आवेगहीन भाषा मे लिखते हैं। वास्तव मे काव्यात्मकता भावा अनुभूतिया और अभिव्यक्ति की सघनता, सार्थकता और महत्त्व, नाटक के आवश्यक गुण है। आज भी ससार का श्रेष्ठतम नाटक साहित्य काव्यात्मक ही है। आधुनिक युग मे, शुष्क गद्यात्मकता के बाद अब नाटक के काव्यत्व की ससार भर म फिर से स्थापना हो रही है। इसलिए नाटकीय सवादो के ऊपर विचार म उनके काव्यात्मक, गुणो की, सगीत लय और भाषा की चमक की, उपेक्षा करना घातक है।

रचना सम्बन्धी अन्य तत्त्व है दृश्यात्मक परिकल्पना। पिछले समस्त विवेचन की आधारभूत मान्यता ही यह रही है कि प्रदर्शन से अलग नाटक की स्थिति ही सभव नही। इसीलिए प्रत्येक नाटक का एक दृश्य-परिवेश होता है जिसम नाटककार अपने पात्रो को जीते और कार्य करते देखता और दिखाता है। दृश्य-तत्त्व मूलत पात्रो की पृष्ठभूमि तथा प्रत्यक्ष कार्य-व्यापार का दृश्य रूप ही है। सवाद और कथानक एक प्रकार से नाटक का ढाँचा ही प्रस्तुत करते हैं, उसका रक्त और मास उसका वास्तविक देह-रूप, उसके प्रदर्शन मे ही दृश्य-तत्त्व द्वारा प्राप्त होता है। वह दृश्य-तत्त्व ही नाटक का अपना वैशिष्ट्य है जो उसे कलात्मक अभिव्यक्ति की अन्य विधाओ म अलग करता है। इसके एक प्रकार स दो पक्ष है एक तो वह जिसका ऊपर उल्लेख किया गया, अर्थात् पात्रो, कथानक और सवादो का दृश्य कलेवर, अभिनीत प्रदर्शित रूप। इसके अतिरिक्त एक दूसरा पक्ष भी है जिसे दृश्य-बध (सैटिंग) कहते हैं। ससार के प्राचीन नाटको म इसका अधिक महत्त्व नही था और उन दिनो दृश्य-सज्जा के लिए न तो पृष्ठभूमि मे, न पात्रों द्वारा ही, विशेष उपकरणो का उपयोग होता था। पिछले डेढ-दो सौ वर्षों म क्रमश दृश्य सज्जा का उपयोग और महत्त्व बहुत बढ गया, यद्यपि नवीनतम प्रवृत्तिया के अनुसार अधिकाश नाट्य चिन्तक, नाटककार, निर्देशक और अभिनेता, इसको इतना महत्त्व देने के पक्ष म नही है कि बाह्य टीमटाम और उपकरणों और यात्रिक चमत्कार पर अधिक बल पडे और मूल विषयवस्तु और नाटक गौण हो जाये। फिर भी नाटक के एक सतुलित और प्रभावोत्पादक आवश्यक परिवेश के रूप मे दृश्य-सज्जा आधुनिक नाटक का महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य अग है।

यह तो स्पष्ट है कि यहाँ नाटक के उस अत्यन्त मूलभूत स्वरूप और धर्म मे सगठित उन तत्त्वों को परिभाषित करने का प्रयास किया गया है, जिनको अलग अलग तथा समग्र समझे बिना नाटक-सबधी कोई विवेचन या चिन्तन यथार्थ नही हो सकता। यह प्रयास निस्सदेह हिंदी की साहित्यिक शास्त्रीय परिपाटी से

भिन्न है और उसमे ऐसे तत्वो पर बल है जो नाटक की विधा के मूल व्यावहारिक पक्ष को प्रगट करते हैं। वास्तव मे नाट्य चिंतन को भ्रामक और सर्वथा अपर्याप्त और अवातर शास्त्रीयता से मुक्त करके उसे रगमच और उसकी तात्कालिक तथा मूलभूत आवश्यकताओ के समीप लाने तथा देश के, विशेषकर हिन्दी के, रगमच के लिए अधिक उपयोगी बनाने की दृष्टि से ऐसा विवेचन नितान्त आवश्यक है। जब तक हिन्दी नाटक के अध्येता नाटक को एक क्रियात्मक कला के रूप मे, उसे अभिनय प्रदर्शन तथा दर्शक-वर्ग से प्रत्यक्षत सबद्ध अभिव्यक्ति माध्यम के रूप मे, नही समझेंगे, तब तक हिन्दी के साहित्यकार और रगकर्मी के बीच, नाटककार और रगमच के बीच, तथा साहित्य और रगकला के बीच की वर्तमान दूरी कम नही हो सकेगी। किसी भी सशक्त कलात्मक रगमच के विकास की यह सर्वथा तात्कालिक और अनिवार्य आवश्यकता है। इस प्रारभिक विवेचन के बाद अब सर्जनात्मक कार्य के रूप मे नाटक के विभिन्न पक्षो और तत्वो का अधिक सूक्ष्मता और गहराई से विश्लेषण किया जा सकता है।

नाटक की रचना प्रक्रिया और अभिनेयता

नाटक साहित्य की प्राचीनतम विधाओं में से एक है, बल्कि प्राचीन युगों में तो नाटक साहित्यिक अभिव्यक्ति का सर्वप्रमुख माध्यम रहा है। विश्व साहित्य में काव्य के बाद नाटक की परंपरा ही सबसे दीर्घ और समृद्ध है। फिर भी यह बात असंदिग्ध है कि संसार की किसी भी भाषा में आज श्रेष्ठ नाटक अधिक संख्या में नहीं लिखे जा रहे हैं। सोफोक्लीज़, शेक्सपियर अथवा इब्सन के युग में नाटक जिस प्रकार महत्त्वपूर्ण अनुभूति की अभिव्यक्ति का सर्वोत्कृष्ट माध्यम था, वैसा आज नहीं रहा, यद्यपि योरपीय अमरीकी नाट्य परंपरा इतनी दीर्घ और सशक्त है कि अभिव्यक्ति के प्रभावशाली माध्यम के रूप में नाटक की अधिक उपेक्षा वहाँ संभव नहीं।

किंतु इसके अतिरिक्त भी नाटक लिखे जाने के लिए एक अन्य प्रबल दबाव पश्चिमी देशों के लेखक के ऊपर है—रंगमंच। विकसित, व्यापक और शक्तिशाली पश्चिमी रंगमंच की अपनी निजी गति और प्रेरणा के कारण भी वहाँ भले-बुरे नाटकों की निरंतर रचना अनिवार्य रहती है। वास्तव में रचना प्रक्रिया के ऊपर शिल्पीय परिस्थिति का ऐसा दबाव शायद अन्य किसी लेखन विधा पर नहीं होता। इसी से जिस प्रकार रंगमंच को जीवित और सक्रिय रखने के लिए नाटक की निरंतर रचना होती है, उसी प्रकार रंगमंच सजीव होने से समर्थ लेखक नाटक को अपनी अनुभूति के व्यापक और विस्तृत संप्रेषण का माध्यम पाता है और सहज ही उसका उपयोग करने को उन्मुख होता है। रंगमंच सक्रिय होने से लेखक का नाट्यात्मक अनुभूति से निरंतर साक्षात्कार होता रहता है जिससे नाटककार के रूप में उसके सर्जनात्मक व्यक्तित्व के निर्माण और विकास में सहायता मिलती है। इस अनुकूल परिस्थिति के बावजूद पश्चिमी देशों में भी आज व्यावसायिक या पत्रकारी ढंग के चलताऊ नाटक ही अधिक लिखे जाते हैं जिनके द्वारा मनोरंजन-व्यवसाय का उद्देश्य भले ही पूरा होता हो, किसी प्रकार की कलात्मक उपलब्धि नहीं होती।`

ऐसी स्थिति में इस बात में बहुत अधिक विवाद की संभावना नहीं होनी चाहिए कि भारतीय भाषाओं में श्रेष्ठ साहित्यिक नाटकों की बहुत कमी है और आजकल तो बहुत कम ही महत्त्वपूर्ण नाटक लिखे जा रहे हैं। हिन्दी की सर्जना-

त्मक साहित्यिक विधाओं मे नाटक ही सबसे दुर्बल और उपेक्षित रहा है और आज भी है। हमारे प्रतिष्ठित अथवा नवोदित प्रतिभाशाली लेखको मे से बहुत कम ही नाटक को अपनी आत्माभिव्यक्ति का माध्यम बनाते है या बना पाते हैं। पिछले दस-पन्द्रह वर्षों मे चार-छह अपवादो को छोडकर, महत्वपूर्ण सार्थक अनुभूति को अभिव्यक्त करने वाली रचनाओं के रूप मे नाटक बहुत कम लिखे गये हैं। इस अवधि म लिखे गये अधिकाश नाटक या तो परीक्षोपयोगी हैं या किसी न किसी रूप मे किसी शौकिया नाटक मडली की तात्कालिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए लिखे गये और उसी के उपयुक्त हैं, या फिर भले-बुरे सवादात्मक उपन्यास मात्र हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो नाटक तो है पर जिनमे अभिव्यक्त अनुभूति छिछली, सतही अथवा सर्वथा अप्रामाणिक, और मिथ्या भावुकता से आक्रात है। साधारणत हिन्दी के नाट्य साहित्य का कलात्मक-साहित्यिक स्तर सभी प्रकार से,अनुभूति के गुण, उसकी सच्चाई और उसकी अभिव्यक्ति, शिल्प, आदि की दृष्टियो से, उसके काव्य या कथा साहित्य से भी कही घटिया है।

निस्सदेह नाटक की इस स्थिति के कई प्रकार के कारण है जिनमे से कुछेक बाह्य परिस्थितियो से जुडे हैं और कुछ नाटक की विशिष्ट रचना प्रक्रिया और उसके सबध मे हिंदी लेखक की मान्यताओ से। एक अत्यत सुपरिचित और सामान्य कारण यही है कि ससार की अन्य प्रत्येक भाषा के लेखक की भाँति हिंदी लेखक भी साहित्यिक अभिव्यक्ति की अन्य विधाओ की ओर अधिक स्वाभाविक रूप से आकर्षित होता है, क्योकि वे उसकी अनुभूति को पर्याप्त प्रखरता और सहजता से अभिव्यक्त भी करती हैं और युगानुकूल भी हैं। कविता, उपन्यास, कहानी आदि अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय हैं, उनकी माँग कही अधिक है, उनके माध्यम से पाठक तक सीधे पहुँचना अधिक सहज और सुलभ है। इसके विपरीत नाटक साहित्य की सबसे कठिन विधा है, उसके लिए प्रकाशक सहज ही नही मिलता, और नाटककार एक अन्य कलात्मक विधा, अभिनय प्रदर्शन के माध्यम से ही अपने पाठक या दर्शक वृन्द तक पहुँच सकता है सीधे नही। इस कारण बहुत-से लेखक नाटक की ओर उन्मुख ही नही होते।

दूसरी बडी स्पष्ट-सी कठिनाई है रगमच का अभाव। हिंदी मे रगमच नही है, या नही के बराबर है। इस कारण न तो नाटक की माँग ही पर्याप्त मात्रा मे होती है न उसे लिखने की कोई प्रेरणा ही। लेखक के सर्जनात्मक व्यक्तित्व का नाट्यानुभूति से, उसके विशिष्ट रगमचीय आयाम से, कोई साक्षात्कार ही नही होता। और न उसे रगशिल्प का पर्याप्त अनुभव ही हो पाता है कि वह सफल रगमचोपयोगी नाटक लिख सके। साधारणत रगमच के अभाव का एक अर्थ या परिणाम यह माना जाता है, और शायद है भी, कि हिंदी का नाटककार प्रदर्शन और अभिनय की विशेष समस्याओं और आवश्यकताओ से परिचित

नहीं, वह नहीं जानता कि कैसे अको-दृश्यों का विभाजन होना चाहिए, कैसे पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान का नाटकीय उपयोग करना चाहिए, कैसे सवादों को अधिक चमत्कारिक और नाटकीय बनाना चाहिए, कैसे चरित्रों को, उनकी बातचीत, उनकी गतिविधि इत्यादि को, बल्कि समस्त घटनावली को, सयोजित करना चाहिए। सक्षेप मे, रगमच के अभाव मे नाटक के बाह्य स्वरूप और उसकी रचना के शिल्प से हिंदी लेखक अधिक परिचित नहीं। यह कथन, और नाटक रचना पर इस परिस्थिति का प्रभाव, स्पष्ट और स्वत सिद्ध है और नाटक की रचना *प्रक्रिया की विशिष्ट शिल्प-सबधी जटिलताओं और उलझनों का विश्लेषण आगे किया जायगा।*

किन्तु वास्तव म नाटको के अभाव अथवा उनकी कलात्मक दुर्बलता का यह बड़ा ही गौण और सीमित पक्ष है। पारसी रगमच के नाटकों म, आगा हश्र और राधेश्याम कथावाचक के नाटको मे, ये सब गुण मौजूद हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क के कई नाटको मे आज भी रगमचोपयुक्तता या अभिनयता बहुत कम नहीं, पृथ्वी थिएटर के सब नाटक रगमच पर बड़ी सफलता से खेले जाते थे। आजकल प्रत्येक शहर मे स्थानीय शौकिया नाटक मडलियो के लिए प्राय नाटक लिखे और स्थानीय स्तर पर सफलतापूर्वक खेले जाते हैं, और हिंदी में ऐसे भी नाटक हैं जिनमें रग-*मचीय शिल्प की बहुत गहरी और विस्तृत जानकारी झलकती है।* पर इन सभी नाटको मे प्राय कलात्मक चेतना और अनुभूति की ऐसी दुर्बलता और क्षीणता है कि वे किसी महत्त्वपूर्ण और सार्थक स्तर तक नहीं उठ पाते। उनका प्राय वही दर्जा है जो समाचार-पत्र के सपादकीय का, या 'माया' 'मनोहर कहानियाँ' जैसी पत्रिकाओ मे निकलने वाली कहानियो का, तथा अन्य सैकड़ो उपन्यासो का होता है। दूसरी ओर, रगमच से घनिष्ठ सपर्क के अभाव मे भी 'आषाढ का एक दिन', 'अधा युग', जैसे नाटक लिखे जाते हैं जिनमें किसी न किसी मात्रा मे वह तत्त्व *वर्तमान हैं जो किसी रचना को सार्थक और श्रेष्ठ बनाता है।*

रगमच के अभाव को लेकर एक और बात भी, प्राय नाटककारों द्वारा, कही जाती है। वह यह कि हिन्दी के शौकिया अभिनेताओं, निर्देशकों और नाटक मडलियों द्वारा प्राय अच्छे से अच्छे नाटक की हत्या होती रहती है। उन्हें न तो नाटक की समझ ही होती है न उनमें पर्याप्त गभीरता ही। वे आम प्रदर्शन के लिए नाटक करते हैं। उनमें कलात्मक बोध नहीं होता, और न अच्छे नाटक को समझने और उसका समुचित अभ्यास करके खेलने का धीरज ही। ऐसी स्थिति में कोई नाटककार क्यों नाटक लिखे और अच्छे नाटक को समझनेवाला ही कौन है, कम से कम उसे खेलने वाले तो नहीं ही हैं। इस कथन में भी सत्य का बस थोड़ा-सा ही अश है और उसका नाटकों के अभाव से या उनकी रचनागत दुर्बलता से अधिक सबध नहीं। कोई कवि या उपन्यासकार इस बात की तनिक भी

परवाह नहीं करता कि कौन-सी स्तर का पाठक उन्हें पढ़ेगा या किस कोटि का समालोचक उसकी समीक्षा करेगा। कम से कम यह चिन्ता उसकी रचना प्रक्रिया को नहीं प्रभावित करती क्योंकि कहीं न कहीं अपने भीतर उसे यह विश्वास रहता है कि प्रत्येक श्रेष्ठ रचना एक हद तक अपना उपयुक्त पाठक अंततः अपने आप ही पा जाती है और दूसरी ओर वह साधारण पाठक को क्रमशः अपने स्तर तक उठाने में सहायक होती है। नाटक भी इसका अपवाद नहीं।

वास्तव में नाटक के अभाव की समस्या की जड़ें और भी गहरी तथा उलझी हुई हैं और उनके सूत्र नाटक की रचना प्रक्रिया में ही खोजना उचित है। साहित्यिक अभिव्यक्ति की एक विधा के रूप में अनुभूति और शिल्प दोनों ही स्तरों पर सामान्य साहित्य के साथ उसकी समानताएँ और अलग विशिष्टताएँ दोनों ही महत्वपूर्ण हैं जिन पर समग्र रूप में ध्यान दिया जाना चाहिए।

इस बात पर आज बहुत जोर देने की आवश्यकता है कि नाटक मूलतः काव्य का ही एक प्रकार है जिसमें सार्थक और महत्त्वपूर्ण अनुभूति की सूक्ष्म, संवेदनशील और गहन अभिव्यक्ति की आवश्यकता है, निरी रोचक अथवा सनसनीपूर्ण, स्थूल और तथाकथित 'नाटकीय' घटनाओं के समाचारपत्रीय रिपोर्ताज जैसे चित्रण की नहीं। नाटक को प्रायः हम जीवन के ऐसे दैनन्दिन, लगभग महत्वहीन, कार्य-व्यापार तथा घटनाओं से संबंधित मानते हैं जिनमें बाह्य क्रिया की बहुलता हो। नाटक को हम कविता से यथासंभव दूर रखना उचित समझते हैं क्योंकि शायद हमारे लिए वह निरा मनोरंजन का साधन मात्र है कोई कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं। किन्तु वास्तव में नाट्यात्मक अनुभूति एक विशेष प्रकार की तीव्रतम काव्यात्मक अनुभूति ही है जिसमें संवेदनाओं, भावों और विचारों के अधिक प्रत्यक्ष और दृश्य रूपों का संयोजन होता है। नाट्यात्मक अनुभूति के केवल उपादान ही भिन्न होते हैं, उसका मौलिक स्वरूप तो काव्यात्मक अनुभूति की भाँति ही चेतना के गहनतर स्तरों से जुड़ा होना आवश्यक है। उसमें बाह्य यथार्थ नहीं, आत्मा के यथार्थ की, किसी निष्ठा की, किसी स्वप्न की अथवा किसी गहरे स्तर पर उसकी अस्वीकृति की, अभिव्यक्ति होनी चाहिए। नाटक में जीवन का सघनीभूत क्षण होता है और यथार्थ का सघनीकरण और सार्वकीकरण हुए बिना उसे नाटक में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। काव्य की भाँति ही नाटक के लिए अनुभूति की सचाई, उसकी प्रामाणिकता, सर्वथा अनिवार्य है, नाटक में भी वास्तविक अनुभूति चाहिए, अनुभूति के आभास से काम नहीं चल सकता। साथ ही उस अनुभूति में इतनी स्पष्टता, तीव्रता, प्रखरता और अन्विति अनिवार्य है कि नाटक के विशिष्ट रूप में भली भाँति व्यक्त हो सके। हमारे देश में आधुनिक नाटक की बहुत-सी दुर्बलता का कारण उसका जीवन की गहन अनुभूति से विच्छिन्न हो जाना ही है। बहुत-से नाटक ठीक उन्हीं कारणों से

दुर्बल और क्षीण और महत्त्वहीन होने हैं जिनसे बहुत से गीत काव्यहीन या बहुत-सी कहानियाँ बचकानी और निरर्थक होती हैं। काव्य के साथ नाटक के इस सबध की पहचान नाटक के विकास के लिए अत्यत आवश्यक है।

यह बात ध्यान देने की है कि अपनी प्राचीन नाट्य परपरा के बावजूद हिंदी म हम यह बात शायद एकदम भूल गये हैं। हमारी नाट्य चेतना प्राय योरपीय यथार्थवाद के ह्रास के काल की चेतना है। उसम जीवन के स्वत स्फूर्त, भावसकुल, गहन रूप पर नही, उसके क्षुद्र, कृत्रिम और बाह्य रूप पर—प्राय उसके विकृति प्राप्त, घृणित रूप पर—अधिक बल है। जयशकर प्रसाद के बाद का हिंदी नाटक एक ओर तो काव्य से, काव्यात्मकता से, जीवन की गहन और सघन अनुभूति से, विच्छिन्न होकर शुष्कता, निरर्थकता और क्षुद्रता की बजर भूमि म जा पडा। दूसरी ओर, वह छायावादी युग की अशरीरी भावुकता, हवाई कल्पना और शब्दमोह मे उलझ गया। हिंदी के अधिकाश नाटक काल्पनिक चरित्रो, घटनाओ, स्थितियो और उनके अस्वाभाविक भावुकतापूर्ण इच्छित विश्लेषणो से दबे हुए हैं। *उनका यथार्थवाद भी अयथार्थ और काल्पनिक है,* उनम यथार्थ को बौद्धिक जागरूकता और कलात्मक निर्ममता से, स्पष्टता से, देखने और रूपायित कर सकने की क्षमता भी नही है कि वे एक आयामी स्तर पर ही सही, किसी सत्य का उद्घाटन कर सकें।

एक प्रकार से हिंदी के समस्त सर्जनात्मक साहित्य को इसी मिथ्या भावुकता और कल्पना विलासिता ने जकड रखा है। उसम साधारणत वास्तविक अनुभूति की तीव्रता और व्यापकता का, तथा उसे देखने मे कलाकार की तटस्थता का, आश्चर्यकारी अभाव है। इसका नवीनतम प्रमाण हमारा सकटकालीन युद्धसबधी साहित्य है जो शब्दाडबर, मिथ्या भावातिरेक, स्फीति और किशोर-सुलभ आत्मवचना की दृष्टि से बेजोड है। कई बार लगता है कि हमारी कविता अनुभूति से नहीं दूसरी कविताओ से प्रेरित है, दुहेजू तिहेजू है। इसीलिए उसमें प्राय कुछ न कुछ चमत्कार तो होता है, पर किसी अभिव्यक्ति की, किसी भावानुभूति या सौंदर्यानुभूति की छाप नहीं होती। इसी के समानान्तर हमारे अधिकाश कथा साहित्य म भी एक प्रकार का भावाभास है, जिये जाने वाले जीवन को देख सकने, सहन कर सकने की क्षमता का अभाव है। इससे हमारी चेतना या तो क्षुद्र विस्तार की बातो म उलझी रह जाती है, या यथार्थ के बडे गुहावने और मनभावन, या तीखे और घिनौने, पर हर हालत म इच्छित और इसीलिए अधिकाशत मिथ्या चित्र बुनने लगती है, जो किसी गहरी पीडा या करुणा की बजाय दयनीयता या आत्मग्लानि से अधिक कुछ नहीं व्यक्त कर पाते। पर फिर भी इन साहित्य विधाओ म चेतना का यह सतही रूप इतना नहीं अखरता कि हम निरी व्यर्थता का ही अनुभव करें, चाहे वह उन कृतियो की उपलब्धि के किसी ऊँचे

शिखर तक न उठने देता हो। काव्य के शाब्दिक संगीत और लय से, चमत्कारिक कल्पना जाल, अस्पष्ट रहस्याभास और एक प्रकार की व्यंजकता से, पाठक सीधे ही प्रभावित हो पाता है। कथा साहित्य में भी वातावरण के निर्माण, सूक्ष्म और व्यंजक वर्णन और विश्लेषण आदि के द्वारा अनुभूति या भाव के हलकेपन की क्षतिपूर्ति थोड़ी-बहुत हो ही जाती है, या कम से कम उनका अभाव इतनी तीव्रता से नहीं महसूस होता।

पर नाटक में अनुभूति, भाव या विचार का हलकापन, चरित्रों या घटनाओं का भावुकतापूर्ण इच्छित विन्यास, या संवादों में शब्दातिरेक या शब्दमोह, रंगमंच पर पहुँचते ही तुरत प्रकट हो जाता है और इसलिए उचित ही हर गंभीर रंगधर्मी ऐसे नाटकों को छूते घबराता है। नाटक में हर भाव, विचार, पात्र, स्थिति और वातावरण ऐसा होना आवश्यक है कि वह मूर्त और रूपायित हो सके, तभी वह रंगमंच पर काम आ सकता है और दर्शक-वर्ग तक पहुँच सकता है। नाटक एक अन्य कला विधा, अभिनय-प्रदर्शन के माध्यम से, जीवित अभिनेताओं के माध्यम से, अपनी चरम परिणति पाता है। इस कारण नाटक की समस्त दुर्बलताएँ रंगमंच पर मूर्त और रूपायित होने की प्रक्रिया में, बल्कि उसकी तैयारी में ही उजागर होने लगती हैं। इसीलिए नाटक रचना में अनुभूति की वास्तविकता के साथ साथ उसकी तीव्रता और प्रखरता की भी अनिवार्य आवश्यकता है, तभी वह नाटक की सीमित अथच और जटिल शिल्प-पद्धति में एकाग्रता और स्पष्टता के साथ अभिव्यक्त हो सकती है।

हिंदी के नये-पुराने नाटकों में से भावुकता के, छिछली भावधारा के बेशुमार उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। लक्ष्मी नारायण मिश्र प्रसाद पर रोमैंटिक होने का आरोप लगाते हुए बड़े जोर-शोर से बुद्धिवादी होने का दावा करते हैं, फिर भी उनके नाटकों में शायद ही कोई ऐसी घटना, स्थिति या पात्र हो जो मूलतः आंतरिक मानसिक संगतियुक्त हो या निरे इच्छित काल्पनिक भावुकतापूर्ण कारणों से उसका परिचालन न होता हो। इसी से वे पढ़ने ही में अविश्वसनीय लगते हैं, उनको रंगमंच पर तो एक क्षण के लिए नहीं टिकाये रखा जा सकता है। नये नाटककारों में भी अश्क के 'अलग अलग रास्ते' में मुख्य पात्री रानी अपने पति के स्वार्थी और धनलोभी होने के कारण उससे अप्रसन्न है, इसलिए वह पिता के घर लौट आती है और वापिस जाना नहीं चाहती। पर वह स्वयं भी किसी अधिक गहरी संवेदना से, किसी सशक्त बौद्धिक या भावनात्मक आदर्श या लक्ष्य से प्रेरित नहीं है, उसका निश्चय किसी गहरी मानसिक उथल-पुथल का परिणाम नहीं। इसीलिए अंत में वह अपने भाई पूरन के भरोसे पिता के घर से चल पड़ती है, स्वार्थी पति से खीझकर निकम्मे बातूनी भाई का आसरा लेकर! स्वयं पूरन का चरित्र भी व्यर्थता और थोथे शब्दजाल का उदाहरण है। चंद्रगुप्त

विद्यालंकार के नाटक 'न्याय की रात' में अनाथ शरणार्थी लड़की अपनी मेहनत से संघर्ष करके एम० ए० पास करती है, पर वह इतनी भोली और विश्वासशील है कि महीनों तक सदानंद-जैसे भ्रष्ट, लंपट और तिकड़मी अफसर की निजी सहायक रह कर भी, उस पर पिता की भाँति श्रद्धा और विश्वास करती है, और कुछ भी संदेह उसे नहीं होता। स्वयं सदानंद अंतर्द्वन्द्व के बहाने जिस प्रकार का भावुकतापूर्ण व्यवहार करता है वह मिथ्या ही लगता है। नरेश मेहता के 'खंडित यात्राएँ' में प्रायः सभी पात्रों और स्थितियों में सतहीपन और भावस्फीति मौजूद है। लक्ष्मीनारायण लाल के 'रातरानी' में कुंतल और जयदेव के परस्पर संबंध और विभिन्न बाह्य परिस्थितियों के प्रति उनकी प्रतिक्रिया, नाटक की चरम परिणति आदि, सभी कुछ अत्यंत भावुकतापूर्ण और काल्पनिक लगता है, किसी गहरी और प्रखर तथा स्पष्ट अनुभूति से अनुप्राणित नहीं। कमलेश्वर के 'अधूरी आवाज़' के दूसरे-तीसरे अंकों की घटनाएँ बनावटी, आरोपित और बेहद सतही हैं और पहले अंक में जो संभावनाएँ प्रगट होती हैं वे एकदम अविश्वसनीय स्थितियों और भावदशाओं में खो जाती हैं।

संभवतः कहानी के रूप में उपरोक्त सभी कृतियाँ किसी न किसी सीमा तक स्वीकृत हो सकती, यद्यपि यह निश्चित है कि उनके आधार पर कोई तीव्र और सार्थक भावानुभूति की कहानी नहीं हो सकती। पर नाटक में प्रखरता की कमी तुरंत ऐसा ढीलापन पैदा करती है कि वह एकदम बिखर जाता है। इसीलिए नाटक में निरे बाहरी या ऊपरी या बासी अनुभव या अवलोकन मात्र से काम नहीं चलता। श्रेष्ठ नाट्य रचना के लिए जीवन के अनुभूति-स्रोतों तक जाना आवश्यक है। नाटककार में अपने भीतर और बाहर दोनों ही ओर तीखना और व्यक्तिमत्ता से देख सकने की सामर्थ्य चाहिए, उसके लिए भावना और चिंतन में दोनों जड़ता से, रूढ़ता से, बचने की बड़ी भारी अनिवार्यता है।

नाटक की इस आवश्यकता का एक और भी कारण है। नाटक काव्य तो है, पर वह दृश्य काव्य है। नाट्यात्मक अनुभूति एक विशेष प्रकार की, काव्यात्मक अनुभूति है। नाट्यात्मक अनुभूति में जीवन की प्रवहमानता की, गति की बनना की, प्रधानता होती है, वह 'है' से अधिक 'होने' से संबद्ध है। नाटककार की इसी से सदा गतिमान मानवीय दृश्य की पकड़ होनी चाहिए, वह दृश्य चाहे फिर व्यक्तिगत हो चाहे सामूहिक। भाव, विचार या स्थिति का कोई एक स्थिर बिंदु कथा के लिए पर्याप्त हो सके, नाटक में कहीं से उस बिंदु तक, या उस बिंदु से कहीं या किसी और बिंदु तक, गति आवश्यक है। यही नाट्य व्यापार है। इसका बाह्य घटनात्मक होना अनिवार्य या आवश्यक नहीं, आंतरिक जीवन या भावदशाओं की गति और परिणति ही मुख्य है। जिन युगों या परिस्थितियों में तीव्र भावान्दोलन और सामाजिक तथा व्यक्तिगत उथल-पुथल सहज और

स्वाभाविक होती है, वे इसी कारण नाटक के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं, क्योंकि उन परिस्थितियो म आतरिक जीवन की गति अपने आप ही सहज दीखती है और वह इतने सरल रूप म बाह्य घटनाओ के सघात से जुडी हुई भी होती है।

इससे भी यह निष्कर्ष नही निकालना चाहिए कि तीव्र उथल-पुथल के बिना नाटक नाटक नही होता, तीव्र उथल-पुथल की अवस्था मे प्राय भावो और विचारो तथा परिस्थितियो की गति सहज ही दृष्टिगोचर होती है जो नाटक के लिए आवश्यक है। बहुत बार नाट्यात्मक अनुभूति की इस विशिष्टता पर या तो हमारा ध्यान नही जाता या हम उसकी भ्रामक परिकल्पना से आक्रात रहते हैं। फलस्वरूप या तो नाटको मे अनगिनत घटनाओ और अतिनाटकीय स्थितियो की भरमार रहती है और व्यक्ति के आतरिक जीवन के विक्षोभ और हलचल का कुछ पता नही चलता, या फिर उनमे निरी बौद्धिक ऊहापोह, वाद विवाद या विश्लेषण की प्रधानता रहती है, भावो, विचारो और सवेदनाओ के आधार *व्यक्तियो के सही और जीवत रूप का कुछ पता नही चलता, उनके परस्पर सबधो* मे कोई अनिवार्यता नही उभरती और इस कारण समस्त विश्लेषण और चर्चा निष्प्राण और गतिहीन जान पडती है। नाटक मे एक साथ ही जीवन के वैयक्तिक और सामाजिक दोनो पक्षो की भाव प्रतिक्रियाओ की अभिव्यक्ति होती है, क्योकि वह अमूर्त विश्लेषण नही, जीवत और मूर्तिमान व्यक्तियो की वास्तविक प्रतिक्रियाओ के माध्यम से ही सप्रेषित होता है।

नाटक के इस सामाजिक अथवा सामूहिक पक्ष पर कुछ और अधिक विस्तार से विचार उपयोगी होगा, क्योकि एक स्तर पर आकर उसका नाटक की रचना प्रक्रिया से गहरा सबध है।

एक प्रकार से नाट्यानुभूति के स्वरूप मे ही एक प्रकार का सामूहिक तत्त्व निहित है। नाटक का कथ्य चाहे कितना ही व्यक्तिगत हो, उसे एक से अधिक व्यक्तियो, पात्रो, चरित्रो अथवा एक ही चरित्र के एकाधिक व्यक्तियो और उन के सघात के ही रूप मे ग्रहण कर सकना आवश्यक होता है। प्राचीन यूनानी नाटक मे प्रारम्भ मे कोरस और एक ही अभिनेता होता था, फिर हेस्किलस ने दूसरा और सोफोक्लीज ने तीसरा अभिनेता जोडा और इस प्रकार नाटक एक ही चरित्र के आत्मनिवेदन से आगे बढकर विभिन्न व्यक्तियो के, और उनके माध्यम से जीवन की विभिन्न शक्तियो के, सघात और सघर्ष की अभिव्यक्ति बना। नाट्यानुभूति मूलत एक भाव रूप नही हो सकती, वह अनिवार्यत एकाधिक भावो के, विचारो के, स्थितियो और व्यक्तियो के परस्पर सघात के ही रूप मे हो सकती है। इसी कारण जब-जब भी मनुष्य अपने भीतर और बाहर इस सघात को, ऐसे कार्य-व्यापार को देखने की स्थिति मे होता है, तभी नाटक सहज ही उसकी रचनात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाता है।

नाटक 'आत्म' से बाहर के जगत से सघात द्वारा आत्मोद्घाटन और आत्मप्रतीति का साधन है। नाटककार को किसी न किसी स्तर पर जीवन-व्यापार से सलग्न, सयुक्त या उसमे डूबा हुआ होना चाहिए। सामाजिक सबधो का रूप, उनका दबाव और उनका तनाव उसके लिए वास्तविक होना चाहिए, अन्यथा वह अपनी अनुभूति को नाटक का रूप न दे सकेगा, बल्कि उसकी अनुभूति कभी नाट्यात्मक रूप ही न ले सकेगी।

यही कारण है कि नाटक मे प्राय किसी युग के जीवन म अभिव्यक्त सामाजिक सबधो और उनसे प्रकट होने वाले मूल्यों और मान्यताओ का दर्शन होता है। विशुद्ध से विशुद्ध और व्यक्तिगत रूप मे भी नाटक पारस्परिक सबधो और उनके मूल्या पर किसी न किसी प्रकार की टिप्पणी हुए बिना नही रह सकता। इसका यह अभिप्राय नही कि नाटक का सदा सोद्देश्य और विचारधारा-परक होना अनिवार्य है। पर नाटक किसी न किसी स्तर पर लेखक के जीवन के साथ उलभाव को अवश्य ही प्रकट करता है। इसीलिए जो नाटककार सामाजिक या सामूहिक सबधो का तीव्रता, सघनता और गहराई के साथ साक्षात्कार करता होगा, वही अपने नाटका मे और उसी स्तर तक, गहराई और तीव्रता ला सकेगा। निरे भावोच्छवास से नाटक नही बन सकता, भाव विशेष के सामूहिक रूप की प्रतीति उसके नाटक मे अभिव्यक्त होने के लिए आवश्यक है।

नाट्यानुभूति के इस सामूहिक तत्त्व के कारण ही ससार के नाट्य साहित्य का बडा भारी भाग धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक समस्याओ को लेकर लिखा गया है और नाटक बहुत सहज ही किसी सामूहिक आन्दोलन का अग और साधन बन जाता है। देश की सभी आधुनिक भाषाओ के नाटक का राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन मे योग इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। बहुत-कुछ नाटक के इस 'अ-व्यक्तिगत' अथवा 'सामूहिक' रूप के कारण भी प्राय वह बाह्य और ऊपरी बातो और विस्तार म उलझ जाता है और किसी आतरिक अनुभूति या भावोपलब्धि से उसका सबध बडा क्षीण रहता है। पर स्पष्ट ही नाट्यानुभूति या नाटक रूप की यह 'अ-वैयक्तिकता' या 'सामूहिकता' विशेष प्रकार की अ-वैयक्तिकता और सामूहिकता है—रचनाकार के व्यक्तित्व और उसकी अनुभूति का लोप नही, अपने जीवन और परिवेश के साथ उसका एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध और उसका प्रसार या विस्तार। नाट्यानुभूति की इस विशिष्टता का नाटक रचना के शिल्प के साथ भी बडा गहरा सबध है, पर उसकी चर्चा करने से पहले नाटक की सामूहिकता के कुछेक अन्य पक्षो पर विचार कर लेना चाहिए।

अनुभूति के स्तर पर सामूहिक जीवन से सबद्ध होने के साथ-साथ, अपनी अभिव्यक्ति की चरम परिणति के स्तर पर भी, नाटक सामूहिक क्रिया है। नाटक का प्रदर्शन अभिनेता-समूह के द्वारा तथा अन्य रगकर्मियो के सक्रिय रचनात्मक

सहयोग से ही होता है। अभिनय प्रदर्शन के बिना नाटक की सार्थकता अथवा सपूर्णता नही, बल्कि जो अभिनेय नही, अभिनयोपयुक्त नही उसे नाटक ही नही कहा जा सकता। स्पष्ट ही नाटक की अभिनयमूलकता उसे अनिवार्यत एक सामूहिक स्वरूप प्रदान करती है। वही अनुभूति यथार्थ नाट्यात्मक अनुभूति है जो दृश्य हो सके, जो अभिनेताओ द्वारा रूपायित और मूर्त करके व्यक्त की जा सके। अभिनयोपयुक्तता की यह अनिवार्य आवश्यकता है कि अभिनेता नाटक के विभिन्न पात्रो को आत्मसगत और परिस्फुट पायें, जिनके साथ वे अपने भावतत्र को एकाकार कर सके, उनमे न तो स्फीति हो और न ऐसी अस्पष्टता कि उन्हे विश्वसनीय रूप न दिया जा सके, वे ऐसे बनावटी न हो कि अभिनेता उनके रूप मे स्वय को झूठा अनुभव करने लगे, समस्त नाट्य व्यापार मे उनकी इतनी सार्थकता हो कि वे रगमच पर फालतू न अनुभव करें, आदि आदि। नाट्य का कथ्य इतना प्रखर और सुस्पष्ट होता है कि निर्देशक और अभिनेता, चाहे प्रशिक्षण और परिश्रम के बाद ही सही, उसे इस भाँति ग्रहण कर सके कि वह अभिनय प्रदर्शन मे रूपायित हो सके। अपनी पूर्णता के लिए एक अन्य अभिव्यक्ति माध्यम से यह अविभाज्य सबध नाटक को एक विशेष प्रकार की व्यक्तिनिरपेक्षता और वस्तुनिष्ठता और सामूहिकता प्रदान करता है। नाट्यात्मक अनुभूति इतनी सुनिश्चित और व्यापक होती है कि नाटककार के अतिरिक्त अन्य प्रदर्शन अभिनय से सबद्ध सहयोगी भी उसमे सर्जनात्मक स्तर पर सहभागी हो सके। नाटक की अनुभूति और रचना व्यक्तिगत होकर भी ऐसी होती है कि उसमे व्यापक सामूहिक तत्त्व मौजूद हो।

नाट्यात्मक अनुभूति के सामूहिक पक्ष का एक अन्य आत्यतिक स्तर है नाटक का दर्शक-वर्ग के साथ तात्कालिक और अनिवार्य सबध। अभिनयमूलकता के सामूहिक पक्ष से भी अधिक दर्शक-वर्ग से सबध नाटक की रचना प्रक्रिया को कई प्रकार से प्रभावित करता है। कविता और कथा साहित्य के पाठक से भिन्न, नाटक का दर्शक अकेला नही, समूह मे कृति के आस्वादन के लिए उपस्थित होता है, और यह अनिवार्य है कि दो-तीन-चार घटे की सीमित अवधि मे, बिना किसी बडे अतराल के, बिना किसी स्थल पर दोबारा लौट सकने की सभावना के, एक बार मे ही, नाटक की अनुभूति एक समूह को सप्रेषित हो जाए। नाटक व्यक्तिगत अनुभूति की अभिव्यक्ति होकर भी विभिन्न समुदायो और वर्गों के, विभिन्न आयु तथा शिक्षा-दीक्षा वाले, विभिन्न सस्कार, रुचियो और मान्यताओ वाले, स्त्री-पुरुषों को एक साथ उपलब्ध होता है। नाटक का दर्शक-वर्ग के साथ इतना सीधा और तात्कालिक सबध है कि दर्शक-वर्ग नाटक के मूल्याकन का तो सर्वथा अनिवार्य तत्त्व है ही, उसकी रचना मे भी एक स्तर पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन जाता है। यदि दर्शक-वर्ग की चेतना और नाटककार की अनुभूति और उसकी

अभिव्यक्ति के बीच इतना व्यवधान हो कि सप्रेषण ही न हो सके, तो वास्तविक नाटक की सृष्टि सभव नही। दूसरी ओर केवल अथवा मुख्यत दर्शक-वर्ग के इशारा पर चल कर नाटक जीवन की किसी अनन्य अद्वितीय सार्थक अनुभूति का वाहक नही बन सकता। फलत अनुभूति और अभिव्यक्ति मे इतनी निर्ममता और प्रखरता अनिवार्य हो जाती है कि नाटक दर्शकों को मनोरजन की भांति तल्लीन रखकर भी निरा तमाशा न हो, और सस्ती भावुकता के स्तर पर उतरे बिना ही दर्शकों को एक गहरी अनुभूति मे साझीदार बना सके। नाटक मे जीवन का दर्शन ऐसा होता है कि दर्शक-वर्ग भी उसे नाटककार की भांति ही देख पाता है। दर्शक-वर्ग के स्तर पर उतरकर नही, बल्कि उसे नाटक के स्तर तक उठाकर ही नाटककार यह काम पूरा कर सकता है। किंतु इसके लिए भी उस दर्शक-वर्ग के स्तर की पहचान होनी आवश्यक है, समूह के अतर्मन में एक एक ऐसी सहज पैठ आवश्यक है कि वह अपनी अनुभूति को उससे किसी न किसी सामान्य सूत्र स जोड सके।

नाटक की रचना का यह तत्त्व सबसे खतरनाक और बहकाने वाला है। *नाटक समस्त सर्जनात्मक अभिव्यक्तियो मे सबसे अधिक प्रत्यक्ष रूप म मनोरजन है* अथवा माना जाता है। विशुद्ध व्यवसाय के स्तर पर नाटक प्राय निरा मनोरजन ही रह भी जाता है। फलस्वरूप नाटककार भी अपनी अनुभूति के बजाय *निरे मनोरजन पर ही अधिकाधिक ध्यान देने लगता है और नाटक किसी सार्थक* अनुभूति के माध्यम की बजाय, कलात्मक अभिव्यक्ति की बजाय, दिल बहलाव के लिए लिखा जाने लगता है। यह सभावना और दबाव ही नाटककार की *प्रामाणिकता के लिए सबसे बडा फदा है। यह ठीक है कि दर्शक-वर्ग से सीधे* सबध के कारण नाटक मे थोडी सी ऊब के लिए भी गुजाइश नही। पर अभिव्यक्ति की रोचकता और सरसता का, ध्यान को सकेंद्रित कर सकने का, अर्थ *दर्शक-वर्ग की निम्नतम प्रवृत्तियो को उकसाना या उनके विकारो को सहलाना* नही। दर्शक-वर्ग की उपेक्षा करके, उसकी ओर से बेखबर होकर, सफल नाटक नही लिखा जा सकता। पर दर्शक-वर्ग के पीछे दौडकर भी किसी कलात्मक *नाटक की सृष्टि सभव नही। नाटककार के व्यक्तित्व के प्रशिक्षण, और नाटक* रचना के शिल्प के स्तर पर दर्शक-वर्ग की गहरी जानकारी, की अपेक्षा रखते हुए भी, नाट्यात्मक अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति के स्तर पर नाटककार का *सबसे पहले अपने प्रति ईमानदार और प्रामाणिक होना उसके कलाकार होने की* पहली शर्त है। नाटककार की स्थिति की तुलना सभवत ऐसे कवि से की जा सकती है जो किसी कवि-सम्मेलन मे कविता पढने के लिए प्रस्तुत हो पर अन्य *कवि-सम्मेलनी कवियो की भांति श्रोताओं को रिझाने के लिए गलेबाजी या* सस्ती फिकरेबाजी का सहारा लेकर नही, बल्कि अपनी भावानुभूति की प्रब-

लता के आधार पर श्रोताओं को प्रभावित करना चाहे और करने मे सफल हो।

नाटक की रचना का यह पक्ष हमे सीधे उसके रूप और शिल्प तक ले आता है। निस्सदेह नाटक एक जटिल कला रूप है। वह एक साथ ही कई कलाओं का, काव्य, साहित्य, अभिनय, चित्राकन, सगीत आदि का, सगम भी है और अपनी सप्रेषणीयता के लिए कला रूढ़ियो पर आश्रित भी। नाटक मे हर स्तर पर परस्पर विरोधी लगने वाले तत्वो का अनिवार्य समन्वय होता है नाटक म सुनियोजित नाट्यावेश को ऐसे प्रस्तुत किया जाता है कि वह पूर्णत स्वत स्फूर्त जान पड़े, उसम प्रस्तुत जीवन प्रतिनिधिमूलक होते हुए भी विशिष्ट और व्यक्तिगत तथा अद्वितीय हो, व्यक्तिगत अनुभूति की अभिव्यक्ति होकर भी समूह द्वारा मूर्त हो सके, एक नाटक मडली उससे अपने आप को एकाकार कर के उसे प्रक्षेपित कर सके, गहन से गहन अनुभूति भी अधिक से अधिक प्रखरता, सरलता और सक्षेप के साथ कम से कम समय मे व्यक्त ही नही मूर्तिमान हो सके, विभिन कलात्मक, शिल्पगत तथा सगठनात्मक व्यक्तित्वो और सकल्पो को सयोजित भी करे और उनकी अपनी-अपनी विशिष्टता और स्वत स्फूर्तता को सुरक्षित भी रखे। ऐसा बहुविध सगम और सयोग सहज या सुलभ नहीं होता। श्रेष्ठ नाटक रचना इस कारण भी इतनी दुर्लभ है।

इस प्रसग मे नाटक रचना म वस्तु के उपयोग की कुछेक विशिष्ट पद्धतियों का उल्लेख किया जा सकता है। नाटक मे नित्यप्रति के जीवन मे से ही ऐसी सार्थक घटनाओ या भावदशाओ का चयन और उनका ऐसा विकास अपेक्षित है कि उनका परस्पर सबध उजागर हो जाय और इस प्रकार दर्शक दैन-दिन जीवन मे व्याप्त अव्यवस्था के विमूढ दर्शक की बजाय समाज और उसकी नियति के प्रति सजग और चेतन हो सके। नाटक मे यथार्थ की दर्पणवत् अनुकृति अनावश्यक ही नहीं घातक है। अथवा नाटक मे विशेष प्रकार के दर्पण ही कारगर होते हैं। क्योंकि जीवन की तुलना मे नाटक मे व्यक्ति या घटना या स्थिति या भावदशा को उसके सपूर्णत विकसित रूप मे, अपने बहुविध परस्पर सबधो के साथ प्रस्तुत किया जाता है। साधारणत जीवन मे वह स्थिति या घटना या भावदशा ठीक वैसी ही कभी नही होती, क्योंकि जीवन मे उसके और उसकी चरम परिणति, उसकी नियति के बीच का कार्य-कारण सबध इतना स्पष्ट और उजागर नही होता। पर नाटककार को उसे उजागर और स्पष्ट करना पड़ता है। नाटक मे विभिन्न घटनाएँ इस प्रकार सयोजित होती है कि वे मिलकर किसी अर्थपूर्ण अनुभूति या समन्वित दृष्टि को अभिव्यक्त करती हुई जान पड़ें। नाटक का शिल्प मूलत अत्यत सूक्ष्मतापूर्वक चयन, सघनीकरण और सार्थक रूपायन का शिल्प है, अधिक से अधिक नियोजित तत्त्व को सहज स्वाभाविक रूप मे परिस्फुट दिखा सकने का शिल्प है। इसके लिए यह अत्यत आव-

श्यक है कि नाटककार किसी भी स्तर पर युक्तियुक्तता का साथ न छोड़े, विभिन्न घटनाओं और स्थितियों के बीच कार्य-कारण संबंध को दिखा सके, भावों के चरित्र में मानसिक हेतुओं और स्थितियों के क्रम में निरन्तरता और अनिवार्य संबंध स्थापित कर सके। इसीलिए नाटक के शिल्प में उपज और स्वाभाविकता का बड़ा अनोखा मिश्रण आवश्यक है। नाटक एक साथ ही सीधी प्रत्यक्ष बात कहता है और फिर भी उसमें जितना कुछ तल पर होता है उतना ही, बल्कि उससे भी अधिक तल के नीचे भी। व्यंजना के बिना श्रेष्ठ नाटक नहीं हो सकता। इसलिए सतही वर्णनात्मक पद्धति नाटक में कभी कारगर नहीं होती। नाटक में सम्प्रेषण का एक बड़ा आधार किसी युग के दर्शक-वर्ग द्वारा स्वीकृत रूढ़ियां भी हैं। नाटककार यथार्थ का यथावत चित्र उपस्थित करने के प्रयत्न के बजाय इन रूढ़ियों के सहारे तथ्यों का ऐसा संयोजन कर सकता है कि उस का वक्तव्य अभिव्यक्ति पा सके।

नाटक के शिल्प का एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपकरण है भाषा। नाटक में भाषा का सर्वथा अभिनव प्रयोग होता है। नाटक की भाषा में एक साथ ही काव्य जैसी गहन लाक्षणिकता, सूक्ष्मता और चित्रवत्ता और बोलचाल की भाषा की-सी मूर्तता, प्रवाह और सरलता आवश्यक होती है। उसमें पात्रानुकूल विविधता और लचीलापन भी होता है और समर्थ भाषा की शैलीपरकता, विशिष्टता और साहित्यिकता भी। श्रेष्ठ नाटक की भाषा ऐसी होती है कि उसमें भाव, विचार और चित्र तीनों को वहन करने का सामर्थ्य तो हो पर फिर भी वह बोलचाल की भाषा से बहुत दूर न हो। यही कारण है कि नाटक रचना से भाषा को नया संस्कार मिलता है, नई गति और जीवतता मिलती है। दूसरी ओर समर्थ और अभिव्यंजनापूर्ण भाषा के बिना नाटक रचना का काम बड़ा कठिन हो जाता है।

हिंदी नाटक और उसकी अभिनेयता के संदर्भ में भाषा अपने आप में एक बड़ा भारी प्रश्न है जिसका संबंध केवल नाटक की भाषा से ही नहीं, हमारी कविता की समस्त सर्जनात्मक और चिंतनात्मक साहित्य की भाषा से है। हमारी कविता की भाषा बोलचाल की भाषा से बहुत दूर रही है, उसमें पीढ़ियों के प्रयोग से अर्जित संस्कार, व्यापकता और सम्प्रेषणीयता नहीं है, वह अत्यधिक कृत्रिम और 'साहित्यिक' है और दैनंदिन मानवीय कार्य-कलाप से विछिन्न होने के कारण उसमें लचीलापन नहीं है, वह संकुचित अर्थ में व्यक्तिगत है, किसी प्रतिभा की विशिष्टता द्वारा गढ़ी गई, व्यक्तित्वपूर्ण, नहीं है। इसीलिए वह इतनी जल्दी घिस जाती है और इतना कम सम्प्रेषित करती है। आज की हिंदी कविता में इस कारण भी इतना फीकापन है, एक विचित्र प्रकार की अर्थ तथा वैशिष्ट्य हीनता है। उसमें लोक गीतों के या देहाती शब्दों के प्रयोग भी प्रायः इतने बना-

वहीं होते हैं कि निरे चमत्कार मात्र ही रह जाते हैं।

काव्य भाषा की यह स्थिति अपने आप में श्रेष्ठ नाटक की रचना में रुकावट बनती है। हिंदी के कवि या साहित्यकार की भाषा प्रायः इतनी कृत्रिम होती है कि नाटक लिखने का प्रयत्न करते ही उसकी अपर्याप्तता प्रगट हो जाती है। इस दृष्टि से हिंदी में नाटक रचना का कविता की भाषा में नई प्राण प्रतिष्ठा से बड़ा गहरा संबंध है यद्यपि यह दोनों ही प्रयत्न अपने आप में साहित्य में जीवन की वास्तविक और सार्थक अनुभूति की अभिव्यक्ति से जुड़े हुए हैं। वास्तविक अनुभूति ही विशिष्ट और अद्वितीय होती है जो रूपायित और व्यक्त होने के लिए विशिष्ट अद्वितीय और जीवंत भाषा की माग भी करती है और उसकी सृष्टि भी। नाट्यात्मक अनुभूति के बिना सक्षम नाट्य भाषा नहीं बन सकती। इसीलिए वास्तविक कार्यों को, क्रियाओं को, जीवन और अनुभूति की प्रक्रियाओं को सूचित करने वाली भाषा की खोज आज के साहित्य स्रष्टा के लिए एक तात्कालिक कार्य है। हिंदी और उर्दू के झगड़े ने एक प्रकार से, और हिंदी को राष्ट्रभाषा का गौरव दिलाने के बहाने नेतागिरी के प्रयत्नों ने दूसरे प्रकार से, हिंदी की सर्जनात्मक शक्ति को, उसकी सूक्ष्मता और संवेदनशीलता को तो बहुत नष्ट किया ही है, साथ ही उसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति को कई टुकड़ों में विभाजित कर रखा है। आज हमारे जीने की भाषा का, प्यार करने की, उत्तेजित होने की, विरक्त होने की भाषा का, हमारे चिंतन की भाषा के साथ, हमारी साहित्यिक अभिव्यक्ति की भाषा के साथ, बहुत कम संबंध है। जब तक यह विभाजन दूर नहीं होता तब तक नाटक रचना का काम बहुत आगे नहीं बढ़ सकता।

इस प्रकार हिंदी में श्रेष्ठ नाटकों की कमी रचना प्रक्रियाओं की समस्याओं से कई स्तरों पर जुड़ी हुई है। किंतु मूल बात यही है कि अन्य भारतीय भाषाओं की भांति हिंदी में भी नाटक को मुख्यतया मनोरंजन का साधन माना जाता रहा है और उसकी ओर समस्त साहित्यकारों ने या तो ध्यान ही नहीं दिया और यदि दिया भी तो उसे अपने सर्जन कार्य में बड़ा निचला दर्जा ही दिया। अधिकांश ने प्रायः यह नहीं समझा कि जीवन की बहुत-सी अनुभूति ऐसी होती है जो अपनी संपूर्णता अथवा संपूर्ण तीव्रता और अर्थवत्ता में केवल नाटक द्वारा ही व्यक्त हो सकती है। प्रायः हमारे कवियों और कथाकारों के लिए सौंदर्यमूलक अनुभूति के नाट्यात्मक रूप यथार्थ नहीं अथवा उनकी नाट्यात्मक अनुभूति बहुत क्षीण और अपर्याप्त होती है। क्योंकि जब तक नाटककार यह अनुभव न करे कि उसकी कोई विशिष्ट अनुभूति नाटक के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में अभिव्यक्त न हो सकेगी, तब तक नाटक लेखन अधिक से अधिक एक शिल्पीय अभ्यास मात्र ही रहेगा और इस प्रकार लिखे गए नाटकों में कथ्य और उसके कला रूप

में वह अन्विति, वह अनिवार्यता, न आ सकेगी जो महत्वपूर्ण कला सृष्टि की सब से प्रमुख आवश्यकता है।

दूसरी ओर, हिंदी के लेखक को अब अपने आप को मिथ्या भावुकता, और क्षीण कल्पना विलास से मुक्त करके अपने आप से और जीवन के निर्मम यथार्थ से साक्षात्कार करना होगा। एक प्रकार से शायद हिंदी का लेखक आज ऐसे मोड़ पर आ ही पहुंचा है कि वह यह साक्षात्कार करने को बाध्य है। जिन अनगिनत टेढ़ी-मेढ़ी गलियों में होकर वह आज तक चलता रहा है वे सभी जैसे एक छोर पर आकर बंद होती जाती हैं। अपनी सर्जनशीलता को सर्वथा अवरुद्ध होने से बचाने के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि वह इन गलियों का मोह छोड़ राजमार्ग पर आकर खड़ा हो। दूसरे शब्दों में वह अपने वयस्क होने के क्षण और उसके दायित्व को स्वीकार करे। सार्थक नाटक की सृष्टि तभी संभव है। उसके लिए ऐसे मानवीय कार्यव्यापार का दर्शन (विजन) चाहिए जो जीवन के केन्द्र में हो, उसके हाशियों में नहीं, जो अपने समय की चेतना को व्यक्त करता हो किसी इच्छित देशकाल के काल्पनिक चित्रों में न उलझा हो। अनुभूति के इस स्तर पर ही नाटक कलात्मक अभिव्यक्ति का सबसे समर्थ और सशक्त माध्यम सिद्ध होगा और आवश्यक सार्थकता भी प्राप्त कर सकेगा।

नाट्य प्रदर्शन के तत्त्व

कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप मे नाटक के स्वरूप को समझने के प्रयास मे यह बात अभी तक बार-बार दोहरायी गयी है कि नाटक को प्रदर्शन से अलग नही किया जा सकता, और न केवल उसमे प्रस्तुत कथ्य और उसके रूप की प्रकृति प्रदर्शन की आवश्यकताओ, सीमाओ और अतिरिक्त सभावनाओ से निर्धारित होती है, बल्कि प्रदर्शन के द्वारा ही नाटक अपनी सम्पूर्ण अर्थवत्ता, सप्रेषण-क्षमता और सर्जनात्मक सार्थकता प्राप्त करता है। इस प्रकार नाटक का कोई विवेचन-विश्लेषण, उसकी उपलब्धियो, सभावनाओ और समस्याओ का कोई भी प्रस्तुतीकरण, नाट्य प्रदर्शन के ऊपर विस्तार से विचार किये बिना पूरा नही हो सकता। किसी भी समय मे नाट्य प्रदर्शन के साधनो का स्तर, उसकी प्रचलित पद्धतियाँ, शैलियाँ, उसमे मान्यताप्राप्त रूढियाँ तथा व्यवहार, और रगमचीय जीवन की सामान्य परिस्थितियाँ—इन सबका तत्कालीन नाट्य लेखन पर बडा गहरा, व्यापक और प्राय निर्धारक प्रभाव पडता है। जहाँ असाधारण मौलिकता सपन्न और प्रतिभावान नाटककार उपलब्ध परिस्थितियो का भरपूर उपयोग करने के साथ-साथ, उन्हे तोड कर, बदल कर, नाट्य लेखन और प्रदर्शन के नये रूपो और शैलियो को जन्म देता है, प्रेरित करता है, अनिवार्य बना देता है, वही बहुत-से नाटककार पर्याप्त प्रतिभा होने पर भी अपने युग की रगमचीय परिस्थितियो से सीमित हो जाते है और उनका महत्त्वपूर्ण सार्थक कथ्य, युग मे स्वीकृत, मान्यताप्राप्त प्रदर्शन पद्धतियो की सीमाओ के कारण, सपूर्ण सभावित कलात्मक शक्ति के साथ अभिव्यक्त नही हो पाता।

नाटक के विकास पर प्रदर्शन का यह प्रभाव आधुनिक भारतीय नाटक लेखन पर स्पष्ट है। हमारे देश मे नाटक लेखन की दुर्बलता प्रदर्शन के साधनो और परिस्थितियो के अविकसित और अपर्याप्त रूप से घनिष्ठ रूप मे सम्बद्ध है। हिंदी नाटक तो ठीक से विकसित ही आधुनिक रगमच के अभाव के कारण न हो सका। भारतेन्दु ने जिस रगमचीय चेतना का प्रारभ किया था उसे परवर्ती युग मे पारसी कपनियो की व्यावसायिकता ने पूरी तरह ग्रस लिया और कलात्मक नाट्य लेखन की वह धारा आगे नही बढ सकी। स्वय पारसी रगमच भी हिंदी क्षेत्र मे बाहर से आयातित आरोपित था, और जब बाद मे चलचित्र

के उदय के साथ क्रमश उसका विघटन हुआ तो हिंदी क्षेत्र मे रगमचीय शून्य की सृष्टि हो गयी। पारसी रगमच ने स्वय किसी उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण नाटक रचना की प्रेरणा तो नही दी, पर एकमात्र रगमच होने के कारण वह पचास वर्ष से भी अधिक तक हिंदी के नाटककारो की रगचेतना को प्रभावित करता रहा। जयशकर प्रसाद के नाटक पारसी रगमचीय कला के सर्वथा अतिम दौर मे लिखे गए और उन पर पारसी रगमच की मूलभूत रूढियो, पद्धतियो और शैलियो की बडी स्पष्ट छाप है। इसी कारण अपनी गहरी सास्कृतिक चेतना, कलात्मक बोध और कथ्य की युगीन सार्थकता और प्रामाणिकता के बावजूद, उनके नाटको का रूपबध पारसी रगमच के ढाँचे के बाहर नही निकल पाता और वे अपनी पूरी कलात्मक सार्थकता नही प्राप्त कर पाते। यह एक रोचक बात है कि प्रसाद के नाटको मे जितनी भी नाटकीयता, रगमचोपयुक्तता और रूपगत सार्थकता है, वह अधिकाश या तो सीधे पारसी रगमचीय व्यवहारो के उपयोग से आयी है, या उनसे सचेष्ट रूप मे बचने के प्रयत्नो द्वारा। साथ ही उनकी रचनागत शिथिलता, अराजकता, बहूद्देश्यीयता, घटनाप्रधानता आदि के स्रोत भी पारसी रगमच मे ही हैं। यदि उनके सामने किसी और रगमच का रूप स्पष्ट होता तो सभवत उनके नाटको मे भी कही अधिक विश्वसनीयता, सगति और कलात्मक सयम की अभिव्यक्ति हो पाती। प्रसाद के बाद का हिंदी नाटक रगमच के अभाव मे ही इतना रूपहीन और वैशिष्ट्यहीन रहा, और दूसरे महायुद्ध के काल मे तथा उसके बाद, फिर से जब नाटक मे नया दौर शुरू हुआ तो अधिकाधिक यथार्थवादी रगचेतना से प्रभावित होते जाने के कारण उसका पूरा स्वरूप ही बदलता गया। आज भी हिंदी नाटक निश्चित कला रूप और अभिव्यक्ति विधा की दृष्टि से यदि कोई अपना व्यक्तित्व या पहिचान नहीं प्राप्त कर सका है, तो उसका कारण हिंदी रगमच की विशेष स्थिति ही है।

पिछले एक-डेढ दशक मे सारी प्रगति के बावजूद अधिकाश हिंदी रगमच बडे हलके और निचले स्तर पर शौकिया रगमच रहा है जिस पर दिलबहलाव के लिए नाटक खेले जाते हैं। इसलिए य मडलियाँ प्रदर्शन के लिए किसी गभीर या उलझे हुए नाटक को उठाने की कोशिश ही नही करती, या कभी करती भी हैं तो नाटक के साथ न्याय नही हो पाता। इन मडलियों द्वारा किसी नाटक के एक दो से अधिक प्रदर्शन नहीं किये जाते। फलस्वरूप बार-बार अभ्यास और विभिन्न प्रकार के दर्शक-वर्ग के सामने प्रस्तुत करने से प्राप्त निपुणता, सूक्ष्मता और सहजता प्रदर्शन मे नहीं आती और इस प्रकार नाटक की पूरी सभावनाएँ प्रकट नहीं हो पाती। निस्सदेह देश के विभिन्न नगरों मे कुछ ऐसी मडलियाँ भी पिछले कुछ वर्षों मे बनी हैं जो इस बात की अपवाद हैं, जो गभीर नाटकों की तलाश करती हैं और मंचती हैं। पर ये मडलियाँ भी अव्यावसायिक

हैं, प्राय उनके साधन सीमित हैं और वे भी अधिक प्रदर्शनों और व्यापक दर्शक-वर्ग तक पहुँचने के लिए साधन नहीं जुटा पाती। फलस्वरूप कुल मिलाकर गंभीर नाटक लेखन बहुत नहीं होता। विधा के रूप में नाटक वैसे भी अधिक जटिल और परिश्रम-साध्य तथा कई अभिव्यक्ति-विधाओं की आवश्यकताओं तथा सीमाओं से परिचय की अपेक्षा रखता है, और साधारणतः गंभीर लेखन उस ओर प्रवृत्त होने झिझकता है। उस पर यदि प्रदर्शन की अनिश्चितता, अपर्याप्तता तथा स्तर-संबंधी आशंकाओं का सामना भी करना पड़े, तो यह स्पष्ट है सार्थक नाटक लेखन सहज ही संभव नहीं, अथवा हलके-फुलके ढंग के कामचलाऊ नाटकों के लिखे जाते रहने की ही अधिक संभावना है। नाट्य प्रदर्शन की संभावनाओं और परिस्थितियों से, उसके स्तर से, नाटक लेखन मूलभूत रूप में प्रभावित होता है।

इस परिप्रेक्ष्य में जब हम अपने देश में, विशेषकर हिंदी में, प्रदर्शन-संबंधी स्थिति को देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि पिछले बीस साल में भी प्रगति बहुत अधिक नहीं हुई है। कुछेक अपवादों को छोड़कर अधिकांशतः प्रदर्शन सीधे विवरणात्मक यथार्थवादी रूप से आगे नहीं बढ़ा है, बल्कि प्रायः सभी छोटे शहरों में, और अधिकांश बड़े शहरों में भी, अभी तक नाटकों के प्रदर्शन का ढंग पुरानी पारसी पद्धति और अधकचरे यथार्थवाद के रूप-शैलीहीन मिश्रण का है, जो किसी हद तक हलके-फुलके नाटकों में स्थितियों और संवादों द्वारा हास्य के, तथा 'गंभीर' नाटकों में अश्रु-विगलित करुणा के, अतिरिक्त बहुत कम ही अभिव्यक्त और संप्रेषित कर पाता है। कुल मिलाकर हमारे नाट्य प्रदर्शन की कलात्मक शैली या शैलियाँ विकसित नहीं हो सकी हैं, और अधिकांशतः प्रदर्शन नाटक के पुनर्सर्जन के बजाय व्यक्तित्वहीन मंचन मात्र कर पाता है। बड़े शहरों में भी संभवतः कलकत्ता को छोड़कर, जो कुछ उल्लेखनीय कार्य प्रदर्शन के क्षेत्र में हुआ है वह प्रायः पश्चिमी प्रदर्शन शैलियों का अनुकरण भर है और अधिकांशतः अंग्रेजी नाटकों के प्रदर्शनों में ही प्रकट हुआ है। बंबई, दिल्ली तथा अन्य बड़े शहरों में प्रदर्शन-संबंधी विविधता मुख्यतः अंग्रेजी नाटकों के प्रदर्शनों में ही दिखाई पड़ी है अथवा उन्हीं निर्देशकों द्वारा प्रस्तुत भारतीय भाषाओं के नाटकों में दिखाई पड़ी है जो पश्चिमी नाट्य प्रदर्शनों से परिचित-प्रभावित हैं और पहले अंग्रेजी में नाटक करते रहे हैं। फलतः उनके कार्य में या तो एक प्रकार की बनावट और फैशन-परस्ती है, अथवा आरोपित या अनिवार्य विदेशीपन। अधिकांशतः, विभिन्न पश्चिमी प्रदर्शन शैलियों के उपयुक्त भारतीय नाटक उन्हें नहीं मिल पाते, इसलिए प्रदर्शन संबंधी प्रयोगशीलता पश्चिमी नाटकों के भारतीय भाषाओं में अनूदित नाटकों के प्रदर्शनों में प्रकट होती है। इस प्रकार भी यह अंततः कोई स्वतंत्र भारतीय प्रदर्शन शैली, अथवा भारतीय नाटकों के प्रस्तुतीकरण के उपयुक्त कोई भी शैली, विकसित करने में सहायक नहीं हो पाती। ऐसे निर्देशक और

रगकर्मी प्राय बडी श्रेष्ठता और उपकार के भाव से भारतीय नाटको को प्रस्तुत करते हैं, और साधारण भारतीय रगकर्मी के साथ उनका कोई तादात्म्य या सबध नहीं हो पाता।

कलकत्ते मे, कुछ तो बँगला मे सक्रिय व्यवसायी रगमच की चुनौती के कारण, और कुछ रगमच की जडें सामुदायिक जीवन मे गहरी होने के कारण, प्रदर्शन शैलियो मे—और उसके फलस्वरूप नाटक लेखन मे भी—विविधता, नवीनता और कल्पनामूलक प्रयोगशीलता है। इस सबध मे शभु मित्र द्वारा मुख्यतया रवीन्द्रनाथ के साथ कुछ अन्य नाटको के, और उत्पल दत्त द्वारा कुछेक उनके अपने लिखे तथा कुछ अन्य नाटककारो के नाटको के, प्रदर्शनो का विशेष रूप से उल्लेख आवश्यक है। इन प्रदर्शनो म नाटक के मूल वक्तव्य को एक सर्वथा मौलिक और सर्जनात्मक अर्थ-निर्णय के रूप मे आत्मसात् करके उसके अनुरूप रगरचना का अत्यत कल्पनाशील और साहसिक प्रयास मिलता है। साथ ही उनमे भारतीय लोकनाट्यो की परपरा के साथ पश्चिमी प्रदर्शन पद्धतियो के एक नये समन्वय द्वारा अभिव्यजित सार्थक नाट्य रूप की तलाश भी मिलती है जो पूरे रगकार्य को एक नया आयाम देती है। इन दोनो मे भी उत्पल दत्त मे पश्चिमी प्रभाव अधिक है और कथ्य और शैली दोनो के ही स्तर पर एक प्रकार की कट्टर सिद्धातवादिता है जो उनको दिखावे और चौकानेवाली, आडबरपूर्ण नवीनता की ओर ले जाती है। उनकी मडली व्यावसायिक होने के कारण भी, एक प्रकार का दबाव उन पर पडता रहता है जो उन्हे चमत्कार की ओर ले जाता है। उनसे भिन्न शभु मित्र की मडली 'बहुरूपी' कई दृष्टियो से असामान्य और असाधारण है—अव्यावसायिक रह कर भी वह पिछले अठारह वर्ष मे नाट्य प्रदर्शन को सर्वथा उच्चस्तरीय कलात्मक कार्य के रूप मे निभाती आ रही है। शभु मित्र ने अधिक साहसिकता और सर्जनात्मक कल्पनाशीलता के साथ भारतीय तथा पश्चिमी प्रदर्शन पद्धतियो के अन्वेषण द्वारा एक समन्वित किन्तु अधिक सजीव और मौलिक शैली का विकास किया है। विशेषकर उनके द्वारा रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाटक 'राजा' और सोफोक्लीज के प्रसिद्ध नाटक 'राजा ईडिपस' के बगला अनुवाद के प्रदर्शन मे उनकी शैली बडी सक्षमता के साथ उभर कर आयी है।

इन दोनो के अतिरिक्त भी बगला रगमच मे कुछ अन्य व्यक्ति और दल हैं जो प्रदर्शन-सबधी व्यवहारो के अन्वेषण और प्रयोग मे पिछले दिनो सामने आये हैं। निस्सदेह इसी प्रकार इक्का-दुक्का लोग मराठी, गुजराती, हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओ मे भी अवश्य हैं जो नाट्य प्रदर्शन को एक स्वतत्र सर्जनात्मक क्रिया के रूप मे देखते हैं और अपनी अपनी भाषा मे प्रदर्शन को एक रूप और आकार देने के लिए प्रयत्नशील हैं। पर कुल मिलाकर प्रदर्शन के क्षेत्र मे

भारतीय रंगमंच अभी बहुत प्रारंभिक स्थिति में है।

प्रदर्शन के विकास की इस समस्या को हम कई स्तरों पर देख सकते हैं, जैसे निर्देशक, रंगशिल्प, और अभिनय। भारतीय रंगमंच के संदर्भ में तीनों की मौजूदा स्थितियाँ एक विशेष चरण में हैं जिन पर विचार करके हम अपने रंगमंच के विकास की कुछ मूलभूत समस्याओं का सधान पा सकते हैं।

निर्देशक

पहले निर्देशक को ही लें। निर्देशक या तो पश्चिमी रंगमंच में भी एक नया ही तत्त्व है जिसे प्रकट हुए शायद अभी सौ वर्ष भी नहीं बीते हैं। फिर भी आधुनिक पश्चिमी रंगमंच का संपूर्ण विकास निर्देशक के साथ जुड़ा हुआ है, विशेषकर सुरुचिपूर्ण अथवा मात्र मनोरंजन के प्रकार से आगे बढ़कर कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप में रंगमंच की परिणति में निर्देशक का सबसे बड़ा योग है। निर्देशक ही वह केन्द्रीय सूत्र है जो नाट्य प्रदर्शन के विभिन्न तत्त्वों को पिरोता है और उनकी समग्रता को एक समन्वित बल्कि सर्वथा स्वतंत्र कला-रूप का दर्जा देता है। सार्थक प्रदर्शन में नाटक जिस रूप में दर्शक के पास पहुँचता है, वह बहुत कुछ निर्देशक के कलाबोध, सौंदर्यबोध और जीवनबोध को ही सूचित करता है। निर्देशक ही यह निर्णय करता है कि नाटक के विभिन्न अर्थ-स्तरों में से कौन-सा एक या कुछेक उसके प्रदर्शन के लिए, और उस प्रदर्शन के माध्यम से उसकी अपनी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति के लिए, प्रासंगिक और सार्थक और केन्द्रीय है। इसके बाद वही अभिनेताओं तक अपने उस बोध को संप्रेषित करके उन्हें इस कलात्मक साहस-यात्रा में साथ चलने के लिए आतंरिक रूप में तैयार करता है, और फिर उनकी गतियों और रंगचर्या के संयोजन द्वारा, उनके वास्तविक अभिनय के संयोजन द्वारा, विभिन्न अभिनेताओं के पारस्परिक संबंध के विशेष प्रकार के संतुलन, नियमन और प्रक्षेपण द्वारा, उनके माध्यम से नाटक का अपना अभिप्रेत अर्थ निर्णय अभिव्यंजित करता है। निर्देशक ही रंगशिल्प के अन्य तत्त्वों को भी—अभिनेताओं की मुखसज्जा, वेशभूषा, दृश्यबंध, प्रकाशयोजना और ध्वनि तथा संगीतयोजना को—अपनी पूर्व-कल्पित और नाटक के स्वीकृत अर्थ-निर्णय से जुड़ी हुई समन्विति में बाँधता है और इस प्रकार का एक समग्र समन्वित प्रभाव दर्शक तक संप्रेषित करता है। इस रूप में वह बहुत-से, अपनी-अपनी विधाओं में सर्जनशील, कर्मियों के—नाटककार, अभिनेता, दृश्याकनकार, वेशभूषाकार, प्रकाश संयोजक और संगीत तथा ध्वनि-संयोजक के—कृतित्व का केवल संगठनकर्त्ता ही नहीं होता, बल्कि उनकी सर्जनशीलता को संपूर्ण क्षमता में सक्रिय करके, उनके विशेष प्रकार के सर्जनशील संयोजन द्वारा, एक सर्वथा नयी सृष्टि का रचयिता होता है। उसके अस्तित्व के बिना नाटक का प्रदर्शन

सर्जनात्मक कार्य और सर्जनात्मक अनुभूति का वाहक पूरी तरह नहीं बन सकता। निस्सदेह उसके बिना भी नाटककार के अपने कलात्मक चमत्कार का, उक्ति-वैचित्र्य का, भाव-सघात का आस्वाद मिल सकता है, अभिनेता की प्रतिभा, कुशलता और सर्जन-क्षमता का आस्वाद मिल सकता है, पर एक समन्वित कृति के रूप मे प्रदर्शन द्वारा नाट्यानुभूति का आस्वाद मिलना असभव नही तो प्राय कठिन अवश्य है।

स्पष्ट है इस रूप मे निर्देशक भारतीय रगमच मे प्राय आगतुक ही है, और अभी सर्वथा प्रतिष्ठित भी नही है, तथा विरल भी है। बँगला के एक-दो निर्देशको का उल्लेख ऊपर किया गया। अन्य भाषाओ अथवा हिन्दी के सदर्भ म देखें तो इस स्थिति की तीव्रता का कुछ अनुमान हो सकता है। पारसी रगमच के ज़माने म तो नाटक लखक (जो कवि या शायर कहलाता था) या प्रमुख अभिनेता या मडली का सचालक ही नाटक के प्रदर्शन की देखभाल करता था। निर्देशक के नाम पर अभिनेता मडली को 'तालीम' देने का काम उसको करना होता था, बाकी परदे उठाने-गिराने और दृश्यो की सजावट के काम दूसरो के जिम्मे होते थे। किसी विशेष रूप मे या स्तर पर किसी प्रकार के समन्वय का काम न तो बहुत होता था न आवश्यक ही माना जाता था। पारसी रगमच के विघटन के बाद, दूसरे महायुद्ध के दिनो मे और फिर आज़ादी के बाद, जब फिर से हिंदी रगमच मे जान आयी तो थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ वही पुरानी प्रकार की परपरा ही फिर से चली। अधिकाशत अभिनेता अपना अपना काम तैयार करते जो पूर्वाभ्यास मे परस्पर-सबधित हो जाता। आवश्यकता पड़ने पर कोई एक अधिक अनुभवी अभिनेता अथवा अधिकाशत मडली का सचालक या सगठन-कर्ता बाकी लोगो को सवाद बोलने का ढग, लहजा, कुछ गतियाँ, कुछ रगचर्या बता देता और नाटक 'खेल' दिया जाता। वास्तव मे पिछले आठ-दस बरस मे ही क्रमश हिंदी रगमच पर निर्देशक सामने आया है, और अब भी वह बड़े-बड़े शहरो की कुछेक मडलियो को छोड़कर, प्रदर्शन के कार्य म पूरी तरह प्रभावी और सक्षम नही बन सका है। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि निर्देशक के कार्य के पूरी तरह प्रभावी होने के लिए, जिस स्तर के कलात्मक प्रशिक्षण, प्रतिभा और बोध की अपेक्षा है, वह प्राय उपलब्ध ही नही होता। हिंदी जगत म तो शायद यह भी अभी सर्व-स्वीकृत अथवा बहु-स्वीकृत बात नही है कि रगमचीय कार्य के प्राय प्रत्येक पक्ष के लिए अनुभव के साथ ही उपयुक्त और व्यापक प्रशिक्षण प्रयत्न आवश्यक है।

फिर भी निर्देशक के योग ने हिंदी रगमच को नया स्तर दिया है, इसका प्रमाण दिल्ली, कलकत्ता, बबई के कुछ हिंदी निर्देशको के कार्य मे देखा जा सकता है। इब्राहीम अल्काज़ी ने राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के छात्रो को लेकर 'अधा युग'

(धर्मवीर भारती) 'आषाढ का एक दिन' (मोहन राकेश) जैसे हिंदी नाटक तथा कई एक पश्चिमी नाटको के अनुवाद दिल्ली के रगमच से प्रस्तुत किये हैं, जिससे पिछले चार-पाच वर्ष मे दिल्ली में हिंदी प्रदर्शन के स्तर मे सुस्पष्ट अतर आया है। विशेषकर रगसज्जा के सभी पक्षो मे सुरुचि, कलात्मकता और सयम के साथ-साथ विविधता के लिए सचेष्ट प्रयास का महत्त्व स्थापित हुआ है, जिसका प्रभाव दिल्ली के सभी नाट्य प्रदर्शनो पर पडा है। पिछले पाँच-छह वर्षों मे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से उत्तीर्ण छात्रो ने भी अपने ढग से प्रदर्शन के सयोजन मे नयी सजगता, कलात्मकता को, और नीरस यथार्थवादिता के स्थान पर कल्पनाशील अभिव्यक्ति को, बढावा दिया है। कुछ नाट्य विद्यालय की गतिविधियो के परिणाम और चुनौती स्वरूप, और कुछ हिंदी रगमच के विकास की निजी गति के कारण, कई एक अन्य निर्देशक भी सामने आये हैं जो किसी भी तरह नाटक को मच पर उतार देने के बजाय मचन की पूरी प्रक्रिया को कई स्तरो पर सगठित और सयोजित करने की ओर ध्यान देते है। इस सारी गतिविधि के कारण प्रदर्शन के लिए, बल्कि सम्पूर्ण रगकार्य को कलात्मक अभिव्यक्ति का रूप दे सकने के लिए, निर्देशक की अनिवार्य आवश्यकता को समझा जाने लगा है, प्रदर्शन के पूरे कार्य मे उसके केन्द्रीय स्थान की, और एक नये कलात्मक आयाम के स्रष्टा के रूप मे उसकी, स्वीकृति होने लगी है—केवल शब्दो मे, सिद्धातत ही नही, वास्तविक व्यवहार और कार्य मे भी। विभिन्न शिक्षा-सस्थाएँ अब अपने रगमचीय कार्यो के लिए निर्देशक की तलाश करती हैं और इसके लिए उसे कुछ पारिश्रमिक भी देती हैं। इसी प्रकार नाटक मडलियाँ भी विविधता के लिए अपने ही सदस्यो के अतिरिक्त बाहर से ऐसे निर्देशको को आमत्रित करती हैं जिनकी कुछ प्रतिष्ठा बन गयी हो। कलकत्ते मे श्यामानद जालान और बबई मे सत्यदेव दुबे द्वारा निर्देशित प्रदर्शनो को भी ऐसी ही मान्यता प्राप्त हुई है और सम्पूर्ण हिंदी क्षेत्र मे निर्देशक की आवश्यकता और उसके महत्त्व को स्वीकृति मिलने लगी है। निस्सदेह यह हिन्दी रगमच की प्रगति का अगला चरण है, जिसका अनिवार्य प्रभाव नाटक लेखन पर भी पडेगा, बल्कि शायद पडने भी लगा है।

रगशिल्प

निर्देशक के कार्य की स्वीकृति के साथ ही जुडा हुआ है रगशिल्प की ओर बदलता हुआ दृष्टिकोण। पारसी रगमच और उसके अन्य प्रादेशिक रूपो के कारण रगसज्जा हमारे यहा अतिरजनाप्रधान, भडकीली, चमत्कारमूलक होती रही है। उसमे साधनो की प्रचुरता तथा यात्रिक प्रकार के हैरत मे डाल देने वाले प्रभावो के प्रति आकर्षण रहा है। जहाँ ये साधन अर्थाभाव के कारण सुलभ

न होने पर उनके लिए सलक, और उनके अभाव से एक प्रकार की हीनता की भावना नाटक खेलने वाले के मन में रहती थी। साथ ही भड़कीली दिखावटी रंगसज्जा प्रायः अपने आप में एक साध्य समझी जाती थी नाटक की भाववस्तु और कलात्मक आवश्यकता से प्रायः उसका कोई मेल या सम्बन्ध नहीं होता था। बहुत बार तो इन साधनों के अभाव में नाटक खेलना असम्भव समझा जाता था क्योंकि उनके बिना दर्शकों के निराश होने की आशंका रहती थी। दूसरे महायुद्ध के दिनों में इप्टा (जन नाट्य संघ) ने नाटक की विषयवस्तु और अभिनेताओं की क्षमता पर बल देकर बिल्कुल सादे काले परदे के सामने नाटक करके यांत्रिक और दिखावटी सज्जा के मोह पर पहला तीव्र आघात किया। इप्टा के नाटक उस सहज ही प्रगट साधनहीनता के बावजूद और उसके फलस्वरूप हर प्रकार के अलंकरण और तड़क भड़क के अभाव में भी बल्कि शायद उसके कारण ही अपने कथ्य की तात्कालिकता और सार्थकता तथा गंभीरता के कारण प्रभावी हुए। इस प्रकार भारतीय रंगमंच में नाटक की विशेषकर उसकी विषयवस्तु की तथा अभिनेता की फिर से प्रतिष्ठा मिली।

किन्तु इसी के साथ-साथ कथ्य के अनुरूप यथार्थवादी दृष्टि भी आयी जिसके फलस्वरूप बाद में क्रमशः रुचिविहीन निर्जीव यथार्थवादी रंगसज्जा पर बल दिया जाने लगा। हर नाटक में वही ड्राइङ्गरूम या अन्य प्रकार के कमरे वही फर्नीचर वही रंगे हुए फलक (फ्लैट) उनमें कटे हुए दरवाजे खिड़कियाँ इत्यादि। फिल्मों ने इस प्रकार की सज्जा को बढ़ावा दिया। अब नाटक में लिपटवां परदे का स्थान रंगे हुए फलकों ने ले लिया। कलकत्ते में विशेषकर बंगला के व्यावसायिक रंगमंच पर युद्धोत्तरकाल में तरह-तरह के नये चमत्कार उत्पन्न करने के साधनों का यांत्रिक उपायों का आग्रह बढ़ा। मनोरंजन के लिए अथवा भावुकतापूर्ण छिछले ढंग के कथ्य को प्रस्तुत करने और चौंकाकर लोगों को आकर्षित करने के लिए यह शायद पर्याप्त हो। पर गहराई में जाकर जिंदगी का नाटक और प्रदर्शन की विषयवस्तु बनाने के लिए दृश्य रचना में अधिक सूक्ष्म-संवेदनशील कल्पना की सर्जनात्मक दृष्टि की आवश्यकता थी नाटक के पात्रों को अधिक व्यंजनापूर्ण और गहरी सार्थकता में युक्त परिवेश देने की आवश्यकता थी जो उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व और बाह्य के साथ उसके भौतिक तथा मानसिक संबंधों को केवल सूचित या परिभाषित न कर बल्कि उनकी परिणति को कार्य-व्यापारमूलक नियति को सूक्ष्मता के साथ अभिव्यंजित करे। यह आवश्यक हुआ कि दृश्यबंध एक और कार्यमूलक हो अभिनेता की गतियों और चर्या के साथ संबद्ध और समाजित हो अतिरिक्त नहीं अलंकरण न हो दूसरी ओर वह नाटक के निर्देशक द्वारा स्वीकृत मूल विषय के साथ समन्वित होकर एक समग्र-संपूर्ण भाववस्तु का निर्माण

करता हो, जिसका सप्रेषण ही पूरे प्रदर्शन आयोजन का उद्देश्य है। इसलिए दृश्यबध का रूप, उसमे प्रयुक्त आकृतियाँ, रेखायें तथा घनतायें, उसमे काम मे आने वाली सामग्री के रंग और ताने-बाने (टेक्सचर)—सभी का सुचिंतित, सुकल्पित और समन्वित होना आवश्यक हो गया।

इसमे केवल दृश्यबध ही नही, वेशभूषा, प्रकाश-योजना और ध्वनि तथा सगीत-योजना भी सम्मिलित थी। वस्त्रो का भडकीला या मूल्यवान होना नही, बल्कि नाटक की भावदशा के अनुरूप और साथ ही युगानुकूल होना महत्वपूर्ण हो गया। प्रकाश का उपयोग नाटक के उठते-गिरते व्यापार को रेखांकित करने, बल देने, वातावरण की सृष्टि करने और छोटे-छोटे अन्तरिम तथा अन्तिम चरम बिन्दुओ को निर्मित करने और दृष्टिकेन्द्र मे स्थिर रखने के लिए महत्वपूर्ण समझा जाने लगा। इस प्रक्रिया मे दृश्यबध, वेशभूषा और प्रकाश-योजना— तीनो आकारो, रेखाओ, समूहो, रगो, छायाओ और आलोकपुजो की एक समग्र समन्वित परिकल्पना मे अतर्ग्रथित हो गए। रगमचीय प्रदर्शन मच पर नाटक की पक्तियो का साभिनय पाठ मात्र नही, बल्कि उसके साथ ही अन्य कई दृश्यमूलक माध्यमो और आयामो का समन्वित रूप हो गया। इसी प्रकार ध्वनि और सगीत का आयोजन कुछ यथार्थवादी प्रभाव उत्पन्न करना अथवा गीतो की धुनें बनाना नही, बल्कि इन दोनो का ही उस समन्वित, समग्र प्रभाव को अधिक तीव्र और सघन करना हो गया। मच पर अभिनेताओ के सवादो के साथ एक विशेष सुनियोजित सम्बन्ध मे प्रयुक्त होकर, कभी सगति मे कभी विषमता या विसगति मे, ध्वनि प्रभावो और पृष्ठभूमि के सगीत ने एक सर्वथा नवीन सार्थकता प्राप्त की। इस प्रकार रगशिल्प के विभिन्न तत्त्व आधुनिक नाट्य प्रदर्शन मे पूर्ववर्ती प्रदर्शनो से सर्वथा भिन्न सम्बन्ध मे प्रस्तुत हुए या उनका वैसा प्रस्तुत होना आवश्यक जान पडने लगा। यह नाट्य प्रदर्शन के एक विशिष्ट कला विधा के रूप मे विकसित होने और उसके विशिष्ट सर्जक के रूप मे निर्देशक के प्रकट होने का कारण भी था और परिणाम भी।

निस्सदेह नाटक के प्रदर्शन के साथ रगशिल्प के विभिन्न तत्त्वो का यह नवीन सम्बन्ध भारतीय रगमच के सदर्भ मे वास्तविक से अधिक सभाव्य ही है और देश के विभिन्न क्षेत्रो के रगमच मे इक्का-दुक्का निर्देशको अथवा मण्डलियो के कार्य मे ही दिखाई पडता है। वह आधुनिक नाट्य प्रदर्शन का परिप्रेक्ष्य है, भारतीय रगमच को उस दिशा मे व्यापक रूप मे बढना है तभी उसका पूरा कलात्मक रूप प्रस्फुटित हो सकेगा। अभी तो बगाल का रगमच भी चक्री रगमच और प्रकाश-योजना के विभिन्न चमत्कारी और 'ससपेंस' उत्पन्न करने वाले प्रभावो मे उलझा है, अविकसित रगमच वाले भागो का तो कहना ही क्या। प्राय मडलियो और निर्देशको को रगशिल्प के विभिन्न तत्त्वो के

कलात्मक उपयोग की या तो चेतना ही नहीं होती, और यदि होती भी है तो पर्याप्त प्रशिक्षित और अनुभवी शिल्पी नहीं मिलते, अथवा आवश्यक प्राविधिक साधन नहीं सुलभ हो पाते। फलस्वरूप प्रदर्शन कलात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से प्रारंभिक स्तर पर ही हो पाता है।

अभिनय

किंतु प्रदर्शन का सबसे मूलभूत और महत्त्वपूर्ण तत्त्व है अभिनय। निर्देशक तथा रंगशिल्पी सभी का प्रयास अंततः अभिनेता के सर्जन कार्य को अधिक से अधिक सक्षम, अभिव्यंजनापूर्ण और प्रभावी बनाने के लिए ही होता है। अभिनेता ही नाटककार के साथ वह दूसरा सर्व प्रमुख और केन्द्रीय सर्जनशील घटक है जो प्रदर्शन को एक प्रभावशाली और सश्लिष्ट कला विधा का दर्जा देता है। प्रतिभावान, कुशल तथा कल्पनाशील अभिनेता के बिना अन्य सारे तत्त्व चाहे जितने सक्षम और सशक्त हों, वे कोई सार्थक नाट्यानुभूति की, सर्जनात्मक कलात्मक नाट्यसृष्टि की, रचना नहीं कर सकते।

भारतीय रंगमंच के संदर्भ में अभिनय की स्थिति भी अन्य तत्त्वों से निर्धारित रही है। निस्सदेह हमारे देश में अभिनय प्रतिभा की कमी नहीं, बल्कि प्रत्येक प्रदेश में, प्रत्येक भाषाई रंगमंच में, उसकी पर्याप्त प्रचुरता है। देश के कोने-कोने में, प्रत्येक बड़े नगर और छोटे कस्बे में, नाटक खेलने के शौकीन, उत्साही अभिनेता पर्याप्त संख्या में मौजूद हैं। व्यावसायिक रंगमंच के सर्वथा अथवा प्रायः अभाव में भी, देशभर में स्कूलों, कालेजों, विश्वविद्यालयों में, तथा उनके बाहर भी, अव्यावसायिक शौकीन मंडलियाँ उत्साही अभिनेताओं के कारण ही चलती हैं। किंतु स्वाभाविक जन्मजात अभिनय वृत्ति और उत्साह—संभवतः केवल ये ही दो पूँजियाँ आज भारतीय अभिनय के पास हैं। अन्यथा दीर्घकालीन जीवंत परंपरा और प्रशिक्षण, समर्थ और कुशल अभिनय के ये दोनों ही स्रोत हमारे देश में इतनी अनिश्चित अवस्था में हैं कि अधिकांश मंडलियों का अभिनय प्रारम्भिक स्तर से ऊपर नहीं उठ पाता, और यदि बीच-बीच में उसकी कुछ उपलब्धि होती है तो वह केवल सहज उत्साह और गहरे लगाव के कारण ही।

अभिनय की परंपरा के ही प्रश्न को लें तो एक बात स्पष्ट है कि संस्कृत नाटक के उत्कर्ष के युग की अभिनय पद्धतियों से हमारा सम्पर्क लगभग टूट गया है। उन पद्धतियों का कुछ रूप हमारी नृत्य शैलियों या नाट्य प्रकारों में, जैसे कथकली कूडियाट्टम, भरतनाट्य, अथवा कूडियट्टम, रास, यक्षगान में ही बाकी रह गया है। पर उसमें से अधिकांश नृत्य के साथ सम्बद्ध है और मूल रूप से एक ऐसी नाट्यदृष्टि का अंग है जिसे संपूर्णतः समझे और सीखे बिना, उसका

आधुनिक नाटकों के अभिनय में उपयोग संभव नहीं और वह इसीलिए होता भी नहीं है। अभिनय की एक अन्य परंपरा लोक नाट्यों में उपलब्ध है, जैसे यात्रा, भवई, नौटंकी, ख्याल, माच, तमाशा आदि में। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में जब विदेशी प्रभाव से आधुनिक नाटक और रंगमंच का प्रारम्भ हुआ, तो इन लोक नाट्य रूपों की अभिनय पद्धतियों, रूढ़ियों और व्यवहारों का देश के विभिन्न भाषाई रंगमंचों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा जो बहुत दिनों तक पारसी शैली की, तथा उसी जैसी देश की अन्य भाषाओं की, मंडलियों के प्रदर्शनों में प्रकट होता था।

किन्तु क्रमश: पश्चिमी नाटकों के यथार्थवादी प्रभावों से, फिल्मों के प्रभाव से, तथा अपनी विशिष्ट परिस्थितियों के दबाव और विकास के परिणामस्वरूप, देश के विभिन्न भागों में अभिनय की विशिष्ट शैलियाँ बन गयीं। जहाँ यह रंगमंच व्यावसायिक स्तर पर अपेक्षाकृत स्थायी और सक्रिय रहा, वहाँ अभिनय की ये शैलियाँ-पद्धतियाँ आज भी किसी न किसी रूप में मौजूद हैं, जो किसी हद तक अभिनय की एक प्रचलित परिपाटी की सूचक हैं। किन्तु जैसे हिन्दीभाषी प्रदेशों में, पारसी रंगमंच के विघटन के बाद अभिनय की कोई शैली सामने नहीं रह गयी, और उसके बाद नाटक मंडलियों में अभिनय की पद्धति या तो उस पुरानी शैली के थोड़े-बहुत परिचित लोगों के निर्देश से, या समकालीन बंगला नाटकों की अभिनय शैली के आधार पर, बनती रही है। बहुत से हिन्दीभाषी नगरों में प्राय: शौकिया नाटक मंडलियाँ प्रारम्भ करने और चलाने का श्रेय बंगालियों को ही है, उन्हीं के अनुकरण में और बहुत बार तो उन्हीं के निर्देशन और संचालन में, हिन्दी नाटक भी खेले जाते रहे हैं। फलस्वरूप हिन्दी अव्यावसायिक नाटक मंडलियों की अभिनय शैली बंगला रंगमंच की अभिनय शैलियों के साथ-साथ चलती रही है। कालांतर में फिल्मों का प्रभाव बड़ा नियामक हो गया और फिर पारसी शैली तथा फिल्मों के मिले-जुले रूप पृथ्वी थिएटर्स का प्रभाव पड़ा, जिसने हिन्दी नाटकों में अभिनय का स्वरूप निर्धारित किया।

दूसरे महायुद्ध के दिनों से, विशेषकर उसके बाद से, कुछ तो गहरी यथार्थवादी प्रवृत्तियों के दबाव के कारण, और कुछ अंग्रेजी नाटकों के बड़े-बड़े नगरों में प्रदर्शनों के कारण, भारतीय भाषाओं के नाटकों में पुरानी शैलियों की कृत्रिमता, अतिरंजना, बाह्यपरकता आदि को छोड़कर, सहज-स्वाभाविकता, आत्मीयता और भावना चरित्र तथा व्यवहार के गहरे सत्य को, सहज यथार्थ रूप को, अभिनय में लाने का प्रयास हुआ। देश की विभिन्न भाषाओं के रंगमंचों पर अभिनय आज स्वाभाविकता, सहजता और व्यवहार तथा भावना की सचाई को अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति के ही विभिन्न स्तरों पर है, चाहे वह

व्यावसायिक मडलियो मे हो चाहे सर्वथा शौकिया मडलियो मे। और इन प्रवृत्तियो के भी अलग अलग भाषाओ मे अलग अलग मिश्रण और साथ ही अलग-अलग रूप, चरण, और स्तर दिखाई पडते हैं। बँगला, मराठी, तमिल, मलयालम गुजराती और हिन्दी नाटको के प्रदर्शन देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। वास्तव मे विभिन्न भाषाओ के रगमच पर अभिनय शैलियो और पद्धतियो के विकास तथा मौजूदा रूपो का अध्ययन बडा रोचक और उपयोगी कार्य होगा।

किन्तु इतना स्पष्ट है कि हमारे रगमच पर अभिनय की परपरा न तो बहुत पुष्ट हो सकी है और न बहुत विकसित ही। वह अधिकाशत साधारण यथार्थवादी या भावुकतापूर्ण आवेगप्रधान नाटको को प्रस्तुत करने मे ही समर्थ हो पाती है। सयत, सतुलित और सूक्ष्म भावनाओ को अभिव्यक्त करने के लिए, अथवा आधुनिक जीवन की जटिलता, उलझन और तीव्र विसगतियो को प्रस्तुत करने के लिए, विभिन्न प्रकार की अभिनय शैलियो और पद्धतियो पर उनका विकास होना अभी बाकी है। इस सबध मे यह बात उल्लेखनीय है कि बँगला मे शभु मित्र के प्रदर्शनो से पहले रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाटको का प्रदर्शन सफल और प्रभावकारी नही हो सका था, क्योकि उन्हे प्रचलित अभिनय शैली मे प्रस्तुत करने से वे बडे फीके और निर्जीव लगते थे। शभु मित्र ने *उन नाटको के लिए, विशेषकर 'रक्त करबी', 'राजा' जैसे नाटको के लिए*, अधिक सूक्ष्म रीति-बद्ध और अभिव्यजनापूर्ण अभिनय शैली विकसित की, तभी वे उन्हे उनकी पूरी सक्षमता और अर्थवत्ता मे सप्रेषित कर सके। 'राजा' के प्रदर्शन मे उन्होने नाटक के अनुरूप ही यात्रा की अभिनय शैली के कुछ तत्त्वो का बडा कल्पनाशील और प्रभावी उपयोग किया है। पर ऐसे उदाहरण इक्का-दुक्का ही हैं, और सामान्यत भारतीय रगमच मे अभिनय-सबधी प्रयोग और चिन्तन दोनो मे ही बहुत कल्पनाशीलता का परिचय नही मिलता।

जहाँ तक अभिनय के प्रशिक्षण का प्रश्न है वह तो परपरा-सबधी स्थिति से भी अधिक निराशाजनक है। देश की विभिन्न भाषाओ मे अभिनय के प्रशिक्षण के कोई स्तरीय और सार्थक केन्द्र नही है। बँगला मे रवीन्द्र भारती तथा गुजराती मे बडौदा विश्वविद्यालय मे नाट्य प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम कई वर्षों से चले आते हैं, और हाल ही मे पजाबी विश्वविद्यालय ने पटियाला मे नाटक का एक विभाग खोला है। पर इन सबका स्तर प्राय अत्यन्त ही निम्न और कल्पना-विहीन हाथो मे है। और इसलिए उनका कोई उल्लेखनीय प्रभाव नही है। दिल्ली मे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय मे देश की सभी भाषाओ के छात्र लिये जाने की व्यवस्था है, यद्यपि उसमे नाट्य प्रदर्शन केवल हिन्दी मे होते हैं। ऐसी स्थिति मे *हिन्दी को छोड कर अन्य भाषा बोलने वाले छात्रो का अभिनय-सबधी* प्रशिक्षण बहुत दूर तक नही जा सकता। हिन्दी-भाषी छात्र अवश्य कुछ सीम

पाते हैं, पर उनकी भी कठिनाइयाँ हैं, जिसका कुछ विवेचन इस पुस्तक में अन्यत्र किया गया है। पर इतने बड़े और इतनी भाषाओं वाले देश में कहीं भी अभिनय प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था का अभाव भारतीय रंगमंच के विकास में, विशेषकर प्रदर्शन के स्तर की उन्नति में, कितनी बड़ी बाधा है यह सहज ही समझा जा सकता है।

देश के अधिकांश भागों में, विशेषकर हिन्दीभाषी प्रदेश में आज जो अभिनय का रूप है उसमें कोई शैली नहीं है और न वह विभिन्न प्रकार के नाटकों और उनमें अभिव्यक्त संश्लिष्ट जटिल अनुभूतियों को मूर्त करने में समर्थ है, बल्कि मूलतः यह उत्साही अभिनेताओं के आत्मप्रदर्शन के स्तर से बहुत आगे नहीं बढ़ पाती। अधिक से अधिक वह मनोरंजन या दिलबहलाव का साधन है। प्रायः उसके पीछे कलात्मक चेतना का अभाव होता है, इसलिए किसी भी सर्जनात्मक कर्मी के लिए आवश्यक अनुशासन और आत्मसंयम की भी कमी होती है। अभिनेता प्रायः अपने कार्य के विषय में गम्भीर भी नहीं होते और न जिम्मेदार ही। वे नियमित रूप में समय से पूर्वाभ्यास में शामिल नहीं होते, अधिकांश मंडलियों में पूरे नाटक का एक साथ पूर्वाभ्यास एकाध बार से ज्यादा कभी नहीं हो पाता। बहुत से अभिनेता तो रंगमंच पर प्रदर्शन के समय ही 'जमा देने' या 'मार देने' में यकीन करते हैं, वे अपना पाठ कंठस्थ तक नहीं करते, निर्देशक की बताई हुई गतियों को याद नहीं रखते, उन्हें मंच पर बदल देते हैं, इत्यादि। अपने शरीर और कंठ को अभिनयोपयुक्त बनाये रखने के लिए तो वे शायद ही कोई प्रयत्न या परिश्रम करते हों। अधिकांश नाटक एक-दो चार बार से अधिक नहीं खेले जाते, इसलिए लगातार प्रदर्शन प्राप्त अनुभव भी नहीं आ पाता।

इस प्रकार कुल मिलाकर अभिनय बाह्य, ऊपरी और सतही रह जाता है, और रोमैंटिक, भावुकतापूर्ण, अथवा अतिरंजित ही रहता है। घटनाओं, प्रसंगों और स्थितियों की गहराई में जाकर चरित्रों के व्यक्तित्व के विभिन्न स्तरों और पर्तों को उभारने के लिए, भावनाओं के विभिन्न सूक्ष्म रूपों और आयामों को प्रकट कर सकने के लिए, जहाँ एक ओर किसी भी अन्य सर्जनशील कर्मी की भाँति जीवन के अनुभव की गहराई चाहिए, वहीं अभिनेता के अपने अभिनय तंत्र—शरीर और कण्ठ—का अत्यंत संवेदनशील, नियन्त्रित और प्रबुद्ध होना भी आवश्यक है। पर भारतीय रंगमंच की परिस्थितियों में यह अभी अत्यंत ही दुर्लभ है। अधिकांश अभिनेता फिल्मी ढंग से 'सितारों' के आदर्श पर चलते हैं। फलस्वरूप अभिनय में व्यक्तिप्रधानता रहती है, पारस्परिक संवाद, सामूहिकता, नहीं आने पाती। इसलिए प्रदर्शन साधारणतः प्रभावी होने पर भी कोई गहरा समन्वित प्रभाव नहीं छोड़ पाता।

कुल मिलाकर भारतीय रंगमंच पर अभिनय का स्तर किसी गहरे और सूक्ष्म कलाबोध को अभिव्यक्त करने की दृष्टि से, आंतरिक और बाह्य दोनों कारणों से, अभी बहुत पिछड़ा हुआ और अपर्याप्त है। यह अविकसित अक्षम रंगमंच के दुश्चक्र का ही एक अंश है अभिनेता और अभिनय के स्तर में उन्नति के बिना प्रदर्शन का स्तर अच्छा नहीं होगा, प्रदर्शन का स्तर अच्छा हुए बिना अच्छे नाटक नहीं लिखे जायेंगे, और सूक्ष्म विवधतापूर्ण नाटकों के बिना अभिनेता का प्रशिक्षण कैसे होगा, उसका स्तर कैसे सुधरेगा ? भारतीय रंगमंच में इन सभी पक्षों और स्तरों पर एक साथ ही नई दिशायें खोजने और नयी लीकें बनाने की बेचैनी है। निस्सन्देह इन सबकी गति एक सी नहीं है और उनमें विकास की असमानता भी पर्याप्त है। पर एक समर्थ अभिव्यक्ति-विधा, और सर्जनात्मक-कलात्मक कार्य के एक अत्यन्त संश्लिष्ट और सक्षम माध्यम, के रूप में रंगमंच की स्थापना और स्वीकृति के लिए, एक हद तक इन विभिन्न पक्षों के विकास में सामंजस्य आवश्यक भी है और अनिवार्य भी। जैसे जैसे यह सामंजस्य उत्पन्न होगा, वैसे-वैसे ही भारतीय रंगमंच अपना वास्तविक और ठीक-ठीक परिचय भी प्राप्त कर सकेगा और समुदाय के सर्जनात्मक कार्यकलाप का एक सार्थक साधन भी बन सकेगा।

दर्शक-वर्ग

अभी तक प्रदर्शन के मूलतः आंतरिक आत्मनिष्ठ तत्त्वों की चर्चा की गई—उन पक्षों की जिनके सहारे प्रदर्शन तैयार होता है, रूपाकार ग्रहण करता है। किंतु उसका एक अन्य वस्तुनिष्ठ तत्त्व भी है—दर्शक-वर्ग। इस सम्पूर्ण विवेचन में ही बार-बार दर्शक-वर्ग के नाटक के साथ अभिन्न सम्बन्ध पर बल दिया जाता रहा है, यह कहा जाता रहा है कि रंगकला सर्जनात्मक विधा के रूप में अन्य सभी विधाओं से इस बात में मूलतः भिन्न है कि जिसके लिए वह अभिप्रेत है, सम्प्रेषित है, वह उसके सर्जन के क्षण में ही सामूहिक रूप में उपस्थित होता है। यह बात भी कही जा चुकी है कि दर्शक-वर्ग की इस उपस्थिति का नाटक और उसके प्रदर्शन दोनों के रूप निर्धारण में बड़ा योग होता है। इसी कारण नाटक का अधिक सामयिक, तात्कालिक होना आवश्यक है और प्रायः दर्शक-वर्ग की सीमायें नाटक और प्रदर्शन की सीमायें बन जाती हैं, जिन्हें तोड़ना या तो एकदम असम्भव होता है, अथवा नाटककार, निर्देशक अथवा अभिनेताओं को उसके लिए बड़े अप्रत्यक्ष, सूक्ष्म और बहुत बार उलझे हुए उपाय अपनाने पड़ते हैं। इस सम्पूर्ण विवेचन के विभिन्न प्रसंगों और संदर्भों में दर्शक-वर्ग के इस विशिष्ट योग की कई प्रकार से चर्चा की गई है। यहां हम अब भारतीय, विशेषकर हिंदीभाषी, दर्शक-वर्ग और उसकी अपेक्षाओं तथा

रुचियों के नाटक-प्रदर्शन पर पड़ने वाले कुछ विशिष्ट प्रभावों पर विचार करेंगे।

व्यावहारिक दृष्टि से भारतीय दर्शक-वर्ग को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है— ग्रामीण और शहरी। और यद्यपि साधारणतः रंगमंच की चर्चा करते समय हम शहरी रंगमंच, नाटक और उसके विभिन्न पक्षों की ही बात करते हैं, पर हमारे देश में देहातों के दर्शकों को भुलाकर रंगमंच सम्बन्धी कोई चर्चा सम्पूर्ण नहीं हो सकती। ग्रामीण रंगमंच के कुछेक महत्त्वपूर्ण बुनियादी सवालों पर इस पुस्तक में अन्यत्र विवेचन है। यहाँ भारतीय दर्शक-वर्ग की कुछ सामान्य विशेषताओं पर विचार करते समय, इतना कहना आवश्यक है कि ग्रामीण दर्शक-वर्ग अपनी रुचियों और संस्कारों में, अपनी रंगमंच-सम्बन्धी अपेक्षाओं में, अभ्यासों और व्यवहारों में, शहरी दर्शक-वर्ग से बहुत भिन्न है। उसी के अनुरूप देश के प्रत्येक भाग में, ग्रामीण रंगमंच के नाट्य रूप उनकी प्रदर्शन पद्धतियाँ और उनकी समस्यायें भी अलग हैं। अभी तक ऐसे नाट्य रूप विकसित नहीं हो पाए हैं जो शहरी और देहाती दोनों श्रेणियों के दर्शक-वर्गों के लिए सामान्य हो सकें, और देश के सामाजिक आर्थिक विकास की मौजूदा स्थिति में इसकी बहुत तात्कालिक सम्भावना भी नहीं दीख पड़ती। जब तक देहातों का आधुनिकीकरण और औद्योगीकरण किसी हद तक नहीं हो जाता, जब तक शिक्षा का अधिक व्यापक प्रसार नहीं होता, सामाजिक ढाँचे तथा सम्बन्धों में और परिवर्तन नहीं होता, तब तक यह कठिन ही है, और तब तक देहाती दर्शक-वर्ग शहरी दर्शक-वर्ग से सर्वथा भिन्न रहेगा। विभिन्न प्रदेशों में लोक नाट्य किसी हद तक इन दोनों के बीच सामान्य कड़ी बन सकते हैं, और तमाशा तथा किसी हद तक शायद जात्रा में पिछले कुछ वर्षों में यह सम्भावना उत्पन्न भी हुई है। पर बड़े पैमाने पर लोक-नाट्यों के शहरी रंगमंच के महत्त्वपूर्ण अंग बनने में अभी कई कठिनाइयाँ हैं जिनका कुछ विश्लेषण अन्यत्र किया गया है। किन्तु चूँकि देहातों से निरन्तर बड़ी संख्या में लोग शिक्षा के लिए, रोजगार के लिए, तथा अन्य कारणों से, शहरों में जाकर बसते हैं, वे भी कम से कम संभावना के रूप में शहरी दर्शक-वर्ग में सम्मिलित होते जाते हैं। बहुत से नवयुवक और छात्र जो शहरों में नाटकों के दर्शक हैं, या हो सकते हैं, देहातों से आते हैं और अपने साथ अपने परिवेश की रुचियाँ और संस्कार, अथवा उनके विरुद्ध प्रतिक्रियाएँ, लेकर आए होते हैं। शहरी दर्शक-वर्ग पर विचार करते समय भी हम इस समुदाय की सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकते।

आधुनिक नाटक के इस शहरी दर्शक-वर्ग की सबसे बड़ी विशेषता उसकी विस्मयकारी विविधता है। ऊपर देहातों से आए नवयुवकों-छात्रों का उल्लेख किया गया, उसके अतिरिक्त निम्न और उच्च मध्यवर्गीय परिवार, शिक्षित

शहरी विद्यार्थी समुदाय, विदेशी शिक्षा प्राप्त उच्चवर्गीय सरकारी तथा व्यावसायिक कार्यालयों के कर्मचारी बड़े-बड़े नगरों में विभिन्न भाषा-भाषी लोग, विदेशी आदि सभी है। इन सब में कुल मिलाकर रुचियों की, संस्कारों की, शिक्षा की, जीवन स्तरों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों की, और इसीलिए रंगमंच से अपेक्षाओं की स्वभावतः परस्पर इतनी भिन्नता है कि कोई एक ही प्रकार का रंगमंच इन सबको संतुष्ट नहीं कर सकता। फलस्वरूप कई प्रकार से और स्तरों के रंगमंच की माग पैदा होती है, और वह रूप भी लेता है फिल्मों जैसा ही सस्ता मनोरंजन देने वाला, कलात्मक और गहरी जीवन दृष्टि को प्रकट करने का अभिलाषी बड़े-बड़े नगरों में अंग्रेजी भाषा का, अन्य प्रादेशिक भाषाओं का। और इन सभी प्रकार के रंगमंचों के प्रायः अपने अपने अलग दर्शक होते है। एक-दो भाषा क्षेत्रों को छोड़कर साधारणतः कोई ऐसा रंगमंच नहीं जिसके सभी दर्शक हों, और न कोई ऐसा सामान्य सूत्र है जो सभी दर्शकों को बाँधता हो। एक हद तक यह सभी जगह अनिवार्य होता है। पर हमारे देश में एक ओर सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों और दूसरी ओर रंगमंच के विशिष्ट विकास के कारण, दर्शक-वर्ग के विभिन्न स्तरों के बीच यह अलगाव बहुत अधिक है और यह रंगमंच के स्वाभाविक विकास में बाधक बनता है। आवश्यकता ऐसे दर्शक-वर्ग के तैयार होने की है जो सभी स्तरों का तो हो, पर एक सामान्य नाट्यानुभूति में सहभागी होता हो और हो सकता हो। हमारा नाटक और प्रदर्शन तभी समुदाय के आवेगात्मक जीवन से, भावजगत से, ऐसी गहराई से सबद्ध हो सकता है कि वह समुदाय की नाट्याभिव्यक्ति भी हो और उसकी नाट्यानुभूति का स्रोत भी।

यह एक बुनियादी प्रश्न है, क्योंकि एक हद तक पर्याप्त दर्शकों के अभाव में भारतीय रंगमंच विकसित नहीं हो पाता। कुछेक भाषाओं की कुछेक मंडलियों को छोड़कर बाकी मंडलियों के प्रदर्शनों में पर्याप्त दर्शक नहीं आते। मंडलियों के सदस्यों और उनके सहयोगियों को घर-घर जाकर टिकट बेचने पड़ते हैं, और फिर भी किसी नाटक के तीन-चार से अधिक प्रदर्शन नहीं हो सकते, अधिकांश का तो एक ही हो पाता है। दूसरी ओर फिल्मों के अधिकांश प्रदर्शनों में हाउस भरे रहते हैं, टिकट मिलने में कठिनाई होती है, और लोकप्रिय फिल्म तो हफ्तों चलती है। बड़े-बड़े शहरों में कुछेक विदेशी प्रदर्शनों अथवा एक दो विख्यात मंडलियों के नाटकों के लिए भी टिकटों की ऐसी धूम मचती है। पर कुल मिलाकर नाटक का दर्शक-वर्ग बहुत सीमित है, नाटक अभी समुदाय के जीवन का ऐसा अंग नहीं बन सका है कि समुदाय उसके बिना रह न सके।

हिंदी नाटक के दर्शक-वर्ग को देखें तो यह स्थिति तीव्रता से स्पष्ट

हो जाती है। हिंदीभाषी जन-साधारण हिंदी फिल्मो पर पलता रहा है। उसे साधारणत नाटको का कोई अनुभव नही, और उसकी रुचि फिल्मो से इतनी निर्धारित हो चुकी है कि नाटको मे भी वह फिल्मो जैसा ही अनुभव चाहता है। इसलिए हिंदी क्षेत्र मे यदि थोडी-बहुत सफलता किसी प्रकार के नाटको को मिलती है तो वे हलके ढग के कामदी नाटक ही हैं। गम्भीर और कलात्मक नाटक न तो नियमित रूप से होते हैं, और न होने पर उनके लिए पर्याप्त दर्शक ही जुट पाते है। छोटे शहरो मे तो फिल्मो जैसे भावुकतापूर्ण अथवा प्रहसनो के अतिरिक्त अन्य प्रकार के नाटको की कोई सम्भावना ही अभी नही है। पर दिल्ली या कलकत्ता जैसे बडे शहरो मे भी गम्भीर नाटको को देखने कुछ वे ही लोग आते हैं जो अग्रेजी नाटको या विदेशी साहित्य के पाठक या प्रेमी है, या कुछ विदेशी दर्शक भी कभी-कभी आते है। पर ये दर्शक एक अन्य प्रकार की भावानुभूति और मानसिकता से जुडे हुए है और प्राय सच्चे और गहरे अर्थ मे गम्भीर हिंदी नाटक से तादात्म्य नही अनुभव कर पाते। फलत गम्भीर कलात्मक नाटक को या तो अपने आप को सस्ते स्तर पर उतारना पडता है, या किसी प्रकार की विदेशी भगिमा को अपनाना पडता है, अन्यथा उसके सर्वथा असफल हो जाने की आशका रहती है।

एक सुसस्कृत नाट्यप्रेमी समुदाय के नाटक प्रदर्शन मे समाज के स्तरो का इतना कट्टर अलगाव नही होता, और सामान्यत सार्थक नाटक एक साथ ही कई स्तरो पर विभिन्न रुचियो और सस्कारो वाले दर्शक-वर्ग को सप्रेषित होता है। सामान्यत नाटक का आवेदन न तो दर्शक-वर्ग से सबसे विकसित अश के लिए अभिप्रेत है और न सबसे निचले पिछडे हुए अश के लिए। पर चूकि एक तो इन दोनो अशो मे व्यवधान अगम्य नही होता, और दूसरे, नाटक दोनो के बौद्धिक औसत के कही बीच मे अभिव्यक्त होता है, और तीसरे, उसमे एक साथ ही कई स्तरो पर जीवन के यथार्थ का उद्घाटन होता है—इसलिए वह सम्पूर्ण दर्शक-वर्ग को स्पर्श करता है और उसे भाव विचलित करता है। दर्शक-वर्ग के बीच ऐसा एक सूत्र होना आवश्यक है, अन्यथा नाटक और उसका प्रदर्शन एक अयथार्थ रिक्ति मे लटकता रहेगा। हमारे देश मे दर्शक-वर्ग के स्तरो की यह बेपनाह दूरी भी रगमच के समुचित विकास मे बाधक है। यहाँ तक कि कलात्मक रगमच की चाह रखने वाले दर्शको की मानसिक पृष्ठभूमियाँ भी बडी विविधतापूर्ण और चढाव-उतार वाली है। फलस्वरूप नाटक लेखन और प्रदर्शन दोनो ही स्तरो पर बडी कठिनाई बनी रहती है। जब तक अत्यन्त सरल, साधारण भावुकतापूर्ण, अथवा नैतिकतापूर्ण भाव जगत तक लेखक अपने आपको सीमित रखता है, जैसा कि फिल्मो मे प्राय होता है, तब तक किसी हद तक एक प्रकार के दर्शक उसके साथ तादात्म्य कर पाते है। पर जैसे ही वह यथार्थ

की गहराई में प्रवेश करने का प्रयास करता है, दर्शक-वर्ग और उसके बीच, *तथा दर्शक-वर्ग के ही विभिन्न अंशों के बीच, कोई सामान्य सूत्र नहीं रह जाता* और नाटक प्रभावकारी नहीं हो पाता। बल्कि वास्तविक स्थिति यह है कि इस बुनियादी अन्तर्विरोध के कारण नाटक जैसी सामुदायिक विधा बहुत विकसित ही नहीं हो पाती।

फिल्म, टेलिविजन, रेडियो आदि सामूहिक माध्यमों के इस युग में रंग-मंच के लिए दर्शकों की समस्या एक प्रकार से हर देश और समुदाय में है। पर हमारे देश में रंगमंच की, विशेषकर आधुनिक रंगमंच की, जड़ें बहुत गहरी नहीं जम सकी हैं, आधुनिकता के अन्य रूपों तथा उपकरणों की भाँति वह भी बहुत ऊपरी तौर पर हमारे जीवन में स्थान पा सका है। इसी बीच फिल्मों के तथा कुछ भाषाओं में *अत्यधिक व्यवसायी प्रकार के रंगमंच के, प्रभाव से* रंगमंच का सच्चा दर्शक विघटित होने लगा है, उसकी रुचियाँ एक प्रकार के सस्तेपन से निर्धारित होती जाती हैं, और कलात्मक रंगमंच चलाने का काम कठिन होता जाता है। यों भी देश के अधिकांश भाग में केवल शौकिया रंगमंच ही सक्रिय है *जिसका आग्रह स्तर पर नहीं होता,* और *जो साधारण भावुकता से संतुष्ट* हो जाता है। स्पष्ट है कि उससे संबद्ध दर्शक-वर्ग भी कलात्मक स्तर से अधिक भावुकता की माँग करता है।

यह एक कारण है कि हमारे रंगमंच में प्राय यह बहस होती है कि किसी *तरह का रंगमंच हो तो सही, उसके लिए नियमित दर्शक-वर्ग जुटे तो सही,* कलात्मकता और स्तर की बात बाद में देखी जायगी। किंतु किसी भी शर्त पर दर्शक-वर्ग को नाटकघर में लाने का तर्क बड़ा भ्रामक और घातक है। आज के युग में एकरूपता और औसत प्रतिक्रियाओं का इतना प्रभाव है कि नाटक-जैसी *सामूहिक अभिव्यक्ति-विधा में अतिरिक्त जागरूकता के बिना* सचाई और कला-त्मक सर्जनात्मक मूल्यों की स्थापना या रक्षा नहीं हो सकती। नाटक को यदि कला-बोध का साधन और माध्यम बनना और बन रहना है तो उसे सर्जनात्मक दृष्टि पर आग्रह के साथ-साथ निरन्तर अपने लिए दर्शक-वर्ग तैयार करते रहना होगा।

यह एक प्रकार से आशाप्रद है कि हर भाषा और हर नगर में एक छोटा-सा दर्शक-वर्ग क्रमश उत्पन्न होता जा रहा है जो आसानी से सन्तुष्ट नहीं होता, जो सूक्ष्मता की ओर जाता है, और आलोचनात्मक दृष्टि से सम्पन्न है। वह *भारतीय भाषाओं के नाटक प्रदर्शनों को श्रेष्ठतम मानदण्डों से नापता है, सफल* विदेशी प्रदर्शनों से उनकी तुलना करता है और ऊँचे से ऊँचे स्तर की माँग करता है। क्रमश वह रंगमंच के बारे में अधिक शिक्षित भी होता जाता है, अभिनय, रंगसज्जा, प्रकाश-योजना आदि के बारे में उसकी जानकारी भी बढ़

गई है। एम प्रकार से दर्शक-वर्ग का यह ग्रस ही रगमच के ऊँचे सर्जनात्मक स्तर पर आग्रह करेगा और उसके सहारे ही ऐसा रगमच टिक सकेगा। साथ ही तब वह रगमच समुदाय के अन्य सवेदनशील सुरुचिसम्पन्न अशो को भी अपने दर्शक वर्ग म समेटता जा सकेगा। यदि रगमच को कला विधा के रूप म जीवित रहना है तो यह एक अनिवार्य प्रक्रिया है। सवेदनशील दर्शक-वर्ग का विकास जिस प्रकार कलात्मक प्रदर्शनो पर आश्रित है उसी प्रकार स्वय प्रदर्शनो की सर्जनशीलता और कलात्मकता सुरुचिसम्पन्न सवेदनशील दर्शक-वर्ग के सहारे, उसकी माँग और आग्रह पर ही, टिकी रह सकती है। यह एक प्रकार का दुश्चक्र जैसा है और हमारे देश की विशिष्ट परिस्थितियो मे दोनो का समानान्तर एक साथ विकास ही उसे तोडने का एकमात्र उपाय है। किंतु कोई भी रगमच अपने दर्शक-वर्ग के प्रति उदासीन रहकर, उसके स्तर रुचि और आग्रह की उपेक्षा करके, अपने आप को न केवल सार्थक नही बना सकता बल्कि अपना अस्तित्व बनाए रखना भी उसके लिए कठिन होगा।

नाटकघर

प्रदर्शन के कुछ मूलभूत आतरिक और बाह्य पक्षो की यह चर्चा हमे उस स्थल पर ले आयी है कि हम प्रदर्शन के एक अन्य बडे महत्त्वपूर्ण अग रगशाला, प्रेक्षागृह या नाटकघर के बारे मे भी कुछ विचार कर सकें, जहाँ नाटककार की कृति का अभिनेताओ तथा अन्य रगशिल्पियो के माध्यम से दर्शक-वर्ग से साक्षात्कार होता है। प्रदर्शन के लिए किसी न किसी प्रकार का, खुला या बद, स्थायी अथवा अस्थायी, छोटा या बडा, रगभवन और उसमे एक मच अथवा रगस्थल सर्वथा आवश्यक है, जिसके बिना नाटक को जीवत रूप नही दिया जा सकता। और यह महत्त्वपूर्ण बात है कि ससार मे कही भी नाटक और रगमच की चर्चा नाटकघर या रगस्थल की चर्चा के बिना अधूरी ही रहती है, चाहे वह भरत का 'नाट्यशास्त्र' हो अथवा प्राचीन यूनानी नाटक का विवेचन। वास्तव मे नाटक और अभिनय प्रदर्शन का स्वरूप बहुत हद तक नाटकघर के स्वरूप से निर्धारित होता है। सभी तरह के नाटक सभी तरह के नाटकघरो और उनके मचो पर नही प्रस्तुत किये जा सकते, और नाटक लेखन से लगाकर अभिनय और मचीकरण की तदनुसार रूढियाँ, पद्धतियाँ, कार्यविधियाँ नाटकघर और मच के अनुसार बनती है और उनमे परिवर्तनो के साथ बदलती जाती है। यूनानी नाटक की रचना शैली, उनके अभिनय का ढग और उनके प्रदर्शन की बहुत-सी रूढियाँ यूनान के विशाल, प्राय गोलाकार नाटकघरो की, जिसमे बीस हज़ार तक दर्शक बैठ सकते थे, और उसके एक सिरे पर गोलाकार रगस्थल की, उपज थी। इसी प्रकार सस्कृत नाटको मे प्रयुक्त बहुत-सी कार्यपद्धतियाँ उनके प्रेक्षागृह की परि-

कल्पना से जुड़ी हुई है। शेक्सपियर के नाटकों का रूपबंध बहुत कुछ उस युग के नाटकघरों की बनावट से भी निर्धारित है, और योरप में परवर्ती नाटक और रंगमंच के विकास के साथ नाटकघरों के निर्माण, आकार और रूप में निरंतर परिवर्तन होते रहे हैं। अपने ही देश के लोक नाटक एक प्रकार के नाटकघर या रंगस्थल के लिए उपयुक्त है, पारसी शैली के तथा उस-जैसे ही अन्य भाषाओं के पौराणिक नाटक एक अन्य प्रकार के नाटकघर की अपेक्षा करते हैं, और आज के नाटकों का प्रदर्शन अनिवार्य रूप से कुछ भिन्न प्रकार के नाटकघरों की माँग करता है। यहाँ पश्चिम में नाटकघरों का इतिहास अथवा उनके निर्माण के प्राविधिक विवेचन का उद्देश्य नहीं, किंतु अपने देश में आज नाटकघर किस हद तक और किस रूप में नाटक लेखन और प्रदर्शन तथा इस प्रकार समस्त रंग-मंचीय गतिविधि को प्रभावित करते हैं, इस पर कुछ विचार करना आवश्यक जान पड़ता है।

हमारे देश में संस्कृत युग के किसी प्रेक्षागृह का कोई अवशेष नहीं मिलता, यद्यपि उनके विभिन्न प्रकारों के विस्तृत विवरण, मापजोख और निर्माण विधियाँ 'नाट्यशास्त्र' में दी हुई हैं। मध्य प्रदेश की रायगढ़ पहाड़ी की सीताबेंगा और जोगीमारा गुफाओं के बारे में कहा जाता है कि वे प्राचीन रंगशाला का कोई प्रकार प्रस्तुत करती हैं, किन्तु सम्भवतः वे नृत्य गान अथवा काव्यपाठ आदि के लिए प्रयुक्त होती थीं, नियमित नाट्य प्रदर्शन के लिए नहीं। भारत का मध्य-कालीन रंगमंच नागर नहीं था और वह घुमंतू टोलियों द्वारा ही चलता था, जो अपने प्रदर्शन ग्राम या कस्बे के किसी भी खुले भाग में किया करती होंगी। धार्मिक प्रकार के बहुत से प्रदर्शन मंदिरों के प्रांगणों में हुआ करते थे। देश के कई भागों के, विशेषकर दक्षिण के, मंदिरों में ऐसे नाट्य मंडप निर्मित हैं जिनमें नृत्य और नाट्य के प्रदर्शन होते हैं।

हमारे देश में नियमित रूप से नाटकघरों का निर्माण उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आधुनिक नाटक के प्रारम्भ होने पर ही हुआ। उस समय भारत के विभिन्न नगरों में ऑपेराघरों जैसे नाटकघर बने जिनमें बीसवीं शताब्दी में फ़िल्मों के प्रारम्भ होने तक नाटक होते रहे। पर फ़िल्मों के प्रारम्भ के साथ-साथ इनमें से अधिकांश सिनेमाघरों में परिवर्तित हो गये। और तब से लगाकर आज के कुछ ही वर्ष पहले तक बंगाल में चार-पाँच नाटकघरों को, और बंबई में भांगवाड़ी थिएटर को, और दक्षिण भारत में कहीं एकाध को छोड़कर, सारे देश में कोई ऐसा नाटकघर नहीं था, जिसमें कोई नियमित मंडली निरन्तर नाटक करती हो। बंगला नाटक के सिवाय अन्य सभी भाषाओं का रंगमंच बेघर रहा है, अधिकांश मंडलियाँ घुमंतू रही हैं जो जहाँ जाती वहीं स्थानीय सिनेमाघर में या शामियाना-पंडाल बनाकर नाटक करती थीं। स्पष्ट है कि इन मंडलियों

वा उद्देश्य लोगो का मनोरजन करके पैसा कमाना मात्र था, रगशिल्प के विकास या कलात्मक स्तर की प्राप्ति की न तो उन्हे चिन्ता थी और न परिस्थितियो मे वह सभव ही था। ये मडलियाँ जब कभी सिनेमाघरो को नाटक के लिए किराये पर लेतीं तो उन्ह भारी किराया देना पडता था।

अव्यवसायी या शौकिया मडलियो के लिए भी कही कोई नाटकघर न थे। उनके नाटक भी स्कूल-कालजो के अथवा अन्य सस्थाओ के सभा भवनो मे ही खेले जाते, जिनमे प्रदर्शन के लिए अधिकाशत कोई सुविधा न होती। इन परिस्थितियो मे नाट्य प्रदर्शन का स्तर ऊँचा उठ सकना असभव ही था।

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भी, जहाँ तक नियमित व्यवसायी स्तर पर नाटक प्रदर्शन का प्रश्न है, इस स्थिति मे कोई विशेष सुधार नही हुआ है। एकाध अपवाद को छोडकर कही किसी व्यवसायी मडली ने कोई नाटकघर नही बनाया है। कलकत्ते की बहुरूपी जैसी विख्यात मडली के लिए भी कोई नियमित नाटकघर उपलब्ध नही है जहाँ वह नियमित प्रदर्शन कर सके, और उसे अपने प्रदर्शन या तो न्यू एम्पायर सिनमा हाल मे या पडालो मे ही करने पडते हैं। ऐसी अवस्था मे न तो वह एक स्थायी मडली का रूप ले पाती है, न उसके पास समुचित पूर्वाभ्यास तथा अन्य प्रयोगो की सुविधा है, और न अपना साज-सामान जमा करके रख सकने का स्थान है। बहुत ऊँचे स्तर का स्थायी प्रकार का कार्य इन परिस्थितियो मे कैसे और कब तक सभव है ?

अव्यवसायी अथवा अनियमित मडलियो के उपयोग के लिए अवश्य पिछले दस-बारह वर्ष मे प्रमुख नगरो मे कुछेक नाटकघर बने है। निस्सदेह थोडे-बहुत दिनो के लिए व्यवसायी मडलियाँ भी इन्हे किराये पर ले सकती है। पर मूलत इनके किराये इतने अधिक हैं कि किसी व्यवसायी मडली को उनमे प्रदर्शन करके अधिक बचत की आशा नही होती। इसलिए उनके बनने से नियमित मडलियो की स्थापना को कोई विशेष प्रोत्साहन नही मिला है। इसके अतिरिक्त इनमे से अधिकाश भवनो मे कोई न कोई दोष हैं, किसी का रगमच चौडाई या गहराई मे छोटा है, तो किसी मे पार्श्वस्थान इतना कम है कि अभिनेताओ के आने-जाने की जगह नही, किसी मे शृ गारघर कम है या छोटे हैं या मच से बहुत दूर बने हैं, तो किसी मे प्रकाश यत्रो के लिए स्थान ठीक नही या गलत स्थल पर है—कई मे तो बत्तियाँ लगाने के भी समुचित और पर्याप्त स्थान नही। कुछ मे ध्वनिता इतनी खराब है कि सामने पाँचवी ही पक्ति के बाद कुछ सुनाई नही पडता, तो कुछ मे सीटो की दृष्टि-रेखा इतनी असतुलित है कि किनारे की दसियो सीटो से आधा रगमच कट जाता है, कुछ मे सीटे इतनी अधिक हैं कि दर्शक-वर्ग से घनिष्ठता की अपेक्षा रखनेवाले नाटक उनमे नही दिखाये जा सकते, तो कुछ मे इतनी कम हैं कि उनका किराया और भी भारी तथा महँगा पडता है। अधि

काश भवनों में वातानुकूलन नहीं हैं जिसके कारण वर्ष भर, विशेषकर गर्मी के दिनों में, नाटक करना और देखना अभिनेताओं और दर्शकों दोनों के लिए अत्यन्त कष्टदायक होता है, और न उनमें पूर्वाभ्यास आदि के लिए अलग कोई स्थान आदि है। कुल मिलाकर ये रंगभवन प्रायः साधारण प्रेक्षागृह और रंगमंच मात्र हैं, उनमें किसी भी प्रकार का नवीन प्रयोगात्मक कार्य नहीं हो सकता, उनमें चित्र-चौखटे वाले, रंगद्वार युक्त प्रदर्शन ही किये जा सकते हैं, किसी प्रकार के उन्मुक्त, खुले और कल्पनामूलक प्रदर्शन की उनमें गुंजाइश प्रायः नहीं है"।

इस संदर्भ में देश में रवीन्द्रनाथ ठाकुर की जन्म शताब्दी के अवसर पर हर राज्य की राजधानी में बनाये गये रवीन्द्र रंगभवनों का उल्लेख किया जा सकता है। निस्संदेह ये रंगभवन देश के कम से कम प्रमुख नगरों में स्थानीय तथा बाहर से आने वाली मंडलियों के लिए एक बड़े अभाव की किसी हद तक पूर्ति करते हैं। कुछेक अपवादों को छोड़कर साधारणतः ये नाटकघर अच्छे बने हैं जिनमें रंगमंच-संबंधी, प्रेक्षागृह-संबंधी, बहुत-सी आवश्यकताओं का ध्यान रखा गया है। इनकी देखभाल सरकारी विभागों के हाथ में है, जिसके फलस्वरूप सामान्यतः इतनी अव्यवस्था और लालफीताशाही का बोलबाला है कि उनकी उपयोगिता सीमित होती जाती है। नाटकघर बन जाने के बाद भी बहुत-से स्थानों में उनमें नियमित प्रदर्शनों की कोई योजना, प्रेरणा या कार्यक्रम नहीं है। बहुत बार उनका उपयोग राजनैतिक अथवा अन्य प्रकार के सम्मेलनों से लगाकर बारात ठहराने तक के लिए किया जाता है। फलतः सक्रिय सुव्यवस्थित रंगभवनों के रूप में उनकी देखभाल नहीं होती। बहुत से इतने गंदे रहते हैं कि नाटक के लिए आनेवाली मंडली को पहले तो सफाई का अभियान प्रारंभ करना पड़ता है। फिर इन रंगभवनों की पूरी देखभाल किसी एक अधिकारी अथवा विभाग के पास नहीं होती। चाबियाँ एक के पास होती हैं, बिजली की देखभाल दूसरे के पास, उसके सयंत्र का उपयोग तीसरे के पास, ध्वनिविस्तारक का नियंत्रण चौथे के पास, फर्नीचर तथा अन्य सामान का पाँचवें के पास, आदि-आदि। इनमें सबके किराये भी जितने सस्ते होने चाहिए वे उतने नहीं हैं, और उनकी व्यवस्था भी ऐसी सुगम नहीं है जो स्थानीय मंडलियों को वहाँ नियमित रूप से प्रदर्शन करते रहने के लिए आकर्षित कर सके। इस प्रकार उनके निर्माण से सरकारी सम्पत्ति में तो वृद्धि हुई है पर रंगमंच की समस्याएँ बहुत नहीं सुलझी हैं। कुल मिलाकर ये भवन भी नाटकघरों के अभाव को बहुत ही सीमित, आंशिक, रूप में ही दूर करते हैं।

वास्तव में यह समस्या रंगमंच के सामाजिक पक्ष के साथ जुड़ी हुई है। जब तक समाज में रंगमंच की आवश्यकता, सार्थकता और उपयोगिता की चेतना तीव्रतर न होगी तब तक इसका कोई समुचित समाधान नहीं हो सकता। नगरों

और कस्बो की नगरपालिकाओ की यह जिम्मेदारी है कि वे अपने क्षेत्र मे कम से कम एक नाटकघर बनवाये और उसकी उसी रूप मे देखभाल करें, अन्य कार्यों के लिए न लग जाने दें। स्थानीय नाटक मडलियो को इसके लिए व्यवस्थित रूप मे आन्दोलन करना चाहिए और नाटकघर के निर्माण को नगर के हर राजनैतिक तथा सामाजिक दल के कार्यक्रम का अग बनाये जाने पर जोर देना चाहिए। इसी प्रकार का प्रयत्न नगरो के स्कूल-कालेजो मे भी किया जा सकता है जहाँ ऐसे भवन बनें जो यदि सभव हो तो केवल नाट्य प्रदर्शनो के लिए, अन्यथा कुछ अन्य प्रकार के सम्मेलनो आदि के लिए भी, काम मे आ सके। साधारणत प्रत्येक स्कूल-कालेज मे ऐसा एक बडा भवन होता है। उसे ही यदि सुनियोजित ढग से, नाटकघर निर्माण के जानकारो के परामर्श अनुसार, बनाया जाय तो वह बहुत उपयोगी हो सकता है। इस समय जो ऐसे भवन स्कूलो-कालेजो अथवा अन्य सस्थाओ मे मौजूद हैं, या जो अब भी बन रहे है, वे बहुत कल्पनाहीन ढग से, बिना उचित परामर्श और समझ के, बन जाते हैं। फलस्वरूप उनकी उपयोगिता बहुत सीमित हो जाती है, और वे नाटकघरो के स्थानीय अभाव को कम करने मे कोई योग नही दे पाते। नाटक मडलियो पर यह दायित्व है कि वे स्थानीय स्तर पर इस विषय मे चेतना उत्पन्न करें, उसके लिए जागरूक रहकर निरतर प्रयत्न करें जिससे इस समस्या का कुछ हल निकले।

किन्तु सबसे बडा प्रयास कल्पनाशील ढग से स्वय नाटक मडलियाँ कर सकती हैं। इसका एक बहुत ही दिलचस्प उदाहरण बबई मे थिएटर यूनिट के लिए उसके निर्देशक इब्राहीम अल्काजी ने प्रस्तुत किया था। लगभग दस हजार रुपये की लागत से उन्होने बबई के अपने फ्लैट के आठ मजिले भवन की छत पर एक मुक्ताकाशी रगमच बनाया था। उसमे काठ की सीढियो पर कोई दो सौ दर्शको के बैठने की व्यवस्था थी, प्रकाश व्यवस्था के लिए एक ऊँचा मचान था और अभिनय के लिए पर्याप्त क्षेत्र तो था ही। वहाँ उन्होने अपने कई विख्यात प्रदर्शन किये जिसे बहुत-से दर्शको ने देखा और तारो भरे खुले आसमान के नीचे नाट्यानुभूति का एक सर्वथा नया ही आस्वाद प्राप्त किया। जब बबई-जैसी जगह मे नाटकघर के अभाव का यह हल हो सकता है तो अन्य शहरो मे जहाँ खुले स्थान के मिलने मे इतनी कठिनाई नही होती, ऐसा कोई उपाय क्यो नही हो सकता? मेरठ मे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के भूतपूर्व छात्र, एक उत्साही नौजवान, सुरेन्द्र कौशिक ने भी अपने घर के अहाते की खाली जगह मे छोटा-सा नाटकघर बनाने का प्रयास किया है। कलकत्ते मे भी कुछेक प्रयत्न इस प्रकार के हुए हैं। बँगला के सुपरिचित नाटककार-निर्देशक-अभिनेता रुण राय ने अपने घर मे ही एक बद थिएटर बनवा रखा था। उसमे कुछ वर्ष पहले दुर्भाग्यवश आग लग गयी, पर अपने उद्योग और नगर के अन्य नाटकप्रेमियो के सहयोग

से उन्होंने फिर उसे बना लिया है। कलकत्ते में मुक्ताकाशी रंगमंच बनाने के भी ऐसे प्रयोग हुए है, जो हर नगर में उद्योगी और कल्पनाशील नाटक मंडलियों को प्रेरणा दे सकते हैं।

यहां मुक्ताकाशी रंगमंच के बारे में कुछ और चर्चा उपयोगी होगी। हमारे देश का रंगमंच जिस अवस्था में है, और बहुमुखी सामाजिक आर्थिक विकास की जैसी तीव्र कठिनाइयाँ हर समुदाय के सामने हैं, उन्हें देखते हुए बड़े-बड़े नाटकघरों या बड़े रंगभवनों के लिए साधन जुटाना बहुत आसान नहीं है। साथ ही उसमें जितना धन चाहिए उतना जुटाना न तो साधारणतः नाटक मंडली के बूते की बात होती है और न वह मंडली के लिए बहुत उपयोगी है, क्योंकि तब उसका ध्यान रंगकार्य से हटकर अर्थ-संग्रह की ओर लग जाता है जिसके फलस्वरूप अन्य अनेक प्रकार के झमेले खड़े होने लगते है। किन्तु सामान्य सुविधाओं से युक्त मुक्ताकाशी रंगमंच और प्रेक्षागृह बनाना इतना व्यय-साध्य नहीं है और न उसके लिए साधन जुटाने अथवा उसकी देखभाल का कार्य ही इतना कठिन होगा। और उसमें कड़ी सर्दी और घनघोर बरसात के दिनों को छोड़कर बाकी समय वर्षभर प्रदर्शन किये जा सकते हैं। मगर ऐसे नाटकघरों में बहुत दर्शकों के लिए स्थान बनाने की कोशिश बहुत उपयोगी नहीं होगी। कम खर्च पर छोटे दर्शक-वर्ग तक अधिक आत्मीयता और भावसघनता के साथ संप्रेषण करना अधिक सार्थक हो सकता है। मुक्ताकाशी रंगमंच इसकी संभावनाएँ प्रस्तुत करता है, जबकि बड़े नाटकघरों को बड़े आकार का बनाने की प्रवृत्ति, कम से कम प्रारम्भ में, होना अनिवार्य है, जो कई बार अव्यवसायी मंडलियों के लिए बहुत सुविधाजनक नहीं होता, उसे दर्शकों से भरना और उसका व्यय भार उठाना कठिन हो जाता है। मुक्ताकाशी नाटकघरों के लिए खंडहरों की, पहाड़ियों की, अथवा अन्य प्राकृतिक दृश्यों की पृष्ठभूमि बड़ी प्रभावी हो सकती है। और ऐसे किसी उपलब्ध वातावरण का उपयोग करने का प्रयास अवश्य करना चाहिए।

नाटकघरों के निर्माण के संबंध में एक और चेतावनी अप्रासंगिक न होगी। प्रायः अधिकारियों तथा अन्य प्रमुख नागरिकों की प्रवृत्ति प्रेक्षागृह वाले अंश पर अधिक ध्यान देने और रंगमंच वाले अंश की उपेक्षा करने की होती है। बहुत बार प्रेक्षागृह की सजावट और उसकी सुविधाओं पर इतना अधिक धन खर्च कर दिया जाता है कि रंगमंच की पूरी आवश्यकताएँ भी नहीं जुट पातीं। नाटकघर का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश रंगमंच ही है, वहीं उस मायालोक की सृष्टि होती है जिसके आकर्षण में दर्शक खिंचा आता है, और अगर उसमें रचित जादू सशक्त है तो दर्शक कुछ कष्ट उठाकर भी बैठा रहने को तैयार होता है। इसलिए उपलब्ध साधनों में से रंगमंच की न्यूनतम अनिवार्य

आवश्यकताओं पर पहले ध्यान देना आवश्यक है। इसके लिए नाटक मडलियो को बनानेवाली सस्था के अधिकारियो को, निर्माणकर्ताओ को, पहले से समझाना होगा, अन्यथा रगमच के निरतर उपेक्षित होने का भय है।

वास्तव मे नाटकघर किसी भी रगमचीय काय का केन्द्रस्थल है जो अतत उस कार्य के स्वरूप, स्तर और और सार्थकता को निर्धारित करता है। यदि वह निरा व्यावसायिक अड्डा नही है तो उसे रगकार्य के विविध कलात्मक-सर्जनात्मक तत्त्वो का प्रेरक प्रयोग-केन्द्र बनाना सभव है। वहां वह वातावरण निर्मित हो सकता है जो एक ओर रगकार्य को गहरी जीवनानुभूति की अभिव्यक्ति से, और दूसरी ओर समुदाय के कलाबोध और जीवनबोध के व्यापक उद्योग से, जोडता है। पश्चिमी देशो म आधुनिक नाटकघर बदले हुए स्थापत्य और सौन्दर्य-बोध के साथ-साथ रगमच को नये-नये रूपो म समुदाय के जीवन से जोडने के प्रयोग-केन्द्र बन रहे हैं। उनके निर्माण मे शैलियो और उद्देश्यो की इतनी विविधता आती जा रही है कि एक ही नाटकघर मे कई प्रकार से नाटको का मचीकरण हो सकता है—सीधे सामने दर्शको को बैठाकर, मच के दो-तीन या चार ओर दर्शको को बैठाकर, मच को गोलाकार अथवा अन्य किसी रूप मे रखकर, आदि। इस प्रकार सर्वथा नये-नये रूपो और स्तरो म अभिनेता और दर्शक वर्ग के बीच सबध बनता है जिससे नाटक की सप्रेषणीयता के नये स्तर खुलते हैं। नाटकघर और रगमच के प्रति अधिक कल्पनाशील और सर्जनात्मक दृष्टि विकसित करके अभिनेता और दर्शक-वर्ग के बीच उस जड और औपचारिक सबध को तोडा जा सकता है जो हमारे देश मे सर्वत्र चित्र-चौखटा मच के कारण बना हुआ है। हमारे अपने लोक रगमच की परपराए कही अधिक खुली, प्रवाहितापूर्ण और दर्शक-वर्ग के साथ गहरी निकटता की है। नाटक मडलियां यदि नाटक घरो और रगमच की समस्याओ पर अधिक खुलेपन और रूढिमुक्त होकर विचार करें तो वे न केवल नाटकघरो के अभाव को किसी हद तक कम कर सकेंगी, बल्कि अपने रगकार्य को अधिक स्वत स्फूर्त और जीवत तथा कल्पनाशील बना सकेंगी।

संस्कृत और पश्चिमी नाटकों का प्रदर्शन

प्रदर्शन के बाह्य और आन्तरिक तत्त्वो की जो चर्चा अभी तक की गयी वह रगकार्य के सामान्य पक्षो को लेकर ही थी, उन बातो के बारे मे थी जो साधारणत किसी भी प्रकार के नाटक को प्रदर्शन के लिए हाथ मे लेने पर ध्यान मे रखनी पडती हैं। पर हमारे देश के रगकर्मियो को कुछ ऐसे नाटको का भी निरतर सामना करना पडता है जिनके प्रदर्शन मे कुछेक अन्य प्रकार की *समस्यायें अनायास प्रकट होती हैं। ये हैं सस्कृत नाटक और पश्चिमी नाटक।* इस प्रकार से ये दोनो ही हमारे रगकार्य से अनिवार्य रूप मे जुडे हुए हैं। प्रत्येक रगकर्मी को कभी न कभी सस्कृत नाटक करने न करने का निर्णय करना पडता है और पश्चिमी नाटको के प्रदर्शन तो अनिवार्यत सभी रग मडलियाँ करती ही हैं। किंतु इन दोनो परपराओ के नाटको के प्रदर्शन मे कुछ बुनियादी कठिनाइयाँ और उलझनें सामने आती हैं जिनका बहुत बार कोई समुचित हल नही मिलता। अपने देश के रगकार्य को ठीक से समझने के लिए इन दोनो ही प्रकार के नाटको के प्रदर्शन पर कुछ विस्तार से विचार उपयोगी है।

सस्कृत नाटक

यह तो स्पष्ट ही है कि सस्कृत नाट्य परपरा आज के रगकर्मी के लिए इतनी मूल्यवान होते हुए भी उसे अपने रगकार्य मे जीवत रूप म सक्रिय कर सकना अत्यत ही कठिन है। सस्कृत नाटक आज से सर्वथा भिन्न सामाजिक-*सास्कृतिक परिवेश मे, एक सर्वथा भिन्न, आज से प्राय अपरिचित-विस्मृत,* रग-दृष्टि को लेकर, लिखे गये थे। उनकी रचना-शैली, और उसमे निहित नाट्य *रूढियाँ तथा नाटकीय उद्देश्य, इस युग के लिए भिन्न ही नही, उनका प्रकार* ही सर्वथा अपरिचित है। इसी भाँति उनका दर्शक-वर्ग भी विशिष्ट और भिन्न श्रेणी का, और आज से सर्वथा अलग ढग की अपेक्षाओ वाला था। इन कारणो से सस्कृत नाटको मे निहित रगमर्म को आज पुनर्जीवित करने की समस्या एक स्तर पर विशद जानकारी है, तो दूसरे स्तर पर ऐसी अत्यन्त सूक्ष्म, सवेदनशील तथा कल्पनाशील, रगदृष्टि की भी है जो आज के रगमच और दर्शक-वर्ग को भी पहचानती हो और साथ ही मूल शैली की रगमचीय सार्थकता के प्रति आस्था-

वान भी हो। संस्कृत नाटकों को आज प्रभावी ढंग से प्रस्तुत कर सकने के लिए अतीत और वर्तमान में, परंपरा तथा प्रयोगशीलता में, गहरे स्तरों पर समन्वित आवश्यक तथा अनिवार्य है। उसके बिना संस्कृत नाटकों को आज रंगमंच पर प्रस्तुत करने के प्रयास विफल और दिशाभ्रष्ट हो जाते हैं।

पिछले दस-पंद्रह वर्षों में संस्कृत नाटकों के प्रदर्शन के जो प्रयास हुए हैं उन पर सरसरी नज़र डालने से भी यह कठिनाई स्पष्ट हो जाती है। इनमें कुछ प्रयास तो वे हैं जिनमें संस्कृत नाटकों को संस्कृत में ही प्रस्तुत किया गया। ये तो स्पष्ट ही पुनरुत्थानवादी, अथवा प्राचीन विद्या के पंडितों के प्रयास होते हैं जिनका सर्जनशील रंग-अभिव्यक्ति से कोई संबंध नहीं। नाटक-जैसी सामूहिक अभिव्यक्ति ऐसी भाषा में कभी सार्थक नहीं हो सकती जो किसी की मातृभाषा नहीं है, जिसमें अभिनेता या दर्शक-वर्ग अपना दैनन्दिन जीवन नहीं जीता। ऐसे प्रयत्न में किसी सार्थक भावाभिव्यक्ति और भावानुभूति का प्रश्न ही नहीं उठता और सम्पूर्ण प्रयास एक संग्रहालयी अचरज ही बन सकता है। इसी प्रकार संस्कृत नाटकों के कुछ प्रदर्शन नृत्य-नाट्यों की भाँति भी किए गए जिनमें नाटक की कथावस्तु को पात्र-परिकल्पना और उसके रूपबंध के सहारे नृत्य-संगीत द्वारा प्रस्तुत किया गया। पर ये प्रयत्न भी आधुनिक रंगमंच में कोई योग देने की दृष्टि से महत्त्व के नहीं हैं क्योंकि उनमें बल अभिनेता पर नहीं, नर्तक पर होता है, और उनका सम्प्रेषण गति, भाव-भंगिमा, रंगचर्या के साथ संवादों के संयोजन द्वारा नहीं होता, और इस प्रकार उनमें नाटक अपनी संपूर्ण अर्थवत्ता और मूल प्रकृति में सामने नहीं आता। इसलिए विचारणीय प्रयास केवल वे ही हैं जिनमें संस्कृत नाटकों के अनुवाद अथवा किसी प्रकार के रूपान्तर नाटकों के रूप में ही प्रस्तुत किये गये।

ऐसा प्रयास करनेवालों में हम दिल्ली के हिन्दुस्तानी थिएटर का नाम सबसे पहले ले सकते हैं। इस संस्था और संचालकों ने संस्कृत नाटकों के प्रदर्शन को अपने परम उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया था और उनका कहना था कि भारतीय नाटकों में केवल संस्कृत नाटक ही कल्पना की ऐसी उड़ान और चरित्रों का ऐसा बहुविध रूप प्रस्तुत करते हैं, जिसमें अभिनेता, निर्देशक तथा दर्शक-वर्ग सभी के लिए कुछ चुनौती मौजूद है। इस संस्था ने मोनिका मिश्रा के निर्देशन में 'शकुन्तला', हबीब तनवीर के निर्देशन में 'मिट्टी की गाड़ी', और रामा जैदी तथा सत्यु के निर्देशन में 'मुद्रा राक्षस' का प्रदर्शन किया। इन सभी प्रदर्शनों में कुछ दिलचस्प बातें होने पर भी, वे इस बात के बड़े ज्वलंत उदाहरण थे कि संस्कृत नाटकों को कैसे नहीं करना चाहिए।

इन सभी नाटकों की पहली समस्या तो अनुवाद की ही थी। संस्कृत रचना का, विशेषकर नाटक का, उसकी पूरी मानसिक, सामाजिक, सांस्कृतिक

पृष्ठभूमि को जाने समझे बिना, किसी हद तक उसके साथ गहरे तादात्म्य के बिना अनुवाद प्राय असभव है। ऐसी स्थिति मे केवल शब्दो का कलेवर हाथ लग सकता है, उनके पीछे की आत्मा नही। उर्दू, या तथाकथित हिन्दुस्तानी, म एक और आत्यतिक कठिनाई है कि वह कम से कम हिन्दी भाषी पाठक या दर्शक के मन मे मुस्लिम अथवा मुस्लिम प्रभावो से परिपूर्ण, सस्कृति से सबद्ध है, जो के इतिहास के एक विशेष युग की सूचक है। उसमे सस्कृत रचना का अनुवाद अपनी भाव-सबद्धता खो देता है, और बहुत बार तो वह उन विशेष सूक्ष्मताओ को अभिव्यक्त ही नही कर पाता जो मुस्लिम सस्कृति मे नही थी और जिनके लिए भारत भर मे प्राय सस्कृत उद्गम के शब्द और पर्याय ही अनिवार्य है, इत्यादि। जो हो, उपर्युक्त प्रदर्शनो म व्यवहृत अनुवादो मे एक प्रकार की बनावट, सतहीपन और तीव्र सरलीकरण जैसा था, जिससे अनूदित सस्कृत नाटको का काव्य, उनकी प्रगीतात्मक तरलता, और उनका विशिष्ट वातावरण नष्ट हो जाता था।

किन्तु अनुवादक होने के अतिरिक्त इन नाटको के निर्देशक भी ये लोग स्वय ही थे। इसलिए सास्कृतिक परिवेश से गहरे आत्मीय परिचय का अभाव निर्देशन म विस्फोटक तीव्रता से उभर आया। भावदशाओ की सूक्ष्मता, उनके पीछे स्वीकृत रूढियाँ और मान्यताएँ, उनको नियमित करने वाला सौन्दर्य बोध, रस-सबधी साहित्यिक-सैद्धान्तिक दृष्टि, विभिन्न चरित्रो का अशत रूढि सम्मत अशत स्वत-स्फूर्त व्यक्तित्व, उनके सबधो के सामाजिक सूत्र, आदि आदि, अनेक महत्त्वपूर्ण पक्षो पर इन प्रदर्शनो मे कोई ध्यान नही दिया जा सका था। एक मोटे उदाहरण के तौर पर, 'मिट्टी की गाडी' म वसतसेना अपने सपूर्ण व्यक्तित्व म एक बाज़ारू औरत लगती थी, गणिका नही। गणिका की अवधारणा और उसके पीछे जटिल सामाजिक सबधो की स्थिति का मिट्टी की गाडी' मे इतना अधिक सरलीकरण हो गया था कि वह फूहड और अशिक्षित लगता था। शकुन्तला' के प्रदर्शन मे शकुन्तला का व्यक्तित्व और आचरण तो किसी भी निर्देशक और अभिनेत्री के लिए चुनौती है। आजतक उसके जितने भी रूपायन हुए है उनमे वह या तो एकदम बनावटी लगती है या सस्ती प्रकार की लडकी। उसका चरित्र कैसे सूक्ष्म और सुकुमार भाव-सतुलन पर स्थित है, इसे ग्रहण करने के लिए साधारण से कुछ अधिक सवेदनशीलता और अध्यवसाय चाहिए। हिन्दुस्तानी थिएटर द्वारा सस्कृत नाटको के प्रस्तुतीकरण मे वह सूक्ष्म समझ नही थी।

दूसरी ओर, उनके निर्देशक इतना समझते थे कि वे यथार्थवादी नाटक नही है। फलस्वरूप उनके अयथार्थवादी स्वरूप की अभिव्यक्ति करने के लिए, उन्होने पश्चिमी, मुख्यतया ब्रेख्ट की, प्रचलित पद्धतियाँ अपनायी। हबीब तनवीर

ने 'मिट्टी की गाड़ी' को एक 'नयी नौटंकी' कहा और उसमें बहुत सी लोक संगीत की धुन भरी, एक विशेष प्रकार से रीतिबद्ध गतियों का प्रयोग किया, प्रारंभ में सूत्रधार को ओवरकोट और पाइप लेकर मंच पर प्रस्तुत किया (यह भूमिका स्वयं हबीब ने की थी)। इस प्रकार 'मृच्छकटिक' की कहानी पर आधारित एक नया रंगारंग दिलचस्प तमाशा तो हो सका पर संस्कृत नाटक का उसमें कहीं पता न था—न चरित्रों की परिकल्पना और उनके मंचीय रूपायन में, न उनकी गतियों और व्यवहारों में न नाटक के सांस्कृतिक परिवेश में और न उसकी विशिष्ट सौंदर्य-दृष्टि में। कुल मिलाकर 'मुद्राराक्षस' भी एक दिलचस्प ब्रेख्टीय अभ्यास भर था, संस्कृत नाटक नहीं और मोनिका मिश्रा का 'शकुंतला' तो कुछ भी नहीं था। इब्राहीम अल्काजी ने एक बार मराठीभाषी अभिनेता मंडली के साथ हिंदी में 'अभिज्ञान शाकुंतल' के प्रदर्शन का प्रयास किया तो उनकी रीतिबद्धता भी पश्चिमी ढंग की होने के कारण और पंक्तियों के वाचन, पाठ और उच्चार में अत्यधिक कृत्रिमता तथा भावहीनता के कारण प्रदर्शन सर्वथा असफल रहा था।

किंतु इसके बावजूद यह बहुत से संवेदनशील और मर्मी रंगस्रष्टा मानते हैं कि संस्कृत नाटक केवल संग्रहालय के पदार्थ न तो अपनी मूल परिकल्पना में थे, और न आज ही हैं। उन्हें जीवंत रंगमंचीय कृति के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, उसके लिए उपयुक्त मानसिक तैयारी और दृष्टि चाहिए। इसका कुछ प्रमाण, चाहे जितने अपर्याप्त और अधूरे रूप में सही, शांता गाँधी के निर्देशन में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के छात्रों द्वारा प्रस्तुत 'मध्यम व्यायोग' में मिला। बहुत-सी सीमाओं और कठिनाइयों के बावजूद, शांता गाँधी ने गतियों के संयोजन, संवादों के पाठ, उच्चार और गायन, तथा अभिनय के रूपायन में आधुनिक नाटक की विश्वसनीयता के साथ कुछ नाट्यशास्त्रीय रूढ़ियों और पद्धतियों को समन्वित किया। फलस्वरूप पात्र सजीव लगे और उनमें एक ऐसी अयथार्थता भी रही जो उन्हें एक भिन्न प्रकार के सांस्कृतिक-रंगमंचीय वातावरण में प्रतिष्ठित करती थी। पूर्वरंग के विशेष संयोजन द्वारा वे ऐसे वातावरण का निर्माण कर सकीं जो अयथार्थ तो था पर अपने भीतर एक विश्वसनीय लोक, चाहे वह केवल कल्पनालोक ही सही, जीवंत रूप में साकार करता था। संगीत का भी उपयोग वर्णनात्मक न होकर व्यंजनापूर्ण था। निस्संदेह प्रदर्शन निर्दोष न था और उसे संपूर्णतः विश्वसनीय तथा कलात्मक बनाने के लिए और अधिक साधन, समय तथा कल्पनाशील प्रयास आवश्यक था पर फिर भी उसने यह संभावना तीव्रता से स्पष्ट कर दी कि संस्कृत नाटक हमारे आज के रंगमंच के जीवंत अङ्ग बन सकते हैं और उनका प्रदर्शन न केवल संवेदनशील, विदग्ध दर्शकों को एक विशिष्ट प्रकार की नाट्यानुभूति सुलभ कर सकता है, बल्कि वे

आधुनिक भारतीय रंगमंच के भावी विकास की दिशा में बड़ा सार्थक और मूल्यवान योग दे सकते हैं। उनके द्वारा हमारी सैकड़ों वर्षों की खोई हुई परंपरा एक संदर्भ और परिप्रेक्ष्य के साथ सर्जनशील कलात्मक रूप में फिर से साकार हो सकती है।

वास्तव में आधुनिक भारतीय रंगमंच के लिए संस्कृत नाटक साहित्य, नाट्यशास्त्र तथा प्राचीन प्रदर्शन पद्धति तीनों का ही महत्व अद्वितीय और अनन्य है फिर आज उसे अपने लिए सार्थक और जीवंत बना सकने में कितनी ही कठिनाइयाँ और उलझनें क्यों न हों। यह हमारे देश के सांस्कृतिक जीवन के अन्तर्विरोध की ही एक अभिव्यक्ति है कि बहुत-से रंगकर्मियों और नाटक-प्रेमियों को संस्कृत नाटक आज निरर्थक और उपेक्षणीय लगता है, जबकि पश्चिमी देशों के कई कल्पनाशील रंगचिंतक और रंगस्रष्टा अपने रंगमंच को जीवंत और अभिव्यंजनापूर्ण बनाने के लिए प्राच्य और भारतीय रंगमंच की ओर उन्मुख होते हैं।

संस्कृत नाटकों को ही लें तो उनमें एक अत्यन्त उच्च सर्जनात्मक स्तर के नाटक साहित्य का भंडार है, केवल साहित्य की ही दृष्टि से नहीं, रंगमंच पर प्रस्तुत करने के उपयुक्त आलेखों की दृष्टि से। 'अभिज्ञान शाकुंतल', 'मृच्छकटिक', 'मुद्राराक्षस', स्वप्नवासवदत्ता 'उत्तररामचरित', 'विक्रमोर्वशीय', 'रत्नावली', 'उरुभंग', 'भगवदज्जुकम्', 'मध्यम व्यायोग', आदि नाटक विषयगत विविधता और रोचकता के लिए, जीवन के सूक्ष्म पर्यालोकन के लिए, वातावरण-की विशिष्टता के लिए, और शैलीगत नवीनता के लिए, बड़ा व्यापक क्षेत्र प्रस्तुत करते हैं। उनमें वह काव्य-तत्त्व पर्याप्त मात्रा में है जो नाटक को नीरसता से निकालकर जीवन की गहराई में स्थापित करता है। उनमें इतने प्रकार के इतने अधिक अभिनेय पात्र हैं जो किसी भी क्षमतावान अभिनेता के लिए आकर्षण का भी कारण हो सकते हैं और चुनौती का भी। उनको मंच पर रूपायित करने का प्रयास उसके लिए गतानुगतिकता और तुच्छता से निकलकर एक कल्पनाशील संसार की सृष्टि का प्रयास सिद्ध होगा जिसमें उसकी अभिनय प्रतिभा को अभिव्यक्ति के महत्त्वपूर्ण अवसर मिल सकेंगे, क्योंकि प्रस्तुत ये नाटक अभिनेता को ही प्रधानता देते हैं और अपने संपूर्ण प्रस्तुतन के लिए अभिनेता की प्रतिभा पर ही निर्भर है। इन में भावों, स्थितियों और संपूर्ण कार्य-व्यापार में एक प्रकार की उन्मुक्तता और तरलता है जो कल्पनाशील अभिनय-संयोजन की माँग करती है। इनमें संगीत और नृत्य अथवा नृत्यात्मक गतियों के साथ नाट्य के अभिनय का ऐसा समन्वय है जो किसी निर्देशक को अपनी कल्पनाशीलता और उपज के भरपूर उपयोग का अवसर देता है। रंगसज्जा की दृष्टि से भी उनका परिवेश अत्यंत ही सूक्ष्म कलाबोध और सुरुचिपूर्ण दृश्या-

त्मक कल्पनाशीलता की अपेक्षा रखता है।

किन्तु इस सबके बाद भी यदि ये नाटक सहज ही रगमच पर जीवत नही हो पाते तो उसका कारण क्या है ? एक तो यही कि हम उन्हे या तो 'नाट्य-शास्त्र' मे लिखे हुए कट्टर नियमो के यांत्रिक और प्राय रगकल्पनाहीन प्रयोग द्वारा प्रस्तुत करना चाहते है, या पश्चिम की यथार्थवादी, अथवा प्रयोगवादी रगशैलियो के आधार पर। किन्तु ये दोनो ही रवैये मूलत अपर्याप्त और भ्रामक हैं।

सबसे पहली बात तो यह समझनी पडेगी कि वे एक विशेष सामाजिक स्थिति की, सास्कृतिक परिवेश और जीवनदृष्टि की, उपज हैं। उस पूरे सास्कृतिक-मानसिक परिवेश को गहराई से समझे बिना इन नाटको की आत्मा तक नही पहुँचा जा सकता। उनका आधार दो विरोधी स्थितियो के पारस्परिक सघर्ष की अवधारणा नही, बल्कि एक समग्र स्थिति के अपनी आतरिक गति के फलस्वरूप एक सतुलन की अवस्था मे पहुँचने की अवधारणा है। जीवन को केवल सघर्ष के रूप मे ही देखना क्यो अनिवार्य है ? सस्कृत नाटककार अपने जीवन के बोध को जिस स्तर पर स्थापित करता है, वहाँ सघर्ष और उसकी चरम विस्फोटक परिणति का प्रश्न अवातर है। जीवन मे सघर्ष है, होता है पर केवल उसी के माध्यम से, केवल उसी के सदर्भ मे, अनुभव को रखना नाटक के लिए अनिवार्य क्यो माना जाय ? एक सर्वथा भिन्न स्तर पर भी मानव सबधो के पारस्परिक सघात और उसकी गति को, व्यापार को, प्रस्तुत किया जा सकता है। सस्कृत नाटक के पश्चिमी नाटक से भिन्न इस उद्देश्य को, और उसी के अनुरूप विकसित किये गये शिल्प को, समझ कर इन नाटको के केन्द्रीय कार्य-व्यापार और उसकी गति, उनकी जटिलता तथा सश्लिष्टता और उनसे जुडे हुए उनके नाट्य रूप को, ग्रहण किया जा सकता है। उस विशिष्ट जीवन-दृष्टि और सौंदर्यबोध से विच्छिन्न करके उन पर आधुनिक यथार्थवादी अथवा प्रयोगवादी दृष्टियों का आरोप अविवेकपूर्ण ही नही है, उनके कारण ही इन नाटको का अपना विशिष्ट रग-सौंदर्य और नाट्यरूप पकड मे नही आता।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सस्कृत नाटक 'सहृदय' के लिए, एक विशेष प्रकार से प्रशिक्षित और सवेदनशील दर्शक-वर्ग के लिए अभिप्रेत थे। उनके पूरे आस्वाद के लिए किसी हद तक दर्शक मे भी उसी प्रकार की पहले से तैयारी आवश्यक है जैसी भारतीय शास्त्रीय सगीत या नृत्यो के आस्वादन के लिए आवश्यक होती है। दूसरे शब्दो मे, बडे सामूहिक प्रदर्शनो के बजाय पहले वे प्रबुद्ध दर्शक-वर्ग मे घनिष्ठता और आत्मीयतापूर्ण प्रदर्शन के लिए अधिक उपयुक्त हैं। एक बार उनको जीवत रूप मे प्रस्तुत करने की परिपाटी चल पडने पर उनके दर्शक-वर्ग का विस्तार निस्सदेह हो सकता है।

जैसा पहले भी कहा गया संस्कृत नाटकों के प्रस्तुतीकरण में पहली कठिनाई उनके रंगमंचोपयोगी अनुवादों के अभाव से होती है। संस्कृत नाटकों के अनुवाद रंगमंच से सबद्ध लोगों के द्वारा अथवा उनके सक्रिय सहयोग से होने चाहिए। साथ ही अनुवादक को न केवल संस्कृत भाषा और नाट्य रूढ़ियों की जानकारी, बल्कि स्वयं अपनी भाषा में काव्य भाषा की व्यंजनाशक्ति और उसके नाटकीय संयोजन की समझ, होना आवश्यक है, जिससे वह मूल संवादों के बहुस्तरीय संयोजन को अनुवाद में भी सुरक्षित रख सके। संस्कृत नाटकों के संवाद एक साथ ही साधारण बोलचाल, काव्यात्मक पाठ, सस्वर पाठ और गेय पद का उपयोग करते हैं, गद्य, पद्य और गीत का उपयोग करते हैं। यथासंभव अनुवाद में *यह वैचित्र्य आ सकना चाहिए। वास्तविक अभिनय के स्तर पर* इन विविध रूपों के अलग अलग प्रयोग की सार्थकता अभिनेता के मन में स्पष्ट होना आवश्यक है, साथ ही उसका अभिनय की भाषा पर पूरा अधिकार होना, संवादों के काव्यात्मक अर्थों और व्यंजनाओं के प्रति संवेदनशील और उनको अभिव्यक्त करने के लिए प्रशिक्षित होना भी आवश्यक है। तभी वह उनका निहित काव्य, *उनका बिम्ब प्रधान स्वरूप संप्रेषित कर सकेगा। इसी प्रकार की कठिनाई* रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाटकों में संवादों को बोलने में हुआ करती थी और उनकी आतरिक लय तथा उसकी सार्थकता को न पकड़ने पाने के अधिकांश बँगला अभिनेता उनको ठीक से बोल न पाते थे। वे या तो बनावटी हो जाते या निर्जीव सुनायी पड़ते। शंभु मित्र और बहुरूपी के अभिनेताओं ने बड़े धैर्य और परिश्रम से इस कठिनाई को दूर किया और अब उनके प्रदर्शनों में वे संवाद अपनी समस्त चित्रमयता, काव्यात्मकता और संश्लिष्टता के साथ ही इतने मार्मिक और प्रभावी सुनाई पड़ते हैं। संस्कृत नाटकों के संवादों के प्रस्तुतीकरण में भी इसी प्रकार की कल्पनाशीलता की आवश्यकता है।

इसी प्रकार गतियों में भी साधारण दैनंदिन चाल, लयबद्ध गति और नृत्यमूलक गतियों का सुचिंतित संयोजन चाहिए। 'नाट्यशास्त्र' में वर्णित सभी करण और चालियाँ नाटकोपयोगी नहीं हैं, बहुत-सी तो केवल नृत्य के लिए उपयुक्त हैं। वास्तव में उनके आधार पर एक नया गति विधान इन नाटकों के आधुनिक प्रस्तुतीकरण के लिए विकसित करना आवश्यक है। संभवत यही बात विभिन्न हस्तकों तथा अन्य मुद्राओं के बारे में भी कही जा सकती है। पर सबसे महत्त्वपूर्ण बात है कि वाक्, गति और मुद्रा का यह संयोजन अंतत अभिनेता के संपूर्ण व्यक्तित्व द्वारा मूल भावस्थिति के संप्रेषित होने के लिए है। *इस समस्त रीतिबद्धता के माध्यम से, और उसकी सहायता लेकर,* अभिनेता को चरित्रों की स्थितियों तथा भावदशाओं को, उनके व्यक्तित्वों को, उनके पारस्परिक संबंधों को, विश्वसनीय रूप में अभिव्यक्त करना है। रीतिबद्धता

साध्य नहीं है साधन है, और यह हर प्रकार की रीतिबद्धता के बारे में सही है। पश्चिमी शैलियों में, जैसे ब्रेख्ट की शैली में, रीतिबद्धता के साथ साथ अभिनेता को अपनी भावाभिव्यक्ति को इस प्रकार से संयोजित करना पड़ता है कि नाटक की और पात्र की भावदशा अधिकतम, बल्कि संपूर्ण, विश्वसनीयता के साथ संप्रेषित हो जाये। संस्कृत नाटकों में भी रीतिबद्धता के साथ पात्रगत स्थितियों और भावदशाओं के विश्वसनीय प्रक्षेपण आवश्यक हैं। तभी नाटक का भाव संप्रेषित हो सकेगा और रीतिबद्धता उस संप्रेषण में सहायक हो सकेगी। इस बात पर बल देना आवश्यक ही है कि अभिनेता के इन प्रयत्नों को कल्पनाशील रंगसज्जा प्रकाश-व्यवस्था, ध्वनि-संयोजन और कई बार विशिष्ट रूप-सज्जा, द्वारा तीव्रतर और संपुष्ट किया जाना चाहिए।

संस्कृत नाटकों के प्रस्तुतीकरण से संबंधित इस अत्यंत सामान्यीकृत विवेचन से भी यह स्पष्ट है कि इस कार्य के लिए अनुवादक, निर्देशक, अभिनेता-मंडली, तथा रंगशिल्पियों का अत्यंत निष्ठा और परिश्रमपूर्वक सहयोग, पूर्व-अन्वेषण तथा कल्पनाशील चिंतन तो आवश्यक है ही, विशेषकर अभिनेताओं का सुनिश्चित प्रशिक्षण अत्यंत ही आवश्यक है। इस समृद्ध किंतु विस्मृत प्राय परंपरा के अंतरंग में पैठकर उसके उपयुक्त अपने अभिनय-तंत्र को प्रशिक्षित किए बिना उसका पुनरुद्धार और पुनःसर्जन संभव नहीं है। यह कार्य चतुराई का, किसी युक्ति-समूह के कौशलपूर्वक लागू करने का नहीं, परिश्रमपूर्वक अपने आपको उसके अनुरूप ढालने का है जिसमें समय, साधन और धीरज सभी पर्याप्त मात्रा में आवश्यक हैं। कोई संवेदनशील रंगसमुदाय यदि आवश्यक साधन जुटाकर इसे कर डाले तो वह आधुनिक भारतीय रंगमंच को समृद्ध तो करेगा ही, संभवतः उसे एक अधिक सार्थक और फलदायी दिशा भी दे सकेगा।

पश्चिमी नाटक

पश्चिमी नाटक के प्रदर्शन की समस्याएँ संस्कृत नाटकों से भिन्न प्रकार की हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि पश्चिमी रंगमंच से पर्याप्त प्रभावित होने पर भी पश्चिमी नाटक बहुत सहज रूप में हमारे रंगमंच पर खप नहीं पाते, और यह प्रश्न विचारणीय है कि उनका प्रदर्शन किस रूप में हमारे नाटक लेखन और प्रदर्शन को प्रभावित करता या कर सकता है। यह तो स्पष्ट ही है कि पश्चिमी नाटकों के प्रदर्शन आम तौर पर हमारे सामाजिक जीवन और रंगमंच पर गहरे पश्चिमी प्रभाव, तथा भारतीय भाषाओं में नाटक साहित्य की क्षीणता, विशेषकर अच्छे नाटकों की कमी, के कारण ही किये जाते हैं, और वे कई रूपों में और कई प्रकार से हमारे रंगमंच से जुड़े हैं। पर फिर भी उन

का प्रदर्शन हमारे रंगमंच के लिए कई प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इन पश्चिमी नाटकों के प्रदर्शन का एक रूप तो हमारे देश का अंग्रेज़ी रंगमंच है। देश के सभी महानगरों में ऐसे अव्यवसायी दल हैं जो अंग्रेज़ी में पश्चिमी नाटक करते हैं। बल्कि कई जगह तो रंगमंचीय गतिविधि को महत्त्व-पूर्ण कार्य का दर्जा दिलाने और कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित कराने का श्रेय स्थानीय अंग्रेज़ी रंगमंच को दिया जा सकता है। अंग्रेज़ी में नाटक करने और देखने वाला समाज का संभ्रांत उच्च वर्ग ही होता था और है। इसलिए उनका रंगकार्य एक ओर सामाजिक संपर्क और परस्पर मिलने-जुलने का साधन बनता है, दूसरी ओर उसे आवारा और सिरफिरे लोगों के शौक की बजाय उपयोगी और शिक्षित सभ्य लोगों के उपयुक्त कार्य का दर्जा भी प्राप्त होता है। इसके साथ ही अंग्रेज़ी में संसार भर के उत्कृष्ट नाटक सुलभ होने के कारण, और बहुत बार उनके प्रदर्शन में समाज के सुशिक्षित सुरुचिसम्पन्न कलाप्रेमियों के भी भाग लेने के कारण, अंग्रेज़ी नाटकों के प्रदर्शन, विशेषकर स्थानीय भाषा के रंगमंच के विकास के अभाव में, अपेक्षया अधिक कलात्मक और सार्थक नाट्यानुभूति के माध्यम बन पाते हैं, और बहुत बार उनका स्तर भी ऊँचा होता है। अंग्रेज़ी नाटकों के माध्यम से नाटक लेखन और रंगमंच के क्षेत्रों में विश्व भर की नवीनतम प्रवृत्तियों, प्रयोगों और कलात्मक सूझबूझ का प्रभाव, चाहे जितने ही अनुकरणात्मक और उतरे हुए रूप में ही, समहानगरों के रंग प्रेमियों तक पहुँचता रहा है। बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता, मद्रास जैसे नगरों की कई मण्डलियों ने, और उनके कुछ कल्पनाशील प्रतिभावान निर्देशकों, अभि-नेताओं ने, भारतीय भाषाओं के रंगमंच के आगे नये परिप्रेक्ष्य और कलात्मक स्तर रखने में भी उल्लेखनीय योग दिया है। कई भारतीय भाषाओं के रंगमंच के कई वर्तमान उल्लेखनीय निर्देशक, अभिनेता, बल्कि कुछेक नाटककार तक, प्रारम्भ में अंग्रेज़ी रंगमंच से संबद्ध रहे हैं और वहीं से अनेक नये विचारों, आदर्शों और प्रतिमानों को आत्मसात् करके अब भाषाई रंगमंच में आगे आये हैं।

किंतु अंग्रेज़ी के ये प्रदर्शन चाहे जितने कलात्मक और प्रेरणादायी रहे हों, वे भारतीय रंगमंचीय कार्यकलाप का एक अत्यंत ही सीमित, कृत्रिम और अ-वास्तव पक्ष ही हो सकते हैं। रंगमंच स्वभाव से ही सामुदायिक क्रिया है जो सर्जकों और प्रमाताओं को गहराई में जाकर तभी एक दूसरे से संबद्ध कर सकती है जब वह उनकी मातृभाषा में हो, ऐसी भाषा में हो जिसमें वे सामान्यतः अपनी ज़िंदगी और गहरे से गहरा अनुभव प्राप्त और परिभाषित करते हैं और दूसरों को संप्रेषित करते हैं। ज़ाहिर है अंग्रेज़ी वह भाषा हमारे देश के लिए

नही है, चाहे समाज के कुछेक ग्रशो और व्यक्तियो का कितना ही अधिक पश्चिमीकरण क्यो न हो चुका हो। इसके अतिरिक्त अग्रेजी नाटक बुनियादी तौर पर हमारे देश के जीवनानुभव को हमारे देश के परिचित रूपो, भगिमाओ, मुद्राओ और बिम्बो मे नही प्रस्तुत करते। उनमे चित्रित सामाजिक अथवा वैयक्तिक सबध हमारे कौतूहल और जिज्ञासा के विषय हो सकते हैं पर उनका हमारे अपने ही अनुभवो तथा सबधो के साक्षात्कार या अन्वेषण का माध्यम हो सकना बहुत कम ही सभव है। और भारतीय जीवन पर अग्रेजी मे लिखे गये नाटक नही के बराबर ही हैं इसीलिए अग्रजी भाषा का रगमच हमारे जीवन के साथ किसी गहरे स्तर पर जुडा नही हो सकता और न उस रूप मे प्रभावित कर सकता है। बल्कि साधारणत तो अग्रेजी रगमच एक कृत्रिम तथा जन-जीवन से कटे हुए, बल्कि उसे तुच्छ समझने वाले वर्ग का, हमारे समाज के सत्ता, अधिकार और सुविधा प्राप्त वर्ग का, फैशनेबल कार्यकलाप ही होता है, जो वह वर्ग अपने मनोरजन के लिए, सामाजिक सपर्कों के लिए करता है। प्राय वह सामाजिक सीढियाँ चढने और अन्य कार्यों का साधन मात्र होता है, किसी गहरे और सार्थक अर्थ मे कलात्मक अभिव्यक्ति, कलात्मक सप्रेषण और सामुदायिक आत्म-साक्षात्कार का प्रयास नही। इसलिए अग्रेजी के माध्यम से पश्चिमी नाटको का भारतीय रगमच से सपर्क न तो बहुत गहरा हो सकता है और न बहुत सार्थक तथा मूल्यवान ही। भारतीय रगमच मे उनके प्रदर्शन की सार्थकता अथवा निरर्थकता का विवेचन प्रादेशिक भाषाओ के रगमच के सदर्भ मे ही करना आवश्यक होगा।

अपनी भाषा मे विदेशी नाटक करने के साथ यह प्रश्न मूलरूप मे जुडा हुआ है कि उनका अविकल अनुवाद करना चाहिए अथवा भारतीय परिवेश मे रूपान्तर। इस प्रसग मे यह निरतर उठने वाला प्रश्न है जिसका स्पष्ट ही कोई सामान्य सार्विक नियम न तो सभव है और न उचित। कुछेक नाटको का कथ्य और परिवेश सभवत इतना सामान्य होता है कि उनकी आत्मा की हत्या किये बिना उनका भारतीय परिवेश मे रूपातर किया जा सकता है, जबकि कुछ नाटको की जडें अपने परिवेश मे इतनी गहरी होती हैं कि उनका अनुवाद तक कठिन हो जाता है, रूपातर की तो बात क्या। पश्चिमी प्रेरणा से आधुनिक रगमच के प्रारम्भ के दिनो मे शेक्सपियर के नाटको का बडे पैमाने पर भारतीय भाषाओ मे रूपान्तरण हमारे रगमच पर प्रस्तुत किया गया। उसके बहुत से नाटको के तो कई-कई रूपान्तर हुए और खेले गये। पर साधारणत उनके रूपान्तर करने वालो ने उन नाटको के अति-नाटकीय कार्य-व्यापार, और उसके माध्यम से सभव अतिरजना, पर ही ध्यान दिया, उनका काव्य तथा मानव भावनाओ का अत्यत सूक्ष्म अन्वेषण उपेक्षित ही रहा। फिर भी शेक्सपियर के बहुस्तरीय पात्रो

को उस रंगमंच पर भी उतारने की कोशिश हुई, क्योंकि वे किसी भी प्रतिभावान अभिनेता के लिए बड़ी भारी संभावनाएँ और अवसर प्रस्तुत करते थे, और हमारा उस युग का वह रंगमंच प्रधानतः अभिनेता का ही रंगमंच था। किन्तु कुल मिलाकर शेक्सपियर के नाटकों के गहरे मानवीय तथा कलात्मक पक्ष का समुचित अनुभव हमारा उस समय का रंगमंच उन रूपांतरों द्वारा नहीं कर पाया। और अब प्रवृत्ति शेक्सपियर को अविकल अनुवाद में प्रस्तुत करने की ही अधिक है।

किसी हद तक यही बात मोलियर के नाटकों के बारे में भी सच है। मोलियर में भी कुछेक पात्र इतने सामान्य अथवा 'टाइप' हैं कि वे तो किसी हद तक भारतीय परिस्थितियों में खप जाते हैं, पर जिन सामाजिक-सांस्कृतिक संबंधों और प्रतिक्रियाओं पर उन नाटकों का कार्य-व्यापार, उनका हास्य और व्यंग, तथा उनकी मूल मानवीय करुणा, आधारित है, वे रूपान्तरों में विश्वसनीय नहीं रह पाती और बहुत बार केवल स्थूल परिस्थिति तो बची रहती है, उसकी समस्त सूक्ष्मताएँ रूपांतर में गायब हो जाती हैं।

पिछले दिनों प्रसिद्ध बँगला मंडली 'बहुरूपी' ने इब्सन के दो नाटकों का रूपांतर प्रस्तुत किया 'पुतुल खैला' (ए डाल्स हाउस) और 'दशचक्र' (एन एनिमी आफ द पीपल)। चेखव के एक छोटे नाटक 'एनिवर्सरी' का रूपांतर भी यह मंडली कर चुकी है। निस्संदेह इन रूपान्तरों में ऐसा सूक्ष्म कलाबोध और मूल नाटक की आत्मा के साथ ऐसा गहरा तादात्म्य स्थापित हो पाया कि मूल के सभी संवादों तक को ज्यों का त्यों रखा जा सका और फिर भी एक विश्वसनीय भारतीय परिवेश और उसमें अपनी नियति से जूझते हुए इन्सानों का प्रामाणिक लगने वाला चित्र सामने आया। बल्कि एक हद तक इब्सन के दोनों नाटकों के एक नये ही अर्थ से, उनकी तीव्र समसामयिक सार्थकता से, साक्षात्कार हुआ 'पुतुल खैला' स्त्री-पुरुष संबंधों के सच्चे ईमानदार आधार अन्वेषण बन गया और 'दशचक्र' में हर सामाजिक व्यवस्था में अंतर्निहित निहित स्वार्थों और पाखंड तथा आत्मछल के निर्मम उद्घाटन का प्रमाण मिला। पर संभवतः यह इन नाटकों की विशिष्ट भाववस्तु और इस मंडली के कार्य के पीछे गहरी कल्पनाशील और संवेदनशीलता का ही परिणाम है, जो साधारणतः बहुत कठिन होता है। किन्तु इस मंडली को भी अनुभव हुआ कि यूनानी क्लासिक त्रासदी 'राजा ईडिपस' का भारतीय रूपांतर उसके साथ न्याय नहीं करेगा और इसी से उसने उसे अविकल अनुवाद में प्रस्तुत किया।

वातावरण की प्रयथार्थता एक अन्य आधुनिक नाटक कामू के 'जॉस्ट पर्जेज' के उर्दू रूपांतर 'सपने' में तीव्रता से उभर आयी। उसके राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा प्रदर्शन में पात्रों के व्यक्तित्व और उनकी बाह्य तथा आभ्यंतरिक

प्रतिक्रियाओं में असंगति इतनी स्पष्ट थी कि मूल की भाव-तीव्रता रूपांतर में आरोपित अतिनाटकीयता मात्र जान पड़ती थी। बर्नार्ड शा के 'पिगमैलियन' पर आधारित 'माइ फेयर लेडी' का उर्दू रूपांतर 'आजर का ख्वाब' में भी प्रदर्शन की मनोरंजकता के बावजूद बुनियादी कृत्रिमता और अविश्वसनीयता बनी रहती है। गुजराती में अमरीका के 'ब्रॉडवे' अथवा लंदन के 'वेस्ट-एण्ड' में लोकप्रिय कामदियों का भारतीयकरण और भी बनावटी तथा सतही लगता है और थोड़ा-बहुत मनोरंजन भले ही करता हो, किसी प्रकार की कलात्मक अनुभूति का माध्यम नहीं बन पाता।

इस सब विवेचन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पश्चिमी नाटकों को यदि भारतीय रंगमंच पर प्रस्तुत करना है तो अधिकांशतः वे अविकल अनुवाद ही होने चाहिए, भारतीय रूपांतर नहीं। निस्सदेह किसी भी भाषा का कोई भी जीवंत रंगमंच इतना संकीर्ण नहीं हो सकता कि देश विदेश के श्रेष्ठ नाटकों को अपनी प्रदर्शन-सूची से बहिष्कृत रखे। एक स्तर पर पहुँचकर, और और संभवतः उस स्तर पर पहुँचने तथा उससे आगे जाने के लिए, समर्थ रंगकर्मी को युग की समस्त सार्थक नाट्याभिव्यक्ति का, चाहे वह किसी देश और भाषा की हो, अन्वेषण और उसके माध्यम से अपने आपसे साक्षात्कार आवश्यक हो जाता है। पर ऐसा साक्षात्कार बिना अपने निजी व्यक्तित्व की पहचान और उसके प्रति तीव्र सजगता के बिना नहीं हो सकता, ऐसी पहचान के बिना किसी समृद्ध प्रभाव से अभिभूत होकर उसके अनुकरण में पड़ जाने की बड़ी आशंका है। कुछ दिनों से हमारे देश की कुछ भाषाओं में योरप और अमरीका के अग्रदलीय, विशेषकर असंगतिवादी (ऐब्सर्ड) नाटकों के अनुवादों के प्रदर्शनों की भरमार होने लगी है किन्तु उसके कारण न केवल इसकी आशंका बढ़ी है कि इनके प्रदर्शन करने वाले साधारण दर्शक-वर्ग से कटकर एक आत्मप्रशंसक और श्रेष्ठता भाव से आक्रांत फैशनपरस्त संकीर्ण गुट बन जायें, बल्कि उससे रंगमंच के ऊपर कृत्रिम विदेशी वातावरण और अधिक बढ़ने की आशंका भी पैदा हुई है। विशेषकर दिल्ली में, हिंदी के कुछ नये प्रशिक्षित नाट्यकर्मी इन नाटकों से इस तरह प्रभावित हुए हैं कि उन्हें कोई भारतीय नाटक अच्छा ही नहीं लगता। अधिकांशतः इन आधुनिक पश्चिमी नाटकों का प्रदर्शन इन रंगकर्मियों की किसी मूलभूत बौद्धिक और भावगत अनुभूति की अभिव्यक्ति न होकर एक प्रकार का हीनतापूर्ण अनुकरण मात्र है जिससे न रंगमंच का कोई भला होता है और न उनके अपने रंग-व्यक्तित्व का। बहुत-से भारतीय नाटकों के साथ-साथ 'वेटिंग फॉर गोदो', 'केयरटेकर', 'नो ऐक्ज़िट', 'ऐंटिगनी' में से किसी एक-दो का प्रदर्शन तो शायद सार्थक हो सकता है, पर केवल इन्हीं, या इसी प्रकार के अथवा अन्य, पश्चिमी नाटकों पर आग्रह, मंतव्य मंडली और उसके सर्जनशील कर्मियों

को एक प्रकार की बध्यता की ओर ही ले जायेगा, क्योंकि वे अपने देश और समुदाय के परिवेश और उसके बौद्धिक तथा मानसिक जगत से कट जायेंगे।

विदेशी नाटकों के अनुवादों के प्रदर्शन में एक शिल्पगत कठिनाई भी है। उसमें प्रस्तुत पात्रों के व्यक्तित्व से, उनके सामाजिक, सांस्कृतिक तथा मानसिक जगत से, साधारणतः भारतीय निर्देशक और अभिनेता का केवल दूर से ही, किताबों के द्वारा, परिचय होता है, जबकि मूल में वे एक निश्चित सांस्कृतिक-मानसिक परिवेश से उपजे होते हैं और कभी-कभी तो नाटक तथा रंगमंच की अपनी रूढ़ियों से निर्धारित हुए होते हैं। उस सबसे बहुत घनिष्ठ परिचय के बिना भारतीय रंगमंच पर उनका प्रस्तुतीकरण बड़ा सामान्यीकृत अथवा अत्यंत सतही, बाह्य और बनावटी ही हो सकता है। भारतीय रंगकर्मी के—अभिनेता या निर्देशक के—पास न तो इतने साधन हैं कि वह सूक्ष्म और गहरे अध्ययन द्वारा यह परिचय प्राप्त कर सके और न वह इतना परिश्रमी, अध्यवसायी और आंतरिक सत्य की उपलब्धि के लिए इतना बेचैन ही होता है कि उसको प्राप्त करने के लिए आवश्यक प्रयास करे। फलतः उसका ध्यान ऊपरी टीम-टाम और एक प्रकार की रंगीय दर्शनीयता और सत्य के गौण पक्षों पर केन्द्रित होने लगता है, जिसके क्रमशः उसके अभ्यास बन जाने की आशंका है।

ऐसी स्थिति में पश्चिमी नाटकों के प्रदर्शन में कोई विशिष्ट भारतीय शैली के अन्वेषण और उसके द्वारा नाटक के वक्तव्य को अपने लिए सार्थक बनाने का तो प्रश्न ही कहाँ उठता है। बहुरूपी मंडली द्वारा 'राजा ईडिपस' के प्रदर्शन के संबंध में ऐसे कई महत्वपूर्ण प्रश्न उठे। इस दर्शन में शंभु मित्र ने 'राजा ईडिपस' को पश्चिमी निर्देशकों और अभिनेताओं के शैक्षिक, अथवा उनके विशिष्ट सांस्कृतिक, दृष्टिकोण से भिन्न कुछ इस रूप में प्रस्तुत किया कि ईडिपस का मानवीय पक्ष चाहे एक असाधारण विशेष व्यक्ति के रूप में ही सही, उभर कर सामने आया, उसका कल्पकथात्मक, अर्ध-कर्मकांडीय तथा धार्मिक रूप नहीं। इसके लिए अन्य बातों के अतिरिक्त अभिनय शैली में शंभु मित्र ने यात्रा की कुछ रूढ़ियों और युक्तियों का उपयोग किया जिनसे ईडिपस का अति-मानवीय के बजाय मानवीय व्यक्तित्व अधिक प्रतिष्ठित हुआ। कोरस को भी शुद्ध निर्वैयक्तिक की बजाय वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक दोनों रूप देने से इसी मानवीय पक्ष की पुष्टि हुई। इस प्रकार कई दृष्टियों से 'ईडिपस' का यह प्रदर्शन भारतीय दर्शक-वर्ग के लिए अधिक अर्थवान और समीप हो सका। पर केवल पश्चिमी यूनानी नाटक की परंपराओं से परिचित या उसके अंधभक्त बहुत-से रंगकर्मियों को यह रुचिकर नहीं हुआ। वे पश्चिमी नाटक को पश्चिमी ढंग से उसी मुहाविरे में देखना चाहते थे और उस नाटक में भारतीय जीवन और रंगमंच के लिए सार्थकता की इस खोज से वे निराश, खिन्न और क्षुब्ध हुए।

इसे उन्होंने शभु मित्र की असफलता और सीमा समझा और कहा।

इसलिए यह प्रश्न बडा सर्थक और तात्कालिक हो जाता है कि हम पाश्चमी नाटकों का प्रदर्शन किसी विदेशी शैली या पद्धति की हूबहू पुनरावृत्ति के लिए करते हैं या उस प्रदर्शन के माध्यम से अपने लिए कोई सार्थक अनुभूति का अन्वेषण करते हैं। वास्तव मे पश्चिमी नाटक का प्रदर्शन दो स्तरो पर दोहरी चुनौती रगकर्मी के सामने प्रस्तुत करता है। एक ओर उस नाटक के अतरग सत्य और बाह्य रूपगत तथा रगमचीय विशिष्टता का यथासभव सूक्ष्म और निश्चित अन्वेषण और निर्धारण आवश्यक होता है। दूसरी ओर उसके प्रस्तुतीकरण के माध्यम से उसकी, अपने लिए और अपने दर्शक-वर्ग के लिए, बाह्य तथा अतरग सार्थकता और विश्वसनीयता की सृष्टि भी करनी पडती है। यह निस्सदेह कठिन काम है, और श्रेष्ठ तथा प्रसिद्ध पश्चिमी नाटको को चाहे जैसे अथवा किसी प्रसिद्ध पश्चिमी प्रदर्शन के अनुकरण मे खेल देने से कही अधिक जटिल तथा विवेकसाध्य है। वास्तव मे पश्चिमी नाटको का प्रदर्शन आज के गभीर रगमच के लिए आवश्यक तो बहुत हैं, पर उसको केवल वही रगमडली तथा वे ही रगकर्मी ठीक से कर सकते हैं जो अपने देश के नाट्य मर्म से परिचित हो और उसे मूर्त करने की क्षमता रखते हो, अन्यथा इस बात की बडी भारी आशका है कि ऊपरी पश्चिम-मोह तथा फैशनपरस्ती मे पडकर एक प्रकार की बनावट ही हाथ लगे तथा समुदाय के भावजगत और रग सस्कार को गहराई और सवेदनशीलता देने के बजाय, हम स्वय ही उनसे कटकर अलग हो जायें। हमारा आधुनिक रगमच पश्चिम से इतना प्रभावित होने पर भी, पश्चिमी नाटको का प्रदर्शन आज हमारे सार्थक रगकार्य के लिए तभी मूल्यवान हो सकता है जब हम अपनी और अपनी विशिष्ट परम्परा की पहचान मे लगे हो, जब हम पश्चिमी नाटको और समस्त रगमचीय पद्धतियो, व्यवहारो और शैलियो को एक ओर अपने विशिष्ट जीवन अनुभव से, और दूसरी ओर अपनी रग-परपरा की विशिष्ट आवश्यकताओ से, सम्बद्ध करके देख सकें और उसका उपयोग कर सकें। इस प्रकार सस्कृत नाटक और पश्चिमी नाटक दोनो ही विभिन्न स्तरो पर और विभिन्न दृष्टियो से हमारे रगकार्य के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होने पर भी, रगकर्मियो से विशेष प्रकार की मानसिक तैयारी और रुझान की अपेक्षा करते हैं।

लोक नाट्य

हमारे रगजीवन का एक अन्य अत्यत महत्त्वपूर्ण तत्त्व है लोक नाट्य जो रगकर्मियो से बडी सवेदनशीलता, सर्जनात्मक दृष्टि और प्रामाणिकता माँगता है। लोक नाट्य हमारी नाट्य परपरा की एक मूलभूत कडी है क्योंकि वह कई प्रकारो और रूपो मे सस्कृत नाटक के बाद मध्यकालीन नाट्य परपरा का ही निरतरण है। कई दृष्टियो से उसमे सस्कृत रगमच से कही अधिक विविधता है। सबसे बडी बात यह है कि वह आज भी जीवित है यद्यपि जीवतता कई स्तरो पर है। कोई गभीर शहरी रगकर्मी बहुत दिनो तक लोक नाट्य की उपेक्षा नही कर सकता और कभी न कभी उसे रगकार्य के इस पक्ष के साथ अपना कोई न कोई सबध बनाना पडता है। बहुत कुछ इस अनिवार्यता और लोक नाट्य की जीवतता के कारण पिछले वर्षों म रगमच म निरतर बढती हुई रुचि के साथ-साथ देश भर में लोक नाट्य की ओर भी बहुत ध्यान आकृष्ट हुआ है। प्राय सभी भाषाओ के गभीर और जागरूक रगकर्मियो को नानाविध कारणो स यह अनुभव हुआ है कि इस देश म रगमच के विकास मे लोक नाट्य परपरा किसी न किसी रूप म सभवत उपयोगी सिद्ध हो। स्थान-स्थान पर न केवल प्रादेशिक लोक नाट्यो के पुनरुत्थान और पुनरुद्धार के प्रयत्न दिखाई पडते हैं, बल्कि अखिल भारतीय स्तर पर भी इस देश की समस्त लोक नाट्य परपरा को एक साथ देखने, उस पर विचार करने और उसके मूल्याकन के प्रयत्न होने लगे है। किन्तु वास्तव म लोक नाट्य में इस बढती हुई रुचि और उसके महत्त्व के कई पक्ष हैं जिन पर गभीरतापूर्वक विचार करना और समस्या के विभिन्न आयामो को समझना आवश्यक है।

भारत जैसे कृषि-सभ्यता प्रधान देश म यह तो अनिवार्य है कि हमारी सर्जनात्मक गतिविधि के बहुत-से अगो के सूत्र लोकजीवन मे हो और उनका प्रभाव जाने-अनजाने हमारे चिन्तन, सस्कार और कार्यों पर पडता रहता हो। विशेष रूप से, हमारी सास्कृतिक परम्परा का एक बडा भारी अश लोक सस्कृति से सम्बद्ध है। इसके प्रमाण हम अपने अनगिनत रीति-रिवाजो, आचार-व्यवहार, पर्वों-त्योहारो, समारोहो आदि मे तो पाते ही हैं, सगीत, नृत्य, चित्र, साहित्य आदि सर्जनात्मक अभिव्यक्ति-विधाओ मे भी उनके योग को स्वीकार करने को

नौटंकी स्वाङ्गपाग ब्रज लोक मंच

आत्मा का रंगमंच

गुजराती लोक नाट्य भवई के दो पात्र

मशगान का एक पात्र

रासलीला के दो स्वरूप

उत्पल दत्त का बंगला नाटक अंगार
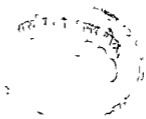
वाच्य होते हैं। आज हमारे देश की लगभग सभी कलात्मक अभिव्यक्तियो मे लोक परम्परा के महत्त्व की स्वीकृति और क्रमश: बढती हुई छाप स्पष्ट है।

इसीलिए हमारा नाटक और रगमच भी उससे अछूता नही रह सकता था। पर इस देश के रगमच और नाट्य साहित्य के विकास की विशेष परि-स्थितियो के कारण लोक रगमच और लोक नाट्य का हमारी नाट्य परपरा मे ऐसा स्थान है जो एक प्रकार से सर्वथा अभूतपूर्व है। सस्कृत साहित्य और नाटक के स्वर्ण युग के बाद सामाजिक-ऐतिहासिक कारणो से हमारे रगमच ने अचानक ही मोड लिया और वह साहित्य-कला की विकासमान और प्रतिष्ठित धारा से कटकर, नागरिक जीवन और शिक्षित कलाप्रेमी दर्शक-वर्ग तथा सरक्षको से कटकर, लोक जीवन मे, देहातो मे, सीमित हो गया। इस प्रकार लगभग आठवी-नवी शताब्दी से लगा कर अठारहवी-उन्नीसवी शताब्दी तक, हजार-बारह सौ वर्ष, हमारा रगमच अलग-अलग भाषा-क्षेत्रा के ग्रामीण अचलो मे लोकानुरजन के माध्यम के रूप मे ही जीवित रहा। देश के विभिन्न भागो और भाषाओ मे होने वाले सास्कृतिक-कलात्मक तथा साहित्यिक आन्दोलनो और परिवर्तनो का प्रभाव इस रगमच पर बहुत सामान्य ही पडा और उसमे वैसी कोई प्रगति अथवा उप-लब्धि नही हो पायी जैसी हम अन्य कला माध्यमो मे देखते है। दूसरी ओर लोक जीवन मे बचे रहने वाले इस रगमच ने न केवल इस विशाल भू-भाग मे रगमचीय निरतरता बनाये रखी बल्कि सस्कृत रगमच तथा सहज-स्वाभाविक स्थानीय लोक नाट्य की परम्पराओ के एक मिश्रित-सम्मन्वित रूप को सदियो तक अक्षुण्ण रखा। इसी कारण आज जब हम अपनी नाट्य परम्परा पर विचार करने बैठते है तो 'नाट्यशास्त्र' तथा अन्य प्राचीन सिद्धान्त-ग्रथो तथा नाटको के अतिरिक्त जीवित रग-परपरा के रूप मे विभिन्न प्रदेशो के लोक नाट्य के अति-रिक्त और कोई सामग्री नही मिलती।

परपरा का प्रश्न किसी भी कला-सर्जन के लिए मौलिक महत्त्व का प्रश्न है और निरे मनोरजन के स्तर से ऊपर उठते ही प्रत्येक कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए परम्परा के साथ अपने आपको किसी न किसी रूप मे, चाहे विरोधी रूप मे ही सही, सम्बद्ध करना आवश्यक अनुभव होने लगता है। हमारे देश मे रगमच के क्षेत्र मे यह विशेष रूप से तीव्र है क्योकि रगमच का जो नया उत्थान आज से सौ-दो सौ वर्ष पूर्व हुआ वह बहुत-कुछ बाह्य परिस्थितियो के कारण, ऊपर से आरोपित, विदेशी अनुकरण मे हुआ, मूलत हमारे अपने रगमच की आन-रिक गति और विकास के फलस्वरूप नही। इसलिए आज जब हम अपने रगमच को अपने सामाजिक विकास की धारा के साथ, इस देश के मानव के साथ जोडना और उसी की अभिव्यक्ति बनाना चाहते हैं, तो उन सूत्रो की खोज और परख आवश्यक हो गयी है जो आधुनिक रगमच को उसके अतीत से सम्बद्ध कर सके

और परपरा का अविच्छिन्न अग बना सकें ।

हमारे देश के सभी भागो म *आज अधिकाश शहरी रगमच अव्यवसायी* और अनियमित है । कुछेक प्रदेशो की इनी गिनी व्यवसायी मडलियो को छोड कर बाकी अधिकाश गतिविधि अव्यवसायी सगठनो अथवा विद्यार्थियो और शौकिया मडलिया द्वारा होती है, और प्राय इन प्रदर्शनो के लिए पर्याप्त दर्शक नही जुटते । इन दलो को अपने प्रदर्शन सफल बनाने के लिए बडे प्रयत्न करने पडते हैं, फिर भी उनका दर्शक-वर्ग से गहरा अटूट सबध नही स्थापित हो पाता। दूसरी ओर, देश भर म आज भी लोक नाट्यो के ऐसे दल हैं जो बडे लोकप्रिय हैं, जो चाहे आर्थिक दृष्टि से पूरी तरह सफल होते हो या न होते हो, पर अपने विशेष दर्शक-वर्ग मे उनकी बडी माँग रहती है । जन-साधारण के जीवन मे आज भी इस लोक नाट्य का स्थान है, चाहे फिर औद्योगीकरण के फलस्वरूप, देहाती जीवन मे क्रमश होने वाले परिवर्तनो के फलस्वरूप, और फिल्म आदि के प्रभाव के कारण, इन मडलियो की अवस्था कितनी ही जर्जर और साधनहीन क्यो न होती जाती हो । शहरी रगकर्मी को लोक नाट्य की इस लोकप्रियता के *मूल कारणो पर विचार करना चाहिए ताकि वह उन तत्त्वो को* ठीक से समझ सके जो किसी कला को अपने उद्दिष्ट जन-समुदाय के साथ, अपने प्रेक्षक-वर्ग के साथ इस प्रकार सबद्ध करते हैं ।

लोक नाट्य परपरा की ओर ध्यान आकर्षित होने का एक और भी कारण है । विदेशी रगमच के प्रभाव मे पिछले चालीस-पचास वर्ष मे हमारे देश मे धीरे-धीरे यथार्थवादी अनुकरणात्मक रगशैली को प्रधानता मिलती गयी है और चरित्र, अभिनय और परिवेश को स्वाभाविक तथा यथावत रूप मे रगमच पर उतारने के प्रयत्न हुए हैं । विशेषकर इसलिए भी कि कई कारणो से हमारे देश के प्रार-*म्भिक रगमच पर पौराणिक धार्मिक कथाओ और कृत्रिम, अस्वाभाविक अभिनय* आदि का बोलबाला रहा । किन्तु पिछली दशाब्दियो के अनवरत प्रयत्नो के बाद भी न तो हमारे देश मे ही पूर्णत यथार्थवादी रगमच कही भली भाँति स्थापित हो पाया, और न विदेशो म ही, जहाँ से प्रेरणा पाकर हमारे नाटककार और रगकर्मी अपना रगमच बनाना चाहते थे, यथार्थवादी पद्धति का इतना महत्त्व रह गया । आज पश्चिमी रगमच फिर से कल्पनामूलक, नृत्य-गीत प्रधान, काव्यपरक रगमच की ओर अधिकाधिक उन्मुख हो रहा है । रगमच पर बाह्य परिवेश और आचरण की यथावत् अनुकृति के स्थान पर *अनुभूति की समग्रता और तीव्रता तथा उसके कल्पनाप्रधान प्रदर्शन पर अधिक* बल दिया जाने लगा है । पश्चिमी नाटककार और निर्देशक आज चीन, जापान और भारतवर्ष की प्राचीन परम्परागत नाट्य शैलियो से प्रेरणा ग्रहण कर रहे हैं । ऐसी स्थिति म विदेशो से सीखकर आने वाले रगकर्मी, अथवा विदेशी नाट्य

साहित्य से अनुप्राणित और प्रभावित नाट्यकार और नाट्यप्रेमी, अपने देश के रंगमंच में भी उन्ही तत्त्वो को महत्त्व देना चाहते हैं, जो मूलत हमारी संस्कृत और लोक नाट्य परपरा मे सहज स्वाभाविक रूप मे पहले से ही वर्तमान हैं।

इस प्रकार आज लोक नाट्य के पुनरुद्धार और उसकी चर्चा का फैशन है। हमारे रंगकर्मी सर्वथा बाह्य और अवातर प्रेरणाओ के फलस्वरूप भी पश्चिम की नवीनतम प्रवृत्तियो के अनुकरण मे ही, लोक नाट्य मे रुचि ले रहे हैं, उसके विषय मे उत्सुकता प्रदर्शित करते हैं और अपने प्रयत्नो मे उनकी नकल करना चाहते हैं। स्पष्ट ही शहरी रंगकर्मियो मे लोक नाट्य मे इस अत्यधिक रुचि के पीछे बहुत बार वैसी ही प्रदर्शनप्रियता, अन्धानुकरण और कृत्रिमता है, जैसी राजधानी मे मनसा-वाचा-कर्मणा विदेशी सस्कारो मे, और शरीरत नवीनतम विदेशी प्रसाधन सामग्री मे, रँगी बहुत-सी भारतीय आधुनिकाएँ आदिवासी स्त्रियो जैसी चोली पहनकर, जो पीठ पर पूरी तरह, और सामने भी बहुत कुछ, खुली हुई होती है, भारतीय लोक कला से अपने प्रेम का प्रदर्शन करती है। किन्तु इसके बावजूद, चाहे विदेशी नाटक और रंगमच की अधुनातन प्रवृत्तियो के अनुशीलन की प्रेरणा से ही सही, देश की लोक नाट्य परपरा की ओर हमारे जागरुक और गभीर रंगकर्मियो की दृष्टि जा रही है और उसका समुचित अध्ययन और विवेचन अपेक्षित है जिससे नाटककार, अभिनेता, निर्देशक और अन्य रंगशिल्पी अपने-अपने कार्य मे लोक नाट्य परपरा की विभिन्न विशेषताओ के उपयोग, समन्वय और उनके आधार पर नये प्रयोगो की सभावना का अन्वेषण कर सकें।

इसके अतिरिक्त लोक नाट्य के अध्ययन का एक और भी पक्ष है—देश के प्राचीन महत्त्वपूर्ण कलारूपो मे पुनरुद्धार और पुनरुज्जीवन का। स्वाधीनता के पहले तक हम अपने देश की कला-सम्पदा के प्रति मूलत उदासीन ही रहे। और आज चाहे दूसरे छोर पर पहुँच कर अपनी सास्कृतिक सम्पत्ति के सबध मे हम अतिरिक्त रूप से पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण ही अपनाने लगते हो, फिर भी यह सर्वथा उचित और स्वाभाविक है कि अपने जीवन मे सदियो से प्रतिष्ठित और सक्रिय सास्कृतिक तत्त्वो के समुचित रक्षण और विकास पर अब हम ध्यान दें। यह तो निर्विवाद है कि हमारी सास्कृतिक सम्पदा का बहुत-सा अंश दीर्घकालीन उपेक्षा और तिरस्कार के कारण आज बहुत कुछ टूटी-फूटी स्थिति मे है, और उसमे सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक परिस्थितियो के परिणामस्वरूप ऐसे बहुत-से परिवर्तन होते रहे हैं जो सभी विकास और गति तथा जीवन्तता के सूचक नही हैं।

पिछले युग मे हमारी लोक कला के बहुत-से रूपो मे तरह-तरह की विकृतियाँ आ गयी हैं, शहरी जीवन और फिल्म-जैसे मनोरंजन के सस्ते साधनो के

प्रभाव से उनका सहज सौंदर्य नष्ट होता जा रहा है, उनकी स्वत स्वच्छता, सरलता और सुरुचि का स्थान कुरूपता, नग्नता, उत्तेजकता आदि ले रही है। दूसरी ओर, लोक नाट्य रूप जिन सामाजिक परिस्थितियो और सगठन की उपज थे उनमे व्यापक परिवर्तन होने के कारण, उनका समाज मे वह अनिवार्य स्थान नही रह गया, उनके सरक्षक धनी जमीदार, राजे रजवाडे अब इस स्थिति म नही रह गये कि ऐसी मडलियो का भरण पोपण कर सके या उन्हे आश्रय दे सके। इसलिए अब यदि इन कला रूपो को जीवित रखना है तो यह समाज, राज्य अथवा राष्ट्र के सहयोग बिना सभव नही। इसलिए हर राज्य मे इस बात के कुछ न कुछ सरकारी प्रयत्न हुए है कि अन्य कला सम्पदा की भाँति लोक नाट्य रूपो की भी किसी प्रकार रक्षा की जाय, उनको नया जीवनदान दिया जाय। अपने आप में ये प्रयत्न अवाछनीय भी नही, पर उनकी दो सीमाएँ हैं। एक तो वे पर्याप्त नही हैं और उनसे स्थिति में वास्तविक अतर नही पडता, चाहे सरकारी अधिकारी उनसे कितना ही सतोप क्यो न अनुभव कर लेते हो। कुल मिलाकर वे एक प्रकार के राजकीय अनुदान बाँटने के बहाने बन कर रह जाते है जिसके फलस्वरूप उनसे बहुत बार सच्चे कलाकारो और दलो की बजाय मौसमी मडलियो का पेट भरता है। दूसरी ओर, इस कार्य में लगे अधिकारी व्यापक कला दृष्टि और सामाजिक प्रगति की समझ के अभाव में या तो सभी कुछ बचा रखने के लिए प्रयत्नशील होते हैं, या उसमें इतने सुधार कर डालना चाहते है कि असली रूप पहचानना ही असभव हो जाय। दोनो ही स्थितियो में पुनरुद्धार अथवा रक्षा के बजाय विकृति और निराशा ही हाथ लगती है। वास्तव में यह कार्य उतना आसान नही जितना ऊपरसे लगता है, क्योकि किसी नाट्य रूप की रक्षा पुरातत्त्व विभाग मे उपलब्ध शिलाखडो, ध्वसावशेषो को सग्रहालय में लाकर रख देने जैसा नही है। जीवत मानवीय माध्यम द्वारा अभिव्यक्त कला के सरक्षण की समस्याएँ सर्वथा भिन्न स्तर की और अत्यधिक जटिल हैं। इसलिए लोक नाट्यो के पुनरुद्धार और रक्षा के प्रश्न पर भी आज हमारे देश के रगकर्मियो और कलाप्रेमियो को बडी गभीरता से विचार करना चाहिए।

इस प्रकार लोक नाट्य के आधुनिक सर्जनशील रगकार्य से सबध के तीन स्तर हो सकते हैं एक, अपने देश की तथा प्रत्येक भाषा की मध्यकालीन नाट्य परम्परा को समझने और उसके आज के रगकार्य मे सर्जनशील उपयोग के लिए, दो, अपने आप में महत्त्वपूर्ण और सशक्त तथा प्रभावी स्वतत्र नाट्य पद्धति के रूप मे उसकी आधुनिक जीवन में प्रतिष्ठा के लिए, और तीन, एक ऐतिहासिक महत्व की सास्कृतिक सम्पत्ति की रक्षा के लिए। निस्सदेह ये तीनो ही स्तर एक दूसरे से मौलिक रूप में सबद्ध हैं। इस सदर्भ म अब अपने देश

के कुछेक महत्त्वपूर्ण लोक नाट्य रूपों की चर्चा की जा सकती है। जाहिर है इस विवेचन में केवल नाटक के विभिन्न प्रकारों और रंगमंच के रूपों पर विचार ही अभीष्ट है, नृत्य परंपरा पर नहीं।

ऊपर यह कहा गया कि संस्कृत नाटक के ह्रास के बाद हमारे देश में नाट्यमूलक गतिविधि ने विभिन्न भाषा क्षेत्रों में अलग-अलग रूप लिया जिसको समग्र रूप में हम मध्यकालीन नाट्य परंपरा कह सकते हैं। हजार-बारह सौ वर्ष की इस लंबी अवधि में देश के विभिन्न भागों में नाटक और रंगमंच का ठीक-ठीक रूप क्या रहा इसका कोई प्रामाणिक इतिहास अथवा वर्णन नहीं मिलता, न अन्यत्र विविध रचनाओं में ही अभी तक ऐसे विवरण मिल सके हैं जिनके आधार पर किसी भी प्रदेश में इस परंपरा का कोई विश्वसनीय और विस्तृत इतिहास तैयार किया जा सके। पिछले दिनों में जो कुछ सामग्री इधर-उधर उपलब्ध हुई है, अथवा विभिन्न अनुसंधानकर्त्ताओं ने संकलित की है, उससे कुछेक भाषा क्षेत्रों के कतिपय नाट्य-रूपों की अधिक से अधिक दो-तीन सौ वर्षों की थोड़ी-बहुत जानकारी मिलती है। यह जानकारी भी विभिन्न क्षेत्रों के विषय में एक-सी नहीं, और उसके आधार पर कोई सामान्य निष्कर्ष निकालना ठीक न होगा। संभवतः इतना कहा जा सकता है कि वर्तमान पारंपरिक अथवा लोक नाट्य रूप उस मध्यकालीन नाट्य परंपरा के ही विकसित अथवा विघटित अथवा उसमें निकले हुए रूप हैं।

किन्तु वास्तव में अन्य सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक पक्षों की भांति नाटक के क्षेत्र में भी हमारे इस विशाल देश के विभिन्न प्रदेशों की स्थिति एक-सी नहीं है, न विकास की गति में, न उपलब्धि की श्रेष्ठता में। इस प्रकार देश भर में आज हम यात्रा, नौटंकी, स्वांग, ख्याल, माच, भवई, तमाशा, दशावतार, यक्षगान, अंकिया नाट, रासलीला, रामलीला, जैसे विभिन्न स्तर के लोक नाट्य पाते हैं। इनमें एक ओर यात्रा-जैसे कुछ अत्यंत सुगठित और सशक्त प्रकार हैं जो आधुनिक परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित और समृद्ध होते रहे हैं, और जिनके नाटकीय और रंगमंचीय रूप में आधुनिक नाटकों और रंगमंच का इतना प्रभाव आ गया है कि अब उन्हें लोक नाट्य कहना भी शायद सही न हो। दूसरी ओर रामलीला जैसे प्रकार हैं जिनमें नाटकीयता बहुत क्षीण है और जो सामाजिक-धार्मिक समारोह या मेलों, तथा चौकियों और झांकियों के जुलूस मात्र रह गये हैं, और नीरस गतानुगतिकता से जकड़े हुए हैं। किन्तु विकास और परिवर्तन तथा नाटकीयता के विभिन्न स्तरों के बावजूद, इस समस्त लोक नाट्य में निस्संदेह कुछेक बातें ऐसी सामान्य हैं जो उन्हें एक सूत्र में बांधती हैं और सम्मिलित रूप में उन्हें एक व्यक्तित्व भी प्रदान करती हैं और उन्हें किसी प्राचीन परंपरा से जोड़ती भी हैं।

इन सभी नाट्य रूपो की विषय-वस्तु और कथानक एक ओर तो मुख्यत पौराणिक, धार्मिक अथवा ऐतिहासिक स्रोतो से प्राप्त हैं, और दूसरी ओर अपने-अपने क्षेत्र की तात्कालिक सामाजिक परिस्थितियो से सबधित हैं। सामान्यत लोक रगमच के नाटक रामायण, महाभारत और भागवत तथा अन्य पुराणो के ही विभिन्न प्रसगो और कथाओ पर आधारित हैं। वे इस देश के लोक मानस की सामान्य सस्कारगत धारणाओ, मान्यताओ और विश्वासो से ही सबधित रहे है। उनमे नवीनता पर इतना बल नही जितना सुपरिचित प्रसगो को बार-बार प्रस्तुत करके अनुरजन के साथ-साथ एक सामान्य सामूहिक भावानुभूति मे सह-भागी हो सकने पर। साधारणत इन नाटको मे बहुत-कुछ सस्कृत नाटको की कथागत, रचनागत अथवा रूपगत रूढियो का निर्वाह मिलता है। बहुत-से नाटको मे कथा का विकास उसी प्रसग से सबधित सस्कृत नाटक जैसा ही है। पात्रो की परिकल्पना, सख्या तथा उनकी चारित्रिक विशेषताएँ भी वैसी ही है। अधिकाश नाटको मे विदूषक अथवा उससे मिलता-जुलता कोई पात्र मौजूद होता है। बहुत-से नाटको मे प्रारभ मे नादी पाठ और अत मे भरतवाक्य का प्रयोग भी मिलता है। सस्कृत नाटको की भाँति ही किसी न किसी रूप मे सूत्रधार भी होता है और वह नाटक के घटना-सूत्र को जोडता चलता है, यद्यपि इस पात्र के नाम अलग-अलग क्षेत्रो मे अलग अलग हो गये हैं। रग रचना की दृष्टि मे भी बहुत-सी बाते सामान्य है। जैसे, ये सभी नाटक खुले रगमच पर होते हैं जिसमे चार या तीन ओर दर्शक बैठते है, मच पर परदो का प्रयोग नही होता, कोई दृश्य योजना नही होती और न बहुत-से उपकरण ही, स्थान-परिवर्तन पात्रो द्वारा मच पर एक ओर से दूसरी ओर अथवा वृत्ताकार चक्कर काटकर सूचित किया जाता है, काल-परिवर्तन की सूचना या तो आवश्यक ही नही होती या वह रगा या सूत्रधार द्वारा दे दी जाती है, स्त्री पात्रो का अभिनय भी पुरुष ही करते हैं और सारे पात्र प्राय रगमच पर ही बैठे रहते हैं और अपनी-अपनी बारी आने पर उठ कर अपनी बात कहते हैं और फिर बैठ जाते हैं, जिस समय उनका काम नही होता उस समय वे आपस मे बातचीत करने से लगा कर बीडी पीने तक कुछ भी करते रहते हैं, इत्यादि इत्यादि।

इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सामान्य विशेषता है उनमे नृत्य और सगीत का प्रयोग। मूलत ये सारे के सारे नाट्य रूप इतने सगीतात्मक हैं कि कभी-कभी और कुछ-कुछ तो एकदम सगीत नाटक कहला सकते हैं। प्रारभ से अत तक मच पर बैठे हुए वादक प्रत्येक लोक नाट्य रूप के अनिवार्य अग हैं। नृत्य की गतियों का भी न्यूनाधिक प्रयोग प्रत्येक नाट्य रूप मे पाया जाता है। सगीत और नृत्य का यह महत्त्व सस्कृत नाट्य परपरा का विस्तार तो है ही, साथ ही साधारण दर्शक-वर्ग मे उसे अधिक से अधिक लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से भी

ऐसा हुआ होगा। संगीत-नृत्य जहाँ एक ओर नाटकीय प्रभाव को बढाने मे सहायक हो सकते हैं, वहीं वे नाटक की कथावस्तु और रचना की शिथिलता को ढँकने के साधन भी हैं। लोक नाट्य मे संगीत-नृत्य की ऐसी बहुलता अनवरत और सार्वभौमिक रूप से चली आने का एक यह कारण भी निस्संदेह है ही।

देश के विभिन्न भागों के लोक नाट्य में ये सामान्य विशेषताएँ आज भी न्यूनाधिक मात्रा मे मौजूद हैं, यद्यपि धीरे धीरे इस नाटक और रंगमंच के कलात्मक स्वरूप और प्रभाव और संभावना में परिवर्तन भी हुए है। उदाहरण के लिए, यात्रा आज अपने प्राचीन संगीत-प्रधान रूप को त्याग कर सर्वथा गद्य नाटक बन गयी है। यात्रा इस समय शहरी बँगला नाटक का ही देहातों के लिए एक सुलभ और लोकप्रिय प्रकार है। कलकत्ते के शहरी व्यवसायी रंगमंच के अधिकांश नाटककार अपने बहुत-से नाटकों को दो रूपों में लिखते हैं, एक शहरी रंगमंच के लिए और दूसरा यात्रा के लिए। इसलिए आज यात्रा नाटकों की विषय-वस्तु, कथानक, इत्यादि बहुत-कुछ शहरी नाटक जैसे ही हैं, केवल उनमे बहुत बार शब्द जाल अधिक होता है, और अतिनाटकीयता तथा बाह्य कार्य-व्यापार तथा घटनाओं की प्रधानता तथा अतिशयोक्तिपूर्ण भावप्रवणता आदि पर अधिक बल रहता है। संवाद अधिकांश अस्वाभाविक अथवा काव्यात्मक आलंकारिक गद्य मे होते हैं। बीच-बीच मे गीत भी होते हैं, जिनका मूल कथा से अनिवार्य-अपरिहार्य या आत्यंतिक संबंध होना सदा आवश्यक ही नही माना जाता। इसी प्रकार बहुत-से यात्रा प्रदर्शनों में नृत्य भी होते हैं, जिन पर आजकल प्राय शहरी फिल्मी या तथाकथित 'ओरियंटल' नृत्यों का प्रभाव होता है, पर यह सहज ही कल्पना की जा सकती है कि किसी समय ये नृत्य लोक या शास्त्रीय शैलियों से सम्बद्ध रहे होंगे। अभिनय मे बहुत दलों मे स्त्रियाँ भी भाग लेने लगी हैं। यात्रा प्रदर्शन की अन्य बहुत-सी विशेषताएँ अब भी हैं, पर मूलत यात्रा नाटक आज बंगाल मे अत्यंत ही समृद्ध और सुसंगठित पर्यटक व्यावसायिक रंगमंच है जिसमें शहरी और लोक रंगमंच के अधिकांश तत्त्वों का सम्मिश्रण है। यात्रा दलों के मुख्य कार्यालय कलकत्ते में ही है जहाँ से वे आमंत्रण पर, अथवा अपने आप, बंगाल के हर शहर और देहात मे जाया करते हैं। अपनी भावना, स्वरूप और परिस्थिति किसी भी दृष्टि से यात्रा अब पूरी तरह लोक नाट्य नहीं है, चाहे उसमे यात्रा नामक प्राचीन लोक नाट्य के कितने ही तत्त्व क्यों न मौजूद हो। ऐतिहासिक कारणों और परिस्थितियों के कारण अब वह एक स्वतंत्र अर्ध-नागरिक नाट्य प्रकार बनता जा रहा है जिसमें यात्रा की बहुत-सी सरलताओं और विशेषताओं का व्यावसायिक तथा अन्य सुविधाओं के लिए प्रयोग होता है।

उत्तर प्रदेश और पंजाब में प्रचलित नौटंकी की वर्तमान स्थिति कुछ और ही प्रकार की है। किसी हद तक वह भी शहरों और देहातों में अत्यंत लोकप्रिय है और उसकी बहुत-सी व्यवसायी मंडलियाँ मौजूद हैं। पर उनकी स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। अपनी लोकप्रियता के लिए उन्हें बहुत-से ऐसे उपाय अपनाने पड़ते हैं जो न सुरुचिपूर्ण है, न स्वस्थ। जैसे, पिछले दिनों बहुत-सी तवायफें नौटंकी मंडलियों में शामिल हो गयी है और कई मंडलियाँ अपने इन 'सितारों' के कारण ही लोकप्रिय हैं। इसके साथ-साथ ही उनके प्रदर्शन में बाजारूपन और सस्ती उत्तेजनापूर्ण बातें बढ़ती जा रही है। नौटंकी अभी तक पूर्णतः संगीत-परक नाटक है, पर उसमें फिल्मी धुनों और संगीत की फिल्मी पद्धति, सस्ते नृत्य आदि, का प्रयोग दिनों दिन बढ रहा है। हिन्दी में नौटंकी नाटक लाखों की संख्या में छपे और बिके है और अब भी बिकते हैं। पर अब धीरे-धीरे इन नाटकों का, विशेषकर नये लिखे जाने वाले नाटकों का, रचना स्तर गिरता जाता है। नौटंकीवाले अब अपने प्रदर्शन में तरह-तरह के उपकरणों का, परदों का, 'सीनरी' का प्रयोग करने लगे हैं, उनकी वेशभूषा में सुरुचि और कलात्मक तथा नाटकीयता का स्थान तड़क-भड़क ने लिया है। इस प्रकार कलात्मक और सागठनिक दोनों दृष्टि से नौटंकी, स्वाँग, भगत आदि उत्तर भारत के सभी लोक नाट्य प्रकार बड़ी शोचनीय स्थिति में हैं। सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बात संभवतः यह है कि उनका कलात्मक स्वरूप ऐसी दिशा में अग्रसर और ऐसे प्रभावों से नियमित है कि न तो उनका वर्तमान स्वरूप ही अच्छा है, न भविष्य में किसी शुभ परिवर्तन की आशा ही उससे प्रगट होती है।

गुजरात के भवई, राजस्थान के ख्याल और मध्य प्रदेश में मालवा के माच नाटक केवल देहातों में ही सीमित रह गये हैं। उनका वर्तमान रूप नहीं के बराबर व्यावसायिक है और वे कृषि से अवकाश के समय किसानों अथवा खेत मजदूरों की अथवा किसी जाति विशेष की मौसमी गतिविधि से अधिक कुछ नहीं हैं। फलस्वरूप उनके नाटकीय स्वरूप में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। ये सभी मूलतः संगीत-नाटक ही हैं यद्यपि भवई और माच में बीच-बीच में गद्य का प्रयोग भी कुछ अधिक और बड़े नाटकीय ढंग से होता। नृत्य की सरल गतियों और चरण-विन्यास का भी उनमें बड़ा आत्यंतिक और नाटकीय प्रयोग है। इनके कथानक वे ही पुराने पौराणिक है, अथवा लोक कथाओं पर आधारित हैं। किन्तु दीर्घकालीन उपेक्षा और संरक्षण के अभाव में एक ओर तो इनके अच्छे जानकार बहुत कम होते जा रहे हैं, और साथ ही अब इनमें उपेक्षाजन्य विकृतियाँ और बाह्य प्रभावों के मिश्रण का प्रभाव दिखाई पड़ने लगा है और सूक्ष्मताएँ कम होती जाती हैं। सुदूर देहाती अंचलों से बाहर इन्हें लाना कष्ट-साध्य है और इनकी अपनी कोई ऐसी आतरिक गति नहीं है जो इन्हें आगे विकसित करना तो दूर,

जीवित भी रख सकें। बड़े पैमाने पर संस्थागत सरक्षण शायद इन्हे किसी प्रकार के व्यावहारिक रूप मे बचा सके, यद्यपि नाटकीय रूपगत सौंदर्य इनमे कम नही है।

महाराष्ट्र मे तमाशा पिछले दिनो कई कारणो से सर्वथा नये प्रकार से जीवित हुआ। राजनैतिक तथा अपेक्षाकृत अधिक सास्कृतिक सरक्षण के फल-स्वरूप 'तमाशा' के इस नवीन पुनरुत्थान म व्यावसायिकता इतने भोडे रूप मे नही है। राज्य सरकार तथा अन्य सस्थाओ द्वारा तमाशा के समारोह प्रति वर्ष होने लगे हैं, पूना मे तो तमाशा का एक नियमित रगमच रोज टिकट लगा कर प्रदर्शन करता है। इस प्रकार मनोरजन के एक लोकप्रिय रूप के नाते इसे मान्यता मिल रही है। साथ ही उसमे नयी विषय-वस्तु का प्रवेश और प्रयोग हो रहा है जिसमे तमाशा के परपरागत तथा आधुनिक शिक्षित दोनो प्रकार के कलाकार भाग ले रहे हैं। इसलिए यह असभव नही कि धीरे धीरे जन-साधारण के नियमित नाट्य प्रकार के रूप मे तमाशा फिर से जम जाये।

कर्नाटक का यक्षगान तथा देश के अन्य कई लोक नाट्य-प्रकार अपने रूप मे अभी तक प्राचीनतापरक अधिक हैं। उनकी कथा-वस्तु अधिकाशत पौराणिक-धार्मिक ही है। इस कारण वे बहुत-कुछ देहाती अचलो मे अपने परम्परागत रूप मे ही अधिक प्रचलित हैं, यद्यपि उनमे भी कई प्रकार के परिवर्तन हो रहे हैं। जब तक इन नाट्य रूपो को आधुनिक जीवन के साथ अधिक गहन और आत्यतिक रीति से, सर्जनात्मक दृष्टि से, सम्बद्ध करने के उपाय स्पष्ट न होंगे तब तक उनके भावी विकास की दिशा या सभावना भी अनिश्चित ही रहेगी।

देश के, विशेषकर उत्तर भारत और हिंदी भाषी प्रदेश के, लोक नाट्यो की वर्तमान स्थिति की इस सरसरी चर्चा से कुछ सामान्य निष्कर्ष स्पष्ट होते हैं जिन्हे सामने रख कर लोक नाट्य के भविष्य और आधुनिक रगमच के साथ उनके सबध पर विचार किया जा सकता है (१) यात्रा के समान कुछ नाट्य प्रकार ऐसे हैं जो ऐतिहासिक-सास्कृतिक कारणो से अपने एक विशेष आधुनिक विकास की दिशा ले चुके हैं तथा एक आत्मनिर्भर मनोरजन-व्यवसाय के रूप मे प्रतिष्ठित और सक्रिय हैं। उनकी अपनी पारपरिक और सुनिश्चित रूपगत और कलात्मक विशेषताएँ तथा सीमाएँ हैं जो बदल रही हैं, यद्यपि पूरी तरह नष्ट नही हुई हैं। उनके प्रदर्शन नगरो या देहातो मे सहज ही देखने को सुलभ हैं। (२) नौटकी जैसे नाट्य प्रकार व्यावसायिक सगठन और कलात्मक रूप दोनो दृष्टियो से विकृत और जर्जर हो रहे हैं, और जिनका दोनो ही दृष्टियो से उद्धार आवश्यक और उपयोगी होने पर भी अत्यत दुष्कर और कष्ट-साध्य कार्य है। (३) माच, भवई, ख्याल, अथवा यक्षगान, दशावतार, अकिया नाट जैसे प्रकारो के कलात्मक रूप मे बहुत अधिक परिवर्तन नही हुआ है, क्योंकि वे उपेक्षित अथवा अत्यत

सीमित क्षेत्र मे सक्रिय रहे हैं। किन्तु धीरे-धीरे मनोरजन के नवीन और आकर्षक साधनो के प्रभाव मे उनकी लोकप्रियता, प्रचार और जानकारी तक समाप्त हुई जा रही है। (४) तमाशा जैसे नाट्य रूप राज्य अथवा नवीन सास्कृतिक धाराओ का सहयोग और समर्थन मिलने से एक नयी नाट्यविधा के रूप मे धीरे-धीरे स्थापित हो रहे हैं। यह प्रश्न गभीरतापूर्वक विचारणीय है कि आधुनिक *रगमच म इन परम्परागत नाट्य प्रकारो का क्या और कैसा योग हो सकता है।*

लोक नाट्य के स्वरूप, उसके ऐतिहासिक विकास और वर्तमान स्थिति के इस अवलोकन के आधार पर इतना तो सहज ही कहा जा सकता है कि हमारे देश की यह परपरा बहुत ही विविधतापूर्ण और समृद्ध है। उसमे एक ओर तो सस्कृत नाटक तथा रगमच के बहुत से तत्त्व अवशिष्ट हैं, दूसरी ओर सदियो से उसने देश की लोक धर्मी नाट्य चेतना और रुचि को अपने भीतर समाविष्ट रखा है और जन-साधारण का मनोरजन किया है। उसके भीतर नाटक रचना और रग क्रिया की ऐसी बहुत-सी पद्धतियाँ, रूढियाँ और मान्यताएँ हैं जो मूलत कभी पुरानी नही पडती, और जिनसे किसी भी देश और काल का रगकर्मी प्रेरणा ले सकता है, बहुत कुछ सीख सकता है। कम से कम अपने रगमच को *नयी गहराई का आयाम प्रदान करने और साथ ही देश के जन-साधारण की* रग चेतना से सम्बद्ध करने मे लोक नाट्य बहुत कुछ सहायक हो सकता है। वास्तव मे सर्जनशील और सक्रिय रगकर्मी के लिए देश के लोक नाट्य का यह महत्त्व बहुत ही बडा है, और उससे सवेदनशील सपर्क से आज के शहरी रगमच की बहुत-सी जडता, निष्प्राणता और कृत्रिमता को तोड कर उसमे कल्पनाशीलता और गहराई के समावेश के बहुत से उपाय सूझ सकते हैं। लोक रगमच की उन्मुक्तता, चित्रण, रग-रचना तथा दृश्य विधान मे बाह्य यथार्थपरकता के स्थान पर दर्शक की कल्पनाशीलता पर बल, अभिनेता और दर्शक-वर्ग के बीच अधिक घनिष्ठ और सीधा सबध, सगीत का अत्यत नाटकीय उपयोग, सूत्रधार तथा अन्य अ-यथार्थवादी विधियो द्वारा नाट्य व्यापार पर टिप्पणी और नाटक को जीवन की गहरी मौलिक मान्यताओ और मूल्यो से जोड सकने की सभावना आदि सभी ऐसे पक्ष हैं *जिनके बडे उपयोगी सूत्र रगकर्मी को अपने लोक नाट्य* मे प्राप्त हो सकते हैं, उनके लिए विदेशी पथ प्रदर्शको का मुँह जोहना आवश्यक न रहेगा। सभवत इससे नाटक लेखन की भी नयी दिशाओ का सूत्रपात हो और नयी सक्रियता और सप्राणना हमारे देश के नाटक साहित्य मे आये तथा आज की गतिरोध-जैसी अवस्था टूटे।

इस सबध मे यह बात विशेष रूप से बार-बार सामने आती रही है कि इन नाट्य प्रकारो के प्रदर्शन व्यावसायिक स्तर पर स्वय उनके अपने प्रदेश के

विभिन्न नगरो मे, तथा अन्य प्रदेशो मे भी, आयोजित हो। जिन नाट्य प्रकारो की नियमित व्यवसायी मडलिया मौजूद हैं उनके प्रदर्शन तो उनके क्षेत्र मे देखे जा सकते हैं, और साथ ही उनके प्रदर्शन के विभिन्न भागो मे भी आयोजित किये जा सकते है। किन्तु यह सुविधा मूलत यात्रा या तमाशा नाटको के लिये ही सभव है जिनका व्यावसायिक सगठन इस प्रकार का है कि न केवल उनके कार्यक्रम यत्र-तत्र होते ही रहते हैं, बल्कि उन्हे आमत्रित करके दूसरे स्थानो पर ले जाया सकता है। किन्तु दूसरी ओर कम से कम यात्रा के रूप पर शहरी नाटक का प्रभाव इतना अधिक है कि कुछेक ऊपरी बातो को छोडकर उनका परम्परामूलक महत्त्व अब नगण्य हो गया है। ठेठ प्राचीन प्रकार के यात्रा नाटक तो अब सहज ही देखने को मिल नही सकते। नौटकी का मौजूदा रूप इतना विकृत है कि उस रूप मे उसका प्रचार बढाना न तो सभव है, न उचित। अन्य नाट्य प्रकार इतने सीमित है कि उनके प्रदर्शन बहुत कम सभव हो पाते हैं।

वास्तव मे, अपने प्रकृत रूप मे लोक नाट्य इतने भिन्न प्रकार के दर्शक-वर्ग, कलात्मक रुचि और मान्यताओं से सम्बद्ध हैं कि शहरी दर्शकों के सामने उन्हे प्रदर्शित करने के पहले उनमे बहुत-से परिवर्तन और 'सुधार' आवश्यक जान पडते हैं। ऐसे दोनो प्रकार के प्रयत्न बहुत सफल नही होते। यदि लोक नाट्य के किसी प्रकार को उसके उपलब्ध मौजूदा रूप मे शहरी दर्शक-वर्ग के के सामने प्रस्तुत किया जाए तो अपनी बहुत-सी अनगढताओं के कारण, भदेस पन के कारण, वे साधारण दर्शक-वर्ग मे लोकप्रिय नही हो पाते और उनका आकर्षण कुछेक शिल्प प्रेमियो तक सीमित रहता है। दूसरी ओर, यदि उनके नाटको मे सशोधन करके, या कोई नया नाटक उन्हे देकर, तथा उसके प्रदर्शन मे परिवर्तन करके, प्रस्तुत किया जाय, तो वे स्वय बहुत ही अटपटा और अस्वाभाविक अनुभव करते हैं और उनकी सारी सहजता, तल्लीनता, विश्वसनीयता तथा स्वाभाविकता चली जाती है। साथ ही नाट्य रूप का मूल सौंदर्य प्रकट नही हो पाता इसलिए अन्तत शहरी दर्शकों को रुचिकर नही लगता। इस *भाँति अपने सहज स्वाभाविक दर्शक-वर्ग से बाहर इन लोक नाट्यो का प्रदर्शन* बहुत सफल और उपयोगी नही हो पाता। इसी प्रकार उनका मूलभूत कलात्मक सौंदर्य बनाये रख कर उनमे परिवर्तन तथा सशोधन का काम भी बहुत दूर तक सफल नही होता। क्योकि किसी भी कला रूप का स्वाभाविक विकास भीतर से, अपनी आतरिक प्रेरणा से, अपनी आवश्यकताओ के अनुरूप ही, हो सकता *है, बाह्य दबाव से नहीं। 'यात्रा' का आधुनिक रूप इसका प्रमाण है।* आज वह परम्परा-प्रेमी दर्शको को चाहे जितना अवाछनीय लगे, पर उसने धीरे-धीरे एक ऐसा रूप ले लिया है जिसको बाहर से बदलना सभव नही। ऐसी निजी आतरिक प्रेरणा के अभाव मे देश के अन्य लोक नाट्य-रूपो को कोई गति नही दी

जा सकती। उनमे सुरुचिपूर्ण और वास्तविक परिवर्तन का एक ही उपाय हो सकता है कि कुछ जागरूक शिक्षित नाट्य प्रेमी पूरा समय लगा कर इन नाट्य-प्रकारो के शिल्प को पूरी तरह सीखें, उसमे डूबें और उसकी रचना और शिल्प की आत्मा से परिचित होकर फिर उसे नये ढग से, सस्कार करके, प्रस्तुत करें। यह समय-सापेक्ष और परिश्रम-साध्य कार्य है जिसके लिए पर्याप्त सख्या मे उत्साही कलाकार और आर्थिक सुविधाएँ आवश्यक हैं। किसी कला रूप का नव-सस्कार या तो अपनी स्वाभाविक गति से हो सकता है या ऐसे ही अनन्य और व्यापक प्रयत्न द्वारा। सरकारी ढग के या अधूरे प्रयत्नो से विकृति ही अधिक आती है, प्राण प्रतिष्ठा नही होती।

वास्तव मे लोक कला के अन्य रूपो की भाँति, लोक नाट्य के सरक्षण का प्रयत्न भी सस्थामूलक हो सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि कोई एक ऐसी अनुसधान सस्था अथवा देश के अलग अलग भागो मे कई सस्थाएँ, स्थापित की जायें जहाँ इन नाट्य रूपो के उपलब्ध श्रेष्ठ विशेषज्ञ नवोदित कलाकारो को नाट्य विशेष के शिल्प मे प्रशिक्षित करें और फिर उनके द्वारा आधुनिक जीवन के उपयुक्त नये नाटको की रचना और प्रदर्शन सबधी प्रयोग हो सकें। साथ ही उपलब्ध मडलियो के विभिन्न प्रदर्शनो की उनके वर्तमान रूप मे ही फिल्मे और टेप रिकार्ड बड़े पैमाने पर तैयार किये जायें, उनकी वेशभूषा तथा रूप-सज्जा के विभिन्न प्रामाणिक उपकरण सगृहीत हों, प्राचीन लोक नाटको की छपी या हस्तलिखित प्रतियाँ एकत्र की जायें। ऐसे व्यापक प्रयत्नो और उपायो के बाद ही ऐसी परिस्थितियाँ तैयार हो सकती हैं जिनम इन लोक नाट्यो से हमारे नये कलाकार समुचित लाभ उठा सकें। यदि स्वतत्र अथवा स्वायत्त सास्कृतिक सस्थाएँ ऐसा अनुसधान और पुनरुद्धार का कार्य हाथ मे लें तो सचमुच बहुत उत्तम हो, पर इसकी सभावना बहुत कम है। इसलिए स्पष्ट है ऐसा प्रयत्न राजकीय प्रोत्साहन के बिना आज के युग मे बड़ा दुष्कर है। वास्तव मे हमारे वर्तमान कलात्मक नव-जागरण की समस्याएँ इतनी विस्तृत और व्यापक हैं कि ऊपरी उपचार से लाभ के बजाय हानि की सभावना ही अधिक है।

व्यक्तिगत रूप मे विभिन्न कलाकर्मी लोक नाट्य के रूप का यथासभव गहन अध्ययन करें और उसकी विभिन्न विशेषताओ का अपने नाटको की, रग-मच की, दृश्य विधान की, अथवा सम्पूर्ण प्रदर्शन की, परिकल्पना और रचना मे प्रयोग करें यह एक अलग प्रश्न है। निस्सदेह उनके प्रयत्नो के परिणाम उनकी निजी सर्जन-क्षमता, कल्पनाशीलता और ग्रहण-शक्ति तथा कला-सस्कारो पर निर्भर करेंगे। उसमे जो कुछ बनेगा बिगड़ेगा, वह स्वय उनका ही। पर जहाँ स्वय लोक कलाकारो के प्रशिक्षण, सुधार अथवा सस्कार का प्रश्न है वहाँ काम बड़े महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व और समझदारी का है। केवल उत्साह, सदाशयता,

आदर्शवादिता से प्रायः ऐसे क्षेत्रों में बड़े घातक परिणाम होते देखे गये हैं। इसका प्रमाण फिल्मी और राजनीतिक पार्टियों के प्रचारात्मक गीतों में, लोक संगीत की धुनों के अंधाधुंध दुरुपयोग में देखा जा सकता है। लोरी और भजनों की धुनों में क्रांतिकारी संदेश अथवा प्यार की बातें, विलंबित लय में बँधे उदासी भरे स्वरों की तेज़ और तीखी उत्तेजक लय में बंदिशें, अथवा ऐसे ही प्रयोग तत्काल चाहे जितने प्रभावपूर्ण हों, अंततः उनसे लोक संगीत की सूक्ष्मता और स्वाभाविकता क्रमशः नष्ट होती जाती है और फिर उसका यथार्थ कलात्मक उपयोग करने की संभावना नहीं बचती। लोक नाट्य की भी, केवल चमत्कार पैदा करने के लिए, अथवा तात्कालिक व्यावसायिक सफलता की दृष्टि से, ऐसा प्रयोग असंभव नहीं। पर किसी संवेदनशील समझदार रंगकर्मी को ऐसा करने में झिझकना चाहिए।

हमें परंपरा का दास नहीं बनना है, पर साथ ही हमें उसके साथ मनमानी करने का भी कोई अधिकार नहीं। आधुनिक कला रचना में परम्परा के सर्जनात्मक समन्वय के लिए उसके प्रति अधिक गंभीर और संस्कारपरक दृष्टिकोण की आवश्यकता है। प्रत्येक परम्परागत पद्धति, रीति अथवा दृष्टिकोण में कुछ अंश ऐसा होता है जिसकी सार्थकता समाप्त हो चुकी है और जिसे जिलाने या फिर से लादने का चाहे जितना प्रयत्न किया जाय वह सफल नहीं होता, केवल अवांछनीय पुनरुत्थानवादी विकृति को प्रश्रय दे सकता है। कुछ अंश ऐसा भी होता है जो काल-प्रभाव में क्रमशः संचित विकृतियों से, जनजीवन की निम्नस्तरीय धारणाओं और प्रवृत्तियों से, उपजता है। बहुत बार अपने अहंकारवश लोक कला या किसी भी परम्परागत तत्त्व का उद्धार करने की होड़ में हम इन विकृतियों को, कुरूपताओं, कुसंस्कारों को, जाने अनजाने उभार देते हैं। स्पष्ट ही अपनी तात्कालिक सफलता के बावजूद यह बड़ा अहितकर सिद्ध होता है जो परम्परा को भी भ्रष्ट करता है और आधुनिक कला-प्रयोग और कला-बोध को भी। वास्तव में पुनरुद्धार और नव-संस्कार उस स्वस्थ और सजीव अंश का करना आवश्यक है जो प्रायः सहज ही नहीं सूझता पर जो सर्जनशीलता और मानव मूल्यों के मूल सिद्धांतों से अभिन्न रूप में जुड़ा होता है। सूक्ष्म अंतर्दृष्टि और संस्कार द्वारा उसे पहचान कर ही हम न केवल उस परंपरा को आगे बढ़ा सकते हैं बल्कि अपने युग के सर्जनकार्य को भी एक महत्त्वपूर्ण आयाम और गहराई दे सकते हैं। रंगमंच के विकास के मौजूदा दौर में हमें लोक नाट्य की ओर उन्मुख होने की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही उसके प्रति एक स्वस्थ और दायित्वपूर्ण दृष्टिकोण अपनाने की भी है। तभी हम अपने प्रयत्नों को सार्थक और महत्त्वपूर्ण बनाने में सफल हो सकेंगे।

नाट्य प्रदर्शन के कुछ विशिष्ट प्रकार

लोक नाट्य से ही किसी हद तक मिलती-जुलती, यद्यपि कई बातों में सर्वथा भिन्न, स्थिति हमारे देश में नाट्य प्रदर्शन के कुछ अन्य रूपों की है। हमारे यहाँ नियमित नाटक और उसका प्रदर्शन चाहे जितना कम रहा हो, पर नाट्य-प्रदर्शन के कई अन्य रूपों की बड़ी भारी विविधता रही है, शास्त्रीय और लोक नृत्य, नृत्य अथवा संगीत मूलक नाटक, तथा पुतली कला के इतने विविधप्रकार सारे देश में मिलते हैं कि आश्चर्य भी होता है और साथ ही उससे देश के सांस्कृतिक जीवन में रंगमंचीय कार्यकलाप की प्राणवत्ता पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अवश्य ही इन विभिन्न नाट्य रूपों और प्रकारों का कलात्मक स्तर एक-दूसर की तुलना में, या अपने आप में भी, एक-सा ही नहीं रहा है। पर एक ओर उन्होंने देश के विभिन्न भागों में नाट्य प्रदर्शन की परंपरा सैकड़ों वर्षों से कायम रखी है, और दूसरी ओर आज विभिन्न क्षेत्रों में नाट्य प्रदर्शन के विविध रूपों के उदय में उनका बड़ा भारी योग है। यह पहले कहा जा चुका है कि हमारे देश का परंपरागत रंगमंच मूलत संगीत और नृत्य प्रधान ही रहा है और उसके ये मौलिक तत्त्व पिछली शताब्दी में विभिन्न भाषा क्षेत्रों में आधुनिक नाटक और रंगमंच के प्रारंभ में प्रवेश पा गये थे। इसी कारण प्रत्येक प्रदेश में हमारे आधुनिक रंगमंच और फिर बाद में फिल्म में संगीत और नृत्य की इतनी बहुलता रही है। अब क्रमश हमारे नृत्य और संगीतमूलक नाट्य प्रकार अपना स्वतंत्र रूप और क्षेत्र विकसित कर रहे हैं, और जहाँ तक एक ओर कुछेक परंपरागत नृत्य रूपों का नाटकीय दिशा में विकास हो रहा है, वहीं दूसरी ओर अलग से आधुनिक नृत्य-नाट्यों की रचना भी होती रही है। इसी प्रकार कुछेक भाषाओं में ऑपेरा जैसे अथवा अन्य प्रकार के संगीत नाटक विकसित किये जा रहे हैं और देश के विभिन्न भागों में प्रचलित पुतली की विभिन्न पद्धतियों का पुनरुद्धार करने के प्रयत्न हो रहे हैं। यह स्पष्ट है कि हमारे देश में संपूर्ण रंगमंच का विकास जिन परिस्थितियों में हो रहा है, उसके कारण इनके विकास की भी विशेष समस्याएँ और दिशाएँ हैं। इसलिए भी, और इन नाट्य रूपों के हमारे संपूर्ण रंगजीवन में विशेष स्थान के कारण भी, उनके ऊपर कुछ विस्तार से विचार करना आवश्यक जान पड़ता है।

नृत्य-नाट्य या बैले

नृत्य-नाट्य या बैले हमारे देश के लिए नाम भी नया है और एक प्रकार से यह परिकल्पना भी नयी है। भारतीय रग परपरा मे कथाबद्ध नृत्य या सगीत, नाटक या उसके पर्यायवाची नामो से ही अभिहित होता रहा है जैसे कथकलि नाटक, यक्षगान नाटक, कुरवजी नाटक या भवई के वेश आदि। बैले या नृत्य-नाट्य नाम उदयशकर तथा उनकी प्रेरणा या अनुकरण या प्रभाव मे बनी कथा-बद्ध नृत्य रचनाओ को दिया जाता रहा है। इस प्रकार अपने नृत्य-प्रधान नाट्य पर हम दो रूप मे विचार कर सकते हैं एक परपरा और दूसरा आधुनिक या प्रयोगमूलक। यह विभाजन सुविधा के लिए ही है और अतत बहुत सुस्पष्ट और निश्चित नही।

परपरागत नृत्य-नाट्य मे कथकलि का स्थान सबसे महत्वपूर्ण है। साधारणत नाट्य अथवा अभिनय प्रधान नृत्य हमारी सभी शास्त्रीय नृत्य परपराओ मे मिलते हैं, पर कथकलि ऐसी शास्त्रीय शैली है जिसमे नृत्त या नृत्य एक सुसम्बद्ध कथा के अतर्गत ही आता है और मुख्य बल नृत्य द्वारा एक कथा को अभिव्यजित करने पर है। इस प्रकार कथकलि अपने मूल स्वरूप मे ही एक नृत्य-नाट्य है जिसमे नाट्य शास्त्रीय ग्रथो मे वर्णित पद्धतियो के अनुसार कथा-वस्तु और उसमे सन्निहित भावो और विचारो का प्रदर्शन किया जाता है। कथकलि प्रदर्शन के नाटक सब महाभारत और रामायण के प्रसगो पर आधारित और मलयालम भाषा मे लिखित हैं। प्रदर्शन मे इन नाटको को गायक गाता जाता है, और नर्तक-अभिनेता हस्तको और मुखाभिनय द्वारा उनका प्रदर्शन करते जाते हैं। कथकलि प्रदर्शन मे अभिनेता स्वय न तो कुछ कहता है न गाता है। समस्त कथा पीछे गायक द्वारा ही प्रस्तुत की जाती है। वास्तव मे कथकलि प्रदर्शन का चमत्कार और अपूर्व महत्त्व उसके अभिनेताओ द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु, क्रिया, भाव, बिम्ब या विचार को अपनी अभिनय की 'भाषा' द्वारा प्रस्तुत कर सकने मे है। इसमे नृत्त या *नृत्य-सबधी गतियाँ विभिन्न अभिनय स्थलो को जोडने की कडी के रूप मे, अभिनय कार्य के वाहक के रूप मे, एकरसता को तोडने के लिए ही काम आती हैं। नृत्य का और उन गतियो का* कोई अन्य या आत्यतिक महत्त्व और स्थान नही। इसीलिए कथकलि नाटक मे मूलत गतियो का या किसी प्रकार के समूहन आदि का कोई विशिष्ट नाटकीय प्रयोग नही होता। सुपरिचित पौराणिक कथाओ और प्रसगो का नाट्य *रूपेण ही कथकलि मे होता है। इसीलिए कथकलि प्रदर्शन मे नर्तक-अभिनेता* की व्यक्तिगत कल्पनाशक्ति और अभिनय-क्षमता ही मुख्य तत्त्व है। नर्तक-अभिनेता अपनी उपज से एक ही भाव दशा या विचार को तरह-तरह के बिम्बो द्वारा प्रदर्शित करता है और समर्थ तथा विख्यात कथकलि अभिनेता सुपरिचित

प्रसग म भी अपनी सूझ और प्रतिभा से नवीन भावो और मनोदशाओ की उद्‌भावना करता है ।

किन्तु स्पष्ट है कि इस व्यक्तिगत प्रतिभा की अभिव्यक्ति के बावजूद, कलात्मक दृष्टि से बहुत उच्च और विकसित होने के बाद भी, नाटक के रूप म कथकलि नृत्य नाट्य का क्षेत्र बहुत व्यापक नही है । कथकलि नाटको की सख्या सीमित है और वे सभी पौराणिक गाथाओ से सबधित हैं । और जब तक नाटक ही नये न लिखे जायें, इन गाथाओ का भी आधुनिक सदर्भो म उपयोग सभव नही । कथकलि नृत्य नाट्य मूलत एक उत्कृष्ट शास्त्रीय नृत्य परपरा के रूप मे ही हमारे रगजीवन का अग है और रह सकेगा । निसदेह पिछले दिनो कथकलि मे भी कुछेक परिवर्तन हुए है, और कुछ और भी होगे । जैसे, कथकलि प्रदर्शनो की अवधि छह आठ घटे से घटाकर नागर दर्शकवर्ग की आवश्यकताओ के अनुरूप दो-ढाई घटे तक सीमित कर ली गयी है । अब या तो सपूर्ण कथा-प्रसग के कुछ अश प्रदर्शन के लिए चुने जाते हैं अथवा उनके विभिन्न भावपूर्ण स्थलो की व्याख्या इतने विविध प्रकार से और विभिन्न बिम्बो द्वारा नही की जाती । कथकलि मूलत खुले मैदानो मे उन्मुक्त आकाश तले प्रदर्शित होने के लिए बना था । उसकी सगीत-योजना, प्रकाश-व्यवस्था, उसकी सज्जा और वेशभूषा सब मे इस बात की छाप है । अब नगरो म बद नाटकघरो मे प्रदर्शन के लिए इन सभी बातो मे आवश्यक सशोधन-परिवर्तन होते हैं तथा और भी होगे । पर वे सभी मूलत ऊपरी ही है और शैली की मूल आत्मा की रक्षा करते हुए वैसे ही हो सकते हैं । पिछले दिनो नये प्रसगो पर भी कथकलि नाटक लिखने और प्रदर्शन करने के प्रयत्न हुए है, पर एक तो ये प्रयत्न अपने आप मे ही छिटपुट हैं, दूसरे उनको बहुत अधिक प्रोत्साहन देना कथकलि नृत्य शैली की रक्षा के लिए बहुत उपयोगी नही होगा । इसके बजाय आधुनिक नृत्य-नाट्यो म कथकलि की कुछ पद्धतिया और युक्तियो का विवेकपूर्ण उपयोग अधिक उपादेय होगा ।

अन्य परपरागत नृत्य-नाट्यो मे आध्र का कूचिपूडि नृत्य-नाट्य, तमिलनाड के भागवतमेल तथा कुरवजी नृत्य-नाट्य और कर्नाटक के यक्षगान नृत्य नाटक उल्लेखनीय हैं । ये कुछ बातो मे कथकलि जैसे ही है और कुछ म बहुत भिन्न भी । कथकलि की भाँति ये नृत्य-नाटक भी रामायण, महाभारत, भागवत आदि पुराणो के कथा प्रसगो पर आधारित हैं; और मूलत भक्तिपरक हैं, और इनमे भी सगीत, नृत्य और नाट्य का समन्वय है । बल्कि नृत्त, नृत्य और वाचिक अभिनय का इसमे बडा सतुलित सम्मिश्रण है । इनमे भी मुद्राओ, अभिनय, गीत और भाषण द्वारा कथा का उद्‌घाटन होता है । पर कथकलि से इनकी भिन्नता इस बात मे है कि इनमे स्वय नर्तक-अभिनेता भी गायन और भाषण करते हैं ।

किन्तु इनकी रचना में ही अकेले नर्तक के लिए ऐसे अंश निर्दिष्ट रहते हैं जिनमें वह नृत्त प्रस्तुत करता है। ये अंश अलंकरण अथवा किसी भावदशा के उद्दीपन के लिए ही होते हैं, कथावस्तु से उनका विशेष संबंध नहीं होता। कूचिपूडि और भागवतमेल नृत्य-नाटकों के बीच में अलग से हास्य का भी समावेश किया जाता है। और उनमें विदूषक एक पात्र होता है जिसे कोनंगी कहते हैं। कथकलि से इनकी एक अन्य महत्वपूर्ण भिन्नता इस बात में भी है कि इनमें रूपसज्जा और वेशभूषा साधारण दैनंदिन जीवन के अधिक समीप होती है, कथकलि जैसी अलौकिकता नहीं होती। इनका संगीत शुद्ध कर्नाटक पद्धति का होता है और ये खुले रंगमंच पर प्रदर्शित किये जाते हैं। कर्नाटक के यक्षगान नाटकों की कथावस्तु भी पौराणिक प्रसंगों से ली गई है। पर उनमें नृत्य की अपेक्षा संगीत का अधिक महत्त्व है और उसी पर बल भी है। उनमें आशु गद्य संवाद भी होते हैं, पर मुख्य कथा या तो भागवत (कथागायक) द्वारा या स्वयं पात्रों द्वारा ही प्रस्तुत की जाती है। इसी कोटि का नाटक उत्तर भारत का रासलीला भी है। ये सब निस्संदेह रोचक और महत्वपूर्ण नृत्य-नाट्य रूप हैं जिनके संरक्षण और जहां आवश्यक है वहां परिसंस्कार और प्रदर्शन आदि का प्रश्न बड़ा मूलभूत है।

किन्तु आज के रंगकर्मी के सामने इससे भी बड़ा प्रश्न यह है कि आधुनिक जीवन-दृष्टि तथा कलात्मक अथवा आधुनिक संवेदनशीलता के परिष्कार के लिए, इन नाट्य प्रकारों के विभिन्न रूप और व्यवहारों का, आधुनिक नृत्य-नाट्य रचना में सर्जनात्मक प्रयोग किस प्रकार हो। क्योंकि आधुनिक कथा-वस्तु या अनुभूति की अभिव्यक्ति इन शैलियों की रूप और शिल्पगत विशेषताओं को बनाए रखकर कर सकना कठिन है। कथकलि या कूचिपूडि में आधुनिक जीवन या भावों की व्यंजना के प्रयत्न बड़े अटपटे ही हो सकते हैं, जिनमें न तो भारतीय नृत्य या नाट्य परंपरा और रूपगत तत्त्वों की रक्षा हो पाती है और न आधुनिक जीवन की तीव्रता और संघर्ष ही सही रूप में व्यक्त हो पाता है। इसलिए आधुनिक जीवन को अभिव्यक्त करने के लिए तो ऐसे नवीन नृत्य-नाट्य रूप के विकास की आवश्यकता है जो हमारे देश की परंपरागत पद्धतियों के विभिन्न सूत्रों का एक नया विन्यास कर सके और उसके द्वारा आधुनिक जीवन के भावबोध को, उसकी संवेदनशीलता को, उसकी प्रत्यक्ष सीधी अनुभूति को, रूपायित कर सके। पिछले तीस-पैंतीस वर्षों में हमारे देश में नृत्य-नाट्य का ऐसा रूप विकसित करने के प्रयत्न निरंतर हुए हैं, और यद्यपि आधुनिक भारतीय नृत्य-नाट्य का कोई रूप अभी स्थिर नहीं हो पाया है फिर भी उसके बहुत-से पक्ष क्रमशः स्पष्ट होते जा रहे हैं।

एक प्रकार से इन प्रयत्नों का प्रारंभ रवीन्द्र नाथ ठाकुर के नृत्य-नाटकों

म मानना चाहिए। रवीन्द्रनाथ ने न केवल बड़े काव्यात्मक और सुगठित नृत्य-नाटक लिखे बल्कि उनके लिए संगीत और नृत्य की एक शैली भी तैयार की तथा उनके प्रदर्शन भी शांतिनिकेतन में किये। किंतु अपनी समस्त मौलिकता और सर्जनशीलता के बावजूद ये नृत्य-नाटक मूलतः उनके काव्य के वाहन मात्र हैं। उनकी अपनी अलग अर्थवत्ता पर्याप्त नहीं। इसीलिए यद्यपि प्रारंभ में, और बाद में भी बहुत दिनों तक, अपनी रूपगत नवीनता के कारण और नृत्य-के सर्वथा अभिनव उपयोग के कारण, ये नृत्य-नाट्य बहुत आकर्षक लगे। पर क्रमशः उनके दृश्य रूप की दुर्बलता अधिकाधिक स्पष्ट होती गयी। और आज शान्तिनिकेतन शैली के य नृत्य-नाटक बड़े पुनरावृत्तिपूर्ण, निष्प्राण और नृत्य की दृष्टि से बड़े फीके लगते हैं। उनमें शब्दों के ऊपर इतना बल है कि उनका दृश्य पक्ष कभी उभर नहीं पाता। साथ ही जिस भाववस्तु को रवीन्द्रनाथ के य नृत्य-नाटक प्रकट करते हैं, उसका रोमैंटिक कल्पनापरक आधार भी आज के भारतीय जीवन म से बहुत-कुछ नष्ट हो चुका है। वे आज की भावानुभूति को प्रकट नहीं करते और न उनमें किसी क्लासिक कोटि की कृति का-सा रूप और भाव की इतनी गरिमा ही है कि वे अधिकांश दर्शकों को तृप्ति दे सकें। इस बीच देश की अन्य सशक्त प्राणवान तथा व्यंजनापरक नृत्य शैलियों का प्रचार भी इतना बढ़ा है कि रवीन्द्रनाथ के नृत्य-नाटकों के परंपरागत रक्त-ताणहीन प्रदर्शन अब इतने सशक्त और प्रबल नहीं जान पड़ते। रवीन्द्रनाथ द्वारा प्रवर्तित नृत्य-नाटक शैली में जो और नृत्य-नाटक बने हैं या बनाए जाते हैं उनम भी यही कठिनाई बनी रहती है, और वे न तो काव्य सौंदर्य को ही प्रकट कर पाते हैं, न गति, लय और अभिनय द्वारा दृश्य सौंदर्य को। नृत्य-नाटक की यह शैली एक अंतरिम रूप की भाँति अब धीरे-धीरे अपना प्रभाव खोती जा रही है।

नृत्य-नाट्य को वास्तविक प्रेरणा और रूप इस शताब्दी के तीसरे दशक म उदयशंकर ने दिया। उन्होंने योरप में बैले का अध्ययन किया था और उसी के आधार पर उनके मन में भारतीय नृत्य परंपरा में बैले बना सकने का विचार आया। अपने अल्मोड़ा के संस्कृति केन्द्र (कल्चर सेंटर) में उन्होंने देश की सभी प्रमुख शास्त्रीय नृत्य शैलियों के चोटी के गुरुओं को एकत्रित किया और इन सभी शैलियों के अलग अलग तत्वों को अपने नृत्य-नाट्यों म समंजित करने का प्रयत्न किया। और इस प्रकार क्रमशः उन्होंने एक ऐसी शैली विकसित की जिसमें भारत की शास्त्रीय तथा लोक नृत्य परंपराओं और पश्चिमी बैले पद्धति का समन्वय था और जिसके द्वारा आधुनिक जीवन के यथार्थ को नृत्य के माध्यम से अभिव्यक्त किया जा सकता था। उनके 'जीवन की लय' और 'श्रम और यंत्र' आदि बैले भारतीय नृत्य-नाट्य परंपरा में सर्वथा अभिनव अध्याय थे। उनकी इन रचनाओं में एक और तत्व स्पष्ट हुआ। इन रचनाओं में नृत्य किसी शब्दबद्ध

काव्य-रचना या कथा की व्याख्या नही था। बल्कि एक समग्र अनुभूति अपनी समस्त कथात्मकता के साथ गतियो, नृत्य-रचनाओ, समूहनो और अभिनय द्वारा व्यक्त की गयी थी। गीत और सगीत इसमे एक सहायक अग मात्र था। समस्त कथावस्तु का और भाववस्तु का भावन और रूपायन मूलत नृत्य द्वारा किया गया था। वास्तव मे भारतीय नृत्य मे उदयशकर की क्रातिकारी देन यही है कि उन्होने नृत्य-नाट्य को शब्द से मुक्त कर दिया और उसे एक स्वतत्र, स्वसपूर्ण कला माध्यम का दर्जा दिलाया। इसके लिए उन्होने देश की प्रत्येक नृत्य पद्धति के विभिन्न तत्त्वो का सहारा लिया जिससे एक नयी नाटकीय नृत्य भाषा तैयार हुई। उदयशकर की परवर्ती रचनाओ मे दुर्भाग्यवश अनुभूति की प्रखरता और तीव्रता उतनी न रही, वे अपने आपको दुहराने लगे और उनकी मडली भी बिखर गयी। फलस्वरूप उनका ध्यान यात्रिक और दृश्य-सज्जा-सबधी चमत्कार तथा विविधता पर अधिक चला गया। उनका छाया नाटक 'गौतम बुद्ध' इसका प्रमाण है जिसमे वे रगशिल्प के चौकानेवाले साधनो मे अधिक उलझ गये हैं। किन्तु उनकी नृत्य पद्धति मे अब भी शुद्ध बैले की रचना की, गति और अभिनय द्वारा भावाभिव्यक्ति की प्रधानता है। रवीन्द्रनाथ जन्म शताब्दी समारोह मे प्रदर्शित उनके बैले 'सामान्य क्षति' मे भी यह बात दिखाई पडी। पिछले दस वर्ष मे जितनी नृत्य-नाट्य रचनाएँ हुई हैं, उनकी तुलना मे इसमे सबसे कम शब्द का सहारा लिया गया था।

उदयशकर के बाद शाति वर्धन ने नयी दिशाएँ खोजने का प्रयास किया। जन नाट्य सघ (इप्टा) के साथ उनकी प्रारभिक रचनाएँ 'भारत की आत्मा' तथा 'अमर भारत' और बाद मे लिटिल बैले ट्रुप के साथ 'रामायण' और 'पचतत्र' इन्ही नयी राहो के प्रतीक हैं। इनमे क्रमश पश्चिमी और शास्त्रीय नृत्यो का प्रभाव कम होकर हमारे लोक नृत्यो और लोक नाट्यो का प्रभाव क्रमश बढा है। उनकी नाट्यानुभूति भी अधिक सहज और जीवत है, और देश की परपरा और जीवन-दृष्टि से अपने आप को जोडने की चेतन अवचेतन प्रेरणा भी अधिक प्रबल है। इसीलिए वे नृत्य-नाट्य को एक नयी दिशा दे सके, और 'पचतत्र' तथा 'रामायण' उनकी ऐसी रचनाएँ हैं जिनका भावात्मक और कलात्मक प्रभाव कभी क्षीण नही होता। उनमे गहरी जीवन-दृष्टि की ऐसी गीतात्मक अभिव्यक्ति है जो सदा मन को छूती है।

एक प्रकार से यह उदयशकर से आगे का चरण था, क्योकि इन रचनाओ मे भारतीय मानस की अधिक सच्ची अभिव्यक्ति थी और उसमे भाववस्तु, रूप और शिल्प, सभी के स्तर पर परपरा और प्रयोगात्मकता का बडा कलात्मक समन्वय था। साथ ही देश की कलात्मक सपत्ति के एक अनन्य स्रोत लोक नृत्य और नाट्य का भी उनमे कही अधिक प्रामाणिक और सर्जनात्मक उपयोग हुआ।

किन्तु दूसरी ओर, क्रमशः ऐसा लगा कि शायद अपने साधनों और सहयोगियों की सीमाओं के कारण, शांति वर्धन फिर शुद्ध नृत्य-नाट्य से शब्दाधारी नृत्य-नाट्य की ओर लौट पड़े। उनकी उपरोक्त दोनों प्रमुख रचनाओं में गीतों और शब्दों का आधार इतना अधिक नहीं है, यद्यपि उदयशंकर की रचनाओं की अपेक्षा वह निश्चित अधिक है। किन्तु शांति वर्धन के बाद बननेवाले अधिकांश नृत्य-नाट्यों में यह प्रवृत्ति अधिकाधिक बढ़ती दीखती है। लिटिल बैले ट्रूप की ही परवर्ती रचनाओं 'मेघदूत' और 'क्षुधित पाषाण' में नृत्य की अभिव्यंजक शक्ति का उपयोग उसी कुशलता से नहीं हो सका है। उनमें भाव और रूप और शिल्प की वही अन्विति और अनिवार्यता भी नहीं है। ऐसा लगता है कि वे किसी सुनिश्चित सूत्र को पकड़े-पकड़े चल रहे हैं, सुपरिचित कथा के नये नृत्यात्मक भावन और उसकी व्यंजना से इन रचनाओं में इतना अधिक साक्षात्कार नहीं होता। इसी कारण अपनी बहुत-सी सुन्दरता और कलात्मकता के बावजूद, ये नृत्य-नाट्य के विकास को आगे नहीं ले जाते, पिछली उपलब्धियों के इर्द-गिर्द ही चक्कर काटते रहते हैं।

शचीनशंकर की रचनाओं 'साँझ सवेरा' और 'मछुवा और जलपरी' में अधिक तात्कालिक यथार्थ को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न है और किसी हद तक उनमें बैले को शुद्ध बनाये रखने का भी प्रयत्न दीखता है। पर कुल मिलाकर उनकी भाववस्तु में अनुभूति की अथवा शिल्प की प्रखरता या प्रबलता नहीं। शचीनशंकर की रचनाएँ कालनिकता में सुन्दर बनने के प्रयत्न में खो जाती हैं, उनमें जीवन का वेग नहीं अनुभव होता। उनके ही एक अन्य सहयोगी नरेन्द्र शर्मा की 'रामलीला' में तो शब्द के ऊपर निर्भरता भी बहुत अधिक है और उनका शिल्प भी जोड़-तोड़ कर बनाया जान पड़ता है, उसमें कलात्मक समग्रता या अन्विति की बड़ी कमी है। नरेन्द्र शर्मा अभिव्यक्ति की सहजता, सूक्ष्मता और प्रामाणिकता की बजाय उसके वृहदाकार होने पर अधिक ध्यान देते हैं। 'रामलीला' के अनुरूप ही भगवान दास की 'कृष्ण लीला' में भी वही शब्द निर्भरता और विभिन्न तत्वों की पंचमेल खिचड़ी बनाने की प्रवृत्ति ही अधिक है। 'कृष्ण लीला' इस प्रकार के नृत्य-नाट्यों में सबसे अधिक आकार अन्वितिहीन है।

इसी सिलसिले में पार्वतीकुमार द्वारा रचित और इंडियन नेशनल थियेटर द्वारा प्रस्तुत 'देख तेरी बंबई' का उल्लेख आवश्यक है। यह विशुद्ध बैले है, पर इसकी वस्तु और शिल्प इतना बिखरा हुआ और पराजकतापूर्ण है, और यह इतने विदेशी, प्रयोगात्मक और फ़िल्मी प्रभावों से आक्रान्त है कि उसका समुचित प्रभाव नहीं हो सकता। वैसे उसकी कथावस्तु भी बंबई का जीवन, और अपनी तात्कालिकता, सामयिकता और स्थान-स्थान पर अपने तीखे व्यंग्य की

दृष्टि से निस्सदेह वह महत्वपूर्ण भी था। उसमे यदि कलात्मक विवेक और सयम अधिक बरता गया होता तो वह भारतीय बैले के लिए एक नयी दिशा खोल सकता था।

नृत्य-नाट्यो के इस सर्वेक्षण को समाप्त करने के पहले उन प्रयत्नो का उल्लेख भी आवश्यक है जो विभिन्न शास्त्रीय नृत्य शैलियो मे कथात्मक नृत्य रचने की हो रही है। दिल्ली मे भारतीय कला केन्द्र ने बिरजू महाराज के निर्देशन मे कत्थक शैली मे 'कत्थक की कहानी', 'मालतीमाधव', 'कुमार सभव', 'शाते बबप' और 'डालिया' आदि नृत्य नाट्य बनाये। सिहजीत सिंह के निर्देशन मे त्रिवेणी कला सगम ने मणिपुरी शैली मे 'बब्रुवाहन' नामक नृत्य-नाट्य प्रस्तुत किया। कथकलि और भरत नाट्यम शैलियो मे भी इस प्रकार के प्रयत्न देश के विभिन्न भागो म हो रहे है।

शास्त्रीय नृत्य शैलियो पर आधारित इन नृत्य-नाट्यो की सीमाएँ बडी स्पष्ट है। एक तो कथा सूत्र के ऊपर और फलत शब्दो और गीतो के ऊपर उनकी निर्भरता और भी बहुत अधिक होती है। वास्तव मे वे विभिन्न शुद्ध नृत्य के अशो को किसी कथा सूत्र से जोडने के प्रयत्न से अधिक कुछ नही हो पाते। इन नृत्य-नाट्यो के सबसे सुन्दर और कलात्मक अश शुद्ध नृत्य वाले ही होते हैं, बाकी अशो मे कथा-सूत्र बडे प्रारभिक, अस्फुट, लगभग बचकाने अभिनटन के द्वारा प्रकट किया जाता है। उनमे नृत्य रचना, गतियो के समूहन, और भावाभिनय का पक्ष बहुत दुर्बल रहता है। प्राय इनके नर्तको का प्रशिक्षण उस शैली विशेष के नृत्य का तो होता है, पर अभिनटन के व्यापक सिद्धान्तो से उनका परिचय तक नही होता। कत्थक नृत्य-नाट्यो मे यह कठिनाई बहुत ही अधिक है, क्योकि कत्थक नृत्य शैली मे अभिनयात्मक पक्ष वैसे ही बहुत सीमित, अविकसित और दुर्बल है। जीवन की विविध भावदशाओ को व्यक्त करने के उपयुक्त भाषा अभी उसके पास नही। नृत्य-नाट्य मे यह सीमा घातक बन जाती है। अनिवार्य रूप मे इसलिए शैली विशेष की शुद्धता बनाये रखने और कथा की विभिन्न भावदशाओ को अभिव्यक्त करने योग्य गतियों और भगिमाएँ रचने के बीच निरतर अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता है। विशेष शास्त्रीय शैली पर आग्रह के कारण कथानक का चुनाव सीमित हो जाता है और आज के जीवन को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य उनमे नही हो पाती। कोई आधुनिक कला-रचना प्राचीन कथाओ और प्रसगो को दुहराते रह कर प्राणवान नही रह सकती। इसलिए जहाँ एक ओर कत्थक-जैसी नृत्य शैलियो को अधिक अभिव्यजक बनाने के लिए, उनकी भावाभिव्यक्ति की क्षमता के विस्तार और प्रसार के लिए, और उनके अभिनय पक्ष को अधिक पुष्ट और जीवत आधार देने के लिए, नये कथा-प्रसगो का सहारा लेना लाभ-

दायक है, वही इन शैलियो मे तथाकथित बैले रचने के प्रयत्नो मे साधनो और व्यक्तिगत प्रतिभा से अत्यधिक दुरुपयोग और निष्फल होने की भी आशका है।

वास्तव मे, हमारे देश मे नृत्य-नाट्य या बैले-जैसे कला-रूप का विकास *आधुनिक यथार्थ की अनुभूति से सबद्ध हुए बिना समुचित नही हो सकता।* इसका अर्थ है अपनी ही नृत्य शैलियो पर आधारित एक ऐसी नृत्य भाषा का समुचित विकास जो आज के यथार्थ को वाणी दे सके। दूसरे शब्दो मे, उदयशकर और शाति वर्धन के ही प्रयत्नो का उत्तरोत्तर विकास और परिवर्धन। हमारी शास्त्रीय प्राचीन नृत्य शैलियाँ अपने प्रकृत रूप मे ही सुरक्षित रहनी चाहिए। उनका आधुनिकीकरण क्रमश उनके आतरिक सौष्ठव और रूपगत अन्विति, दोनो को तोड देगा। उस स्थिति मे वे भी अतत अपना विशेष रूप खोकर *या तो आधुनिक नृत्य-जैसी बन जायेंगी या उस शैली का ही कोई* अधकचरा विकृत रूप निकल आयेगा, जैसा कई बार फिल्मो मे लोक सगीत की धुनो का निकल आता है। आधुनिक जीवन की कलात्मक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अलग से पुरानी परम्परा के विभिन्न तत्वो का नया समन्वित रूप विकसित करना उचित है। इसमे एक लाभ यह भी है कि रचनाकार उसका उपयोग पूरे साहस के साथ, अपनी परपरा को विकृत कर बैठने के भय की कुठा बिना कर सकेगा। कला परपरा की सुरक्षा और आधुनिक जीवन की *आवश्यकता के लिए सर्जनात्मक विधाओ के उपयोग और विकास की यह* समस्या प्रत्येक कला रूप के लिए, विशेषकर रगमचीय कला रूपो के लिए, एक-सी है। उसका समाधान भी सभी क्षेत्रो मे लगभग एक-सा ही होगा।

नृत्य-नाट्य के विकास के लिए हमारे देश मे पर्याप्त साधन और आधार मौजूद हैं। भारत जैसे बहुभाषा भाषी देश मे उसकी सप्रेषणीयता अन्य सभी नाट्य रूपो से अधिक है और हमारे देश मे किसी न किसी रूप मे उसकी परपरा भी रही है। आज आवश्यकता हमारे नृत्य रचयिताओ और नाट्य चितको मे सुस्पष्ट चितन और साहसपूर्ण मार्गदर्शन की है, ताकि सक्रमण के इस युग मे ऐसी भूलें न हो जायें जिनके प्रभाव को मिटाना सभव न हो और हमारी नृत्य परपराएँ एक आत्मघाती दिशा मे मुड जायें।

भारतीय सगीत नाटक

हमारे देश के विशिष्ट नाट्य प्रकारो मे एक अन्य महत्वपूर्ण रूप है सगीत नाटक। यह हमारे नाटक और रगमच के विकास मे निहित अतर्विरोध का ही एक रूप है कि परपरागत भारतीय रगमच इतना अधिक सगीत प्रधान होने पर भी आधुनिक सगीत नाटक हमारी भाषाओ मे ठीक से विकसित नही हो रहा है। वास्तव मे, पिछली कई दशाब्दियो मे हम यथार्थवादी रगमच की

स्थापना मे इस प्रकार उलझे रहे हैं कि अपने देश के परम्परागत संगीत प्रधान रंगमंच पर हमारा ध्यान कुछ दिनो पहले ही, और वह भी उड़ता-उड़ता-सा, गया है। फलस्वरूप जहाँ हमारे देश की विशिष्ट आर्थिक-सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के कारण समर्थ यथार्थवादी रंगमंच की ठीक-ठीक स्थापना और उसका समुचित विकास नही हो पाया, वही संगीत-प्रधान रंगमंच भी कोई उल्लेखनीय प्रगति नही कर सका है। पिछले दिनो पाश्चात्य रंगमंच की अयथार्थवादी प्रवृत्तियो के, विशेषकर ब्रेस्ट के, प्रभाव म नाटक मे संगीत की खोज के हमारे प्रयास बढे हैं, पर वे प्राय या तो ऊपरी और सतही हैं, अथवा किसी गहरी कलात्मक संवेदनशीलता और संगीत तथा नाटक की समझ से प्रेरित नही। संगीतमूलक नाटक की रचना अथवा नाटक म संगीत के प्रयोग के हमारे प्रयासो मे भी बहुत बार योरपीय नाट्य रूपो के अनुकरण की ही प्रवृत्ति रही है, भारतीय संगीत नाटक के अपने निजी प्रकारो को किसी रचनात्मक सार्थकता और आधुनिक संवेदनशीलता के स्तर तक ले जाने की नही।

इस स्थिति का एक कारण सभवत देश के परम्परागत रंगमंच से अपरिचय अथवा अधकचरा परिचय है। हमारे देश मे संगीतमूलक गेय नाटक का अभाव नही। बल्कि संपूर्णत गेय नाटको के बहुत-से प्रकार यहाँ विभिन्न भागो मे पाये जाते हैं। यक्षगान, रास लीला, नौटकी, भवई, माच, ललित, दशावतार, तमाशा, यात्रा आदि लोक नाट्य रूप संपूर्णत अथवा अशत संगीतमूलक नाटक हैं। इनमे से यात्रा जैसे कुछेक प्रकार ऐसे हैं जो क्रमश संपूर्णत अथवा अधिकाशत गद्य नाटक बन गये हैं, और बीच-बीच मे कुछेक गीतो के अतिरिक्त अब उनमे संगीत का विशेष महत्त्व नही, रासलीला, भवई और तमाशा जैसे कुछ प्रकार ऐसे हैं जिनमे गद्य और संगीत दोनो का प्रयोग होता है, और फिर नौटकी जैसे कुछेक प्रकार भी हैं जो प्राय संपूर्णत संगीतमूलक हैं और संगीत का उपयोग विभिन्न नाटको मे गीतो की धुनो और कुछ संवादात्मक अंशो को संगीतात्मक रूप देने के लिए होता है। किन्तु इस विविधता के बावजूद एक बात इन सब म समान है कि इनमे से प्रत्येक नाट्य रूप की श्रेणी संगीत रचना प्राय पहले से सुनिश्चित है जो उस रूप विशेष के सभी नाटक मे एक-सी ही रहती है। इस दृष्टि से वे गेय गाथाओ के अधिक समीप हैं जिनमे कुछ सुनिश्चित छदो और धुनो मे विशेष पौराणिक अथवा लौकिक आख्यान गाये जाते हैं। उदाहरण के लिए, नौटकी मे प्रत्येक पात्र प्रत्येक नाटकीय स्थिति मे कुछ सुनिश्चित छदो की सुनिश्चित धुनों में अपनी बात कहता है। संगीत का यह रूप प्रत्येक नाटक मे प्रारंभ से अत तक कुछेक गौण परिवर्तनो के साथ लगभग एक-सा ही रहता है, नाटक की कथावस्तु के अनुरूप और विभिन्न भावो तथा नाटकीय स्थितियो के अनुरूप संगीत बदलता नही। इसी

बात को यो भी कह सकते है कि ये नाटक मूलत ऐसी शब्दमूलक रचनाएँ है जिनके वर्णन और सवाद गेय होते है और निश्चित धुनो मे गाये जाते है । उनमे रचना शब्दो की होती है, मूलत सगीत की नही ।

यह बडे दुर्भाग्य की ही बात है कि न केवल भारतीय सगीत नाटक की इन विशेषताओ का आधुनिक यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए उपयोग करने का कोई प्रयास नही हुआ, बल्कि इन सगीत नाटको को जीवत आधुनिक रगमच का अग बनाने की दिशा मे भी बहुत प्रयत्न नही हो सके । सभवत महाराष्ट्र मे तमाशा ही इसका एक मात्र अपवाद है । पिछले आठ-दस वर्षो मे तमाशा की लोकप्रियता बढी है, उसकी मडलियाँ नगरो और देहातो मे समान भाव से लोकप्रिय हुई हैं, और उसके फलस्वरूप वसत सबनीस या विजय तेंडुलकर जैसे नाटककारो ने नये तमाशा नाटक लिखने का भी प्रयास किया है, जिनमे परपरागत रूपबध मे आधुनिक सवेदना को व्यक्त किया गया है । आधुनिक मराठी नाटक और रगमच की दिशा पर इसका गहरा और मूलभूत प्रभाव पडने की सभावना है । मराठी नाटक मे यो भी सगीत नाटक की बडी लबी परपरा रही है । एक जमाने मे तो मराठी नाटको मे बीस-पच्चीस से लगा कर सौ तक गाने हुआ करते थे और अभिनेता का अभिनेता होने से भी अधिक गायक होना आवश्यक समझा जाता था । इसलिए तमाशा का यह आधुनिक विकास और लोकप्रियता मराठी नाट्य जगत और दर्शक-वर्ग के परपरागत सगीत प्रेम को आत्मसात् कर सकेगा और मराठी रगमच अधिक जीवत और समृद्ध हो सकेगा ।

अन्य भाषाओ के रगमचो म इस दिशा मे बहुत अधिक प्रगति नही दीख पडती । पजाबी मे एक अन्य प्रकार का प्रयोग हुआ जिसे ऑपेरा कहा गया । किंतु यह नाम वास्तव मे भ्रामक और दुर्भाग्यपूर्ण है, क्योकि भारतीय सगीत नाटक की प्रकृति पाश्चात्य ऑपेरा से भिन्न है और यह भिन्नता बडी मौलिक तथा महत्वपूर्ण है । ऑपेरा मूलत सगीत के माध्यम से नाटक की रचना है । इसी-लिए प्रत्येक ऑपेरा का सगीत अलग अलग होता है । बल्कि यह भी सभव है कि एक ही कथावस्तु पर बल्कि एक ही 'लिबरेटो' पर, एक से अधिक ऑपेरा रचा जा सके । इसी कारण वास्तविक ऑपेरा मे शुरू से अत तक उतार-चढाव सगीत मे आता है और नाटकीयता की सृष्टि इस सगीत के माध्यम से ही होती है । इस दृष्टि स अपने देश के सगीत प्रधान अथवा सपूर्णत सगीतात्मक नाटको का भी ऑपेरा कहना ठीक नही है ।

पिछले आठ-दस वर्षो मे ऑपेरा रचना के जो प्रयत्न हुए है उनमे इस अन्तर की चेतना बहुत स्पष्ट नही रही है । ऑपेरा रचना के जो प्रयत्न पजाबी भाषा मे दिल्ली मे हुए उनमे शीला भाटिया की चार रचनाएँ, 'घाटी की

पुकार', 'हीर-राझा' 'पृथ्वीराज सयोगिता' और 'चांद, बद्दलां दा,' धन्नो कुराना का 'सोहनी महीवाल' और आर० जी० आनद का 'ससी पुन्नू' आदि हैं। वास्तव म तथाकथित ऑपेरा की यह शुरूआत कुछ दिलचस्प ढग से ही हुई। शीला भाटिया की पहली या दूसरी रचना थी 'घाटी की पुकार' जिसमे विभिन्न पजाबी लोकगीतो की धुनो के आधार पर कश्मीर म पाकिस्तानी कबाइलियो के आक्रमण और उनके विरुद्ध कश्मीर तथा देश के अन्य भागो की जनता के जागरण का चित्र प्रस्तुत किया गया था। इस रचना मे कथानक पर इतना बल नही था, उपयुक्त तथा मन को छूनेवाली धुना को सावधानी से सजोकर भावा के नाटकीय उतार-चढाव और प्रभाव का प्रयत्न किया गया था। इन भावा की अभिव्यक्ति के मूल वाहन थे वे गीत जो उन धुनो के लिए लिखे गये थे। पर फिर भी, क्योकि मूलत सयोजन विभिन्न धुनो का एक नाटकीय उद्देश्य से किया गया था, इसलिए उसमे सगीतात्मक रचना का प्रभाव भी था और उसके माध्यम से भावाभिव्यक्ति भी।

'घाटी की पुकार' की सफलता से प्रेरित होकर शीला भाटिया ने अब हीर रांझा की सुप्रसिद्ध लोककथा के आधार पर एक नयी सगीत-प्रधान रचना तैयार की। इस रचना का मूल स्रोत वारिस शाह की सुप्रसिद्ध प्रेमगाथा 'हीर' ही था जिसकी परपरागत गायन शैली को ही इसकी सगीत रचना का आधार बनाया गया। इस रचना के अधिकाश स्थल हीर की परपरागत धुन मे ही गाय गये। किन्तु साथ ही कुछेक पात्रो और स्थितियो के लिए अन्य लोक धुनो का प्रयोग किया गया तथा अधिकाश कथा-सूत्र जोडनेवाले प्रसगो के लिए सस्वर पाठ का। इस रचना की कथावस्तु दर्शको के लिए, विशेषकर पजाबी-भाषी दर्शका के लिए, सुपरिचित थी और अत्यत सरस तथा भावपूर्ण भी थी। उसको रगमच पर दृश्य रूप मे रखने से, और साथ ही उसकी परपरागत गायन पद्धति मे कुछ नये तत्त्वो का समावेश करने से, एक अत्यत ही लोकप्रिय प्रदर्शन की सृष्टि हुई, जिसे उसकी सगीत प्रधानता के कारण, ऑपेरा कहा गया। पर अपनी समस्त लोकप्रियता तथा सगीत के उपयोग के बावजूद, वास्तव मे यह ऑपेरा नही था। क्योकि एक तो इसमे परपरागत तथा हीर गायन-पद्धति का उपयोग बहुत था, और दूसरे, उसकी प्रमुख हृदयस्पर्शिता उसके शब्दो और उनके भावात्मक सबधो म थी। अन्य सगीतात्मक अश भी प्राय लोक धुनो तक सीमित थे। इनमे इन धुनो का कलात्मक उपयोग तो बहुत जगह था, पर उनके पीछे कोई सगीत सृष्टि नही थी। इस प्रकार 'हीर-राझा' एक नये प्रकार का गाथा-गायन या जिसे दृश्य रूप देकर तथा अन्य सगीतात्मक तत्त्वो को सजोकर आकर्षक बनाया गया था। किन्तु साथ ही इसमे ऑपेरा या आधुनिक सगीत नाटक के भावी विकास की दिशा और सभावना के सूत्र भी मौजूद थे।

'हीर-राँभा' के नाट्य रूप के अपने विशिष्ट आवेदन के स्रोत और उसकी सीमाएँ शीला भाटिया की अगली रचना 'पृथ्वीराज सयोगिता' मे एकदम प्रगट हो गयी। इस रचना का कथासूत्र परपरागत नही था, लेखिका ने ही उसे विशेष प्रकार से सजाकर नाटकीय रूप देना चाहा था। इसलिए उसके शब्दो मे कोई परपरागत आवेदन भी नही था। साथ ही उसके लिए कोई परपरागत सगीत भी उपलब्ध नही था। उसके विभिन्न स्थलो के लिए *शीला भाटिया ने देश के विभिन्न प्रदेशो से लोक धुनो को चुनकर, ज्यो की त्यो, या बदल कर, और अवसरानुकूल बनाकर रखा था।* शीला भाटिया के पास लोक गीतो की धुनो का भडार तो है, पर उन्हे सगीत का विधिवत ज्ञान या शिक्षा प्राप्त नही है। फलस्वरूप 'पृथ्वीराज सयोगिता' के सगीत मे न तो पर्याप्त विविधता आ सकी न सचमुच नाटकीय विकास और उतार-चढाव। दरअसल, लोकसगीत बहुत सीमित रूप म ही यह काम कर सकता है। किसी ऑपेरा का नाटकीय सगीत शास्त्रीय शैलियो के *बिना नही रचा जा सकता। विभिन्न भावदशाओ, तथा कथा स्थितियो की सूक्ष्मताओ को अभिव्यक्त करने वाले निरतर बदलते हुए* सगीत के बिना वास्तविक ऑपेरा नही हो सकता। 'पृथ्वीराज सयोगिता' इसीलिए कई वर्ष की लम्बी तैयारियो, और प्रदर्शन-सबधो अन्य तडक भडक के बावजूद न तो अधिक सफल ही हुआ, न एक उल्लेखनीय रचना ही बन सका। उसमे भी शब्दो का बहुत आश्रय था, सगीत प्राय अपने आप मे अभिव्यजनापूर्ण न था, तथा उसम सूक्ष्मता विविधता और नाटकीयता का प्राय अभाव था, *यद्यपि कुछेक धुनें अलग से बडी आकर्षक और सुन्दर थी। सभवत ऑपेरा रचना की कुछेक कठिनाइयो को अनुभव करके शीला भाटिया ने अपनी* नवीनतम रचना 'चाँद बद्दलाँ दा' को ऑपेरा नही सगीतात्मक नाटक कहा। उसम वे एक प्रकार से 'घाटी की पुकार' के रूप को लौट गयी और एक अपेक्षाकृत अस्पष्ट कथासूत्र के सहारे हृदयस्पर्शी लोक धुनो को नाटकीय ढग से सजाने का प्रयास किया।

सस्सी पुन्नू' या 'सोहनी महीवाल' ऑपेरा रचना की दृष्टि से इस अर्थ म तो निश्चित ही अगला चरण था कि उसमे लोकधुनो का सग्रह मात्र न था, बल्कि उसमे शास्त्रीय और लोक सगीत के रचनात्मक और नाटकीय उपयोग का प्रयत्न किया गया था। उसम स्वर रचना, राग और लय की विविधता थी और उनको भावानुकूल बनाने का प्रयत्न था। किंतु उसका कथानक सुपरिचित लोकप्रिय प्रेमकथा होने के बावजूद, उसकी नाट्यकथा (लिबरेटो) मे नाटकीय तत्त्वो की दुर्बलता थी, *जिसके कारण रचना म नाटकीय विकास पर्याप्त नही था और उसका चरम बिंदु बडा दुर्बल और बडा आकस्मिक था। साथ ही विभिन्न* दृश्यों का आतरिक समायोजन, उनकी गति और लय, उनका परस्पर सबध

और उनका उत्तरोत्तर नाटकीय विकास, शिथिल था। अभिनय और प्रदर्शन के स्तर पर भी उसमे गतियो की सरचना, समूहन, भावाभिव्यक्ति आदि मे दुर्बलता थी। इसके बावजूद यह कहा जा सकता है कि यद्यपि 'हीर-रांझा' अधिक लोकप्रिय हुआ था और उसमे अधिक स्वत स्फूर्तता तथा भावात्मक पकड थी, फिर भी नाट्य रूप की दृष्टि से 'सोहनी महीवाल' उससे अधिक विकसित और सर्जनात्मक था, 'पृथ्वीराज सयोगिता' से अधिक सफल तो वह था ही। आर० जी० आनद के 'ससी पुन्नू' मे इन्ही सब विशेषताओ के विविध मिश्रण के अलावा तडक भडक कुछ अधिक थी और नाट्य कथा भी कुछ अधिक कमजोर थी। कुल मिलाकर पंजाबी के ये सभी प्रयत्न उपेरा की दृष्टि के बजाय सगीत नाटक की सभाव्य सफलता की ओर ही इशारा अधिक करते हैं।

पंजाबी मे सगीत नाटक को इस अपेक्षाकृत सफलता से प्रेरित होकर तथा कुछ स्वतत्र रूप मे उर्दू-हिंदी मे भी कुछ प्रयत्न दिल्ली मे हुए जिनमे लिटिल थिएटर ग्रुप द्वारा 'इन्दरसभा', इन्द्रप्रस्थ थिएटर द्वारा 'दरबारे-अकबरी' और हबीब तनवीर की 'नयी' नौटकी 'मिट्टी की गाडी', 'मिर्जा शोहरत' का उल्लेख किया जा सकता है। 'इन्दरसभा' १६वी शताब्दी मे लिखा गया अमानत का प्रसिद्ध सगीत-नृत्य-प्रधान नाटक है और उसके पुनरुद्धार का प्रयास उचित ही था। पर उसमे अभिनय तथा नाटकीय गतियो नृत्यो और सगीत का परस्पर सयोजन ठीक-ठीक नही हो सका। दृश्य विधान और सपूर्ण निर्देशन मे भी कल्पनाशीलता पर्याप्त न थी। इसलिए अपनी बडी भारी सभावनाओ के बावजूद वह पूरी तरह सफल न हो सका, यद्यपि उसने सगीत नाटक की कलात्मकता और व्यापक दर्शक-वर्ग तक पहुँचने की क्षमता को निश्चित रूप से रेखाकित किया। 'दरबारे-अकबरी' का आलेख कमजोर था और रोचकता के बावजूद वह तडक-भडक और विभिन्न रगशिल्पीय युक्तियो का सग्रह मात्र रह गया था।

हबीब तनवीर के दोनो प्रयत्न कई दृष्टियो से बडे दिलचस्प तो थे पर वे कई विवादास्पद प्रश्नो को भी उकसाते थे। 'मिट्टी की गाडी' शूद्रक के 'मृच्छकटिक' को प्रयोगात्मक सगीत-प्रधान शैली मे प्रस्तुत करने का प्रयास था और 'मिर्जा शोहरत' मौलियर के 'बूर्जुवा जेंट्लमैन' के उर्दू रूपातर को। दोनो मे दो सुप्रसिद्ध नाटको को सगीत द्वारा एक नया आयाम देने और अधिक व्यापक करने का प्रयास था। सगीत तथा उत्कृष्ट नाटक का आधार सगीत से एक ओर सर्जनात्मक अपेक्षा करता था, दूसरी ओर उसे सार्थक स्तर पर स्थापित भी करता था। पर जहाँ 'मिर्जा शोहरत' मे हबीब तनवीर का सगीत सर्वथा उपयुक्त और नाटक की भाववस्तु के अनुकूल था, वही 'मिट्टी की गाडी' का सगीत अपने आप मे अत्यत आकर्षक और प्रस्तुतीकरण मे प्रभावी होते हुए

भी नाटक की भाववस्तु के साथ ठीक ठीक मेल न खाता था। 'मिट्टी की गाडी' के प्रदर्शन की अन्य शैलीगत चौंकाने वाली बातों के साथ सगीत की इस अनुपयुक्तता ने उस प्रयोग को बहुत प्रभावशील न होने दिया और सगीत नाटक के विकास मे उसका कोई विशेष योग न हो सका।

सगीत और नाटक की रचना के अन्य भाषाओं मे भी प्रयत्न हो रहे हैं, पर बड़े पैमाने पर शायद कही नही हुए। इसका एक कारण शायद उसमे बहुत अधिक धन की आवश्यकता भी है। किन्तु इन प्रयत्नो के आधार पर भी देश मे सगीत नाटक के विकास के सबध मे कुछेक बातें साधारण तौर पर कही जा सकती हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि हमे अपने सगीत नाटको को न तो आँपेरा कहना चाहिए और न अभी आँपेरा रचने की ओर अपने साधनों को बिखेरना चाहिए। आँपेरा हमारे देश के लिए नया नाट्य प्रकार है जिसम मूलत सगीत के माध्यम से नाट्य रचना होगी। उसकी मुख्य भाववस्तु की अभिव्यक्ति सगीत और गीत के माध्यम से होना आवश्यक है। इसका अर्थ है कि ऑपेरा की सृष्टि एक सगीतकार द्वारा ही हो सकती है। निस्सदेह ऐसी रचना मे भारत के शास्त्रीय और लोक दोनो प्रकार के सगीत का प्रयोग हो सकता है, या केवल शास्त्रीय सगीत का प्रयोग हो सकता है, किन्तु विशुद्ध लोक सगीत के आधार पर सशक्त आँपेरा रचना शायद सभव नही। सगीत रचना होने के कारण यह आवश्यक नही कि आँपेरा रचनाकार कुशल निर्देशक-प्रस्तुतकर्ता भी हो ही। उसके प्रदर्शन के लिए ऐसे निर्देशको की आवश्यकता होगी जो सगीत के भी जानकार हो और प्रदर्शन के भी। ऑपेरा के कथासूत्र और गीतों की रचना के लिए एक अन्य प्रकार की काव्यात्मक - नाट्यात्मक प्रतिभा चाहिए जिससे उसके लिए रचा गया सगीत उपयुक्त शब्दा और उनम आवश्यक काव्य और नाट्यगुण के अभाव मे निरर्थक न हो जाय।

किन्तु निस्सदेह हम अपनी भाषाओ म आधुनिक अनुभूति और सवेदना को व्यक्त करने वाला कलात्मक सगीत नाटक अवश्य विकसित कर सकते है। इसके लिए सुप्रसिद्ध और उत्कृष्ट नाटको का भी प्रयोग हो सकता है और नये नाटक विशेष रूप म इसीलिए लिखे जा सकते हैं। जहाँ तक उनके लिए सगीत रचना का सबध है उनकी रचना म हमारे रचनाकार देश के विभिन्न सगीत-मूलक नाटको की युक्तियां, रूढियाँ, और पद्धतियों का नया सर्जनात्मक उपयोग कर सकते हैं। कुछ विशेष भावदशाओं अथवा नाट्य स्थितियो के लिए अथवा वर्णनात्मक रचना के लिए नौटकी, तमाशा या माच के कुछ छद या उनकी बदिशें या उनके ढग शायद कुछ परिवर्तन के साथ काम म लाये जा सकते हैं। नौटकी के नगाडे या तमाशा के ढकनारे या गुभी या पहाडी हुड़के की ध्वनियो का बडा नाटकीय प्रयोग हो सकता है और होना चाहिए। हिन्दी सगीत नाटक मे दोहा

या दौड के छद कई अवसरो पर सूत्र जोडने के लिए, सक्षिप्त वर्णन के लिए बडे प्रभावोत्पादक हो सकते हैं। सगीत नाटक के उपयुक्त छदो, धुनो और आनुषगिक तथा वाद्य सगीत की ओर हमारे रचनाकारो का ध्यान जाना आवश्यक है। इसी प्रकार हमारे सगीत नाटका के कुछेक परपरागत पात्रो और उनकी रूढियों की भी बहुत उपयोगिता हो सकती है।

इन नाटको की दृश्य-सज्जा के विषय मे भी एक चेतावनी आवश्यक है। पश्चिम म ऑपिरा का जन्म और विकास बडी ब्यौरेवार साज-सज्जा, यथार्थवादी दृश्याकन आदि की पृष्ठभूमि म हुआ था और *अतिरजना और अतिसज्जा*, को जैसे ऑपिरा और सगीत नाटक का अग ही माना जाता है। अपने देश मे इस समय सगीत नाटक के विकास के लिए यह तनिक भी आवश्यक नही। बल्कि हमारे देश की नाट्य दृष्टि सदा इसके विपरीत कल्पनाशीलता और सुरुचिपूर्ण सरलता की रही है। हमे अपने सगीत नाटक म विशेष रूप से अनावश्यक यथार्थवाद और अलकरण से बचने की आवश्यकता है, जिससे महत्त्वपूर्ण वस्तु को भुलाकर बाहरी टीमटाम का महत्त्व न बढ जाये।

हमारे देश मे सगीत नाटक के सबध म एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न गायक *अभिनेताओ को सगीत और अभिनय की शिक्षा देने का है। पिछले दिनो रेडियो* के प्रचार से हमारे देश के सगीत प्रशिक्षण मे आवाज को दबाकर गाने का अभ्यास चल पडा है और गले मे खुलेपन और शक्ति के विकास की ओर ध्यान नही दिया जाता। यह तो भारतीय शास्त्रीय सगीत के लिए बहुत घातक है। पर सगीत नाटक के गायको का प्रशिक्षण तो सर्वथा भिन्न प्रकार से होना आवश्यक है। इस दृष्टि से हमारे नौटकी-जैसे परपरागत सगीतमूलक नाटको के गायक अभिनेता बडे उत्कृष्ट कोटि के कलाकार सिद्ध होंगे। गले तैयार करने की उनकी पद्धतियो पर और सगीत ज्ञान तथा सुरीलेपन के साथ स्वरो द्वारा *नाटकीय भावाभिव्यक्ति पर ध्यान दिया जाना चाहिए।* उपयुक्त *गला का* चुनाव और उचित प्रशिक्षण सगीत नाटक के विकास की पहली शर्त है। पजाबी ऑपेरा के पिछले सभी प्रदर्शनो मे नाटकीय कठो की कमी या उनकी दुर्बलता बडी भारी समस्या रही है। बहुत बार गला तो अच्छा होता है पर अभिनय की सामर्थ्य नही होती, या अभिनय की सामर्थ्य होती है पर गले मे दम नही और वह थोडी देर के बाद ही बुझा-सा, निर्जीव, भावहीन हो जाता है। सगीत नाटक प्रशिक्षण-साध्य है और दीर्घकालीन अभ्यास के बिना सफल नहीं हो सकता। इसलिए वह सर्वथा शौकिया, अव्यवसायी लोगो द्वारा ठीक-ठीक नही *चलाया जा सकता, यद्यपि पिछले सभी सगीत नाटक अव्यवसायी लोगो* द्वारा ही किये गये हैं। पर यह निरा प्रयोगात्मक कार्य ही है। पिछले अनुभवो से लाभ उठाकर और अपने आप को निरतर प्रशिक्षण द्वारा अधिकाधिक योग्य बनाकर

ही सगीत नाटक मडली किसी स्तर पर पहुँच सकती है।

इस दृष्टि से सगीत नाटक ऐसा नाट्य रूप है जिसे सबसे अधिक आर्थिक सहायता की आवश्यकता है, और सचमुच हमारे यहाँ तब तक सगीत नाटक का उचित विकास नही हो सकता जब तक किसी न किसी प्रकार का स रक्षण उसे न मिले। वह साधारण नाटक और रगमचीय कार्य से इस बात मे बहुत भिन्न है और इने गिने छिटपुट व्यक्तिगत प्रयत्न उसकी सभावनाओ के ही सूचक हो सकते हैं किसी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के नही।

अ त मे शायद यह बात फिर दोहरानी चाहिए कि हमारा सगीत नाटक अपने शिल्प और दृष्टिकोण मे पश्चिमी ढग अख्तियार करे, यह न केवल अनावश्यक है बल्कि घातक होगा। सशक्त अभिव्यजनापूर्ण आधुनिक भारतीय सगीत नाटक के विकास के लिए हमारी सगीत और नाट्य परपरा मे सभी तत्त्व मौजूद हैं। उनके समुचित कलात्मक आकलन और उपयोग से सहज ही नही तो परिश्रमपूर्वक अवश्य ही, एक ऐसा नाट्य रूप विकसित हो सकता है जो प्रभावशाली और लोकप्रिय भी हो और हमारी नाट्य परपरा को भी समृद्ध और परिपूर्ण करे। सगीत प्रधान नाटक हमारे देश मे बहुत सहज ही लोकप्रिय होता है। इसलिए उचित अवसर, परिस्थिति और प्रोत्साहन मिलने पर देश के विभिन्न भागो मे उसका न केवल सहज ही विकास हो सकता है, बल्कि शीघ्र ही वह हमारे नाट्य जीवन मे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकता है।

पुतली रगमच

नृत्य-नाट्य और सगीत नाटक की भाँति ही एक अन्य विशिष्ट नाट्य प्रकार है कठपुतली। ससार के रगमच के इतिहास मे कठपुतली का स्थान बडा अनोखा और अनन्य है। दुनिया के लगभग प्रत्येक देश मे भटकने वाली कठपुतली मडलियाँ जनसाधारण का मनोरजन करती रही हैं। हमारे देश मे भी कठपुतली के प्रदर्शन बहुत प्राचीन काल से चले आते हैं, बल्कि बहुत लोग तो उसे देश का प्राचीनतम रगमच ही नही, 'सूत्रधार' शब्द और पात्र के आधार पर, सस्कृत रगमच का जनक या कम से कम प्रारभिक रूप मानते हैं। यह बात चाहे सही हो या न हो, इतना निश्चित है कि कठपुतली प्रदर्शन की परपरा हमारे देश मे अत्यन्त ही दीर्घकालीन और व्यापक है। आज भी देश के विभिन्न भागो मे कठपुतली के विभिन्न प्रकार पाये जाते हैं और उनका आकर्षण हर प्रकार के जनसमुदाय मे बडा गहरा और मूलभूत है।

उत्तर भारत मे ही हम सभी ने कभी अवश्य देखा होगा कि किसी सडक के किनारे अथवा किसी बगीचे के अहाते मे, खुले मैदान अथवा छोटे बरामदे मे, दिन के समय अथवा साझ के झुटपुटे के बाद, बिजली अथवा पैट्रोमैक्स की

रोशनी में, बड़ा-सा साफा और मोटे-मोटे फटे-पुराने कपड़े डाटे हुए दो-तीन पुरुषों और रंगीन घाघरा, चोली और ओढ़नी पहने एक-दो स्त्रियों ने अपने चारों ओर उत्सुक बूढ़ों-बच्चों और नौजवानों की एक छोटी-सी भीड़ इकट्ठी कर ली है। एक ओर को अथवा बीचोंबीच ओढ़नियों अथवा रंगीन छपी हुई चादरों के परदों से बना 'रंगमंच' है जिस पर ढोलक के गीत पर, और मुख में बाँस की पी-पी रख कर बोले गये लयबद्ध सवादों के सहारे काठ की पुतलियाँ तरह-तरह के खेल दिखाती है। पीछे का परदा काला है जिससे पुतलियों को नियन्त्रित करने वाले डोरे दिखाई नहीं पड़ते और लगता है मानो वे कठपुतलियाँ अपने ही मन से नाची जाती हों, और हर तरह का करतब दिखाती हों। खेल की कथा अमरसिंह राठौर की वीरता, ढोला-मारू की प्रेम कहानी जैसे किसी प्रसंग को लेकर ही होती है, पर मूल कथा के साथ-साथ उसमें अनगिनत मनोरंजक घटनाओं, नाटकीय स्थितियों अथवा छोटे-छोटे प्रसंगों की भी कमी नहीं रहती। सँपेरा, बाज़ीगर, घुड़सवार, नाचनेवाली—सभी अपनी अपनी कला दिखाने का अवसर उस प्रदर्शन में पा जाते हैं और मुख्य कहानी के वीरतापूर्ण प्रसंगों, तथा घमासान तलवार की लड़ाई और मारकाट के साथ साथ, मुक्त हास्य और विनोद के अवसर भी उसमें एकदम सहजता तथा स्वाभाविकता के साथ उपस्थित होते हैं, और प्रदर्शन शुरू से अन्त तक आकर्षक और दिलचस्प बना रहता है।

उत्तर भारत में ये राजस्थानी कठपुतली वाले सर्वपरिचित हैं। इनकी ये छोटी-छोटी पुतलियाँ डोरी से चलती हैं। इनमें गति की विविधता इतनी नहीं है जितनी तेज़ी है। इनका सारा शरीर चलता है और वे मंच पर इधर से उधर सहज ही उछाली जा सकती हैं। इनकी वेशभूषा राजस्थानी शैली की होती है। इन खेलों में संगीत कमज़ोर और नीरस होता है, यद्यपि सवादों में इनके नचाने वाले काफी उपज और का परिचय देते हैं।

देश के अन्य भागों में कठपुतली के खेल बौम्मलाट्टम अर्थात् पुतलियों का नाच कहलाते हैं। ये पुतलियाँ आकार में राजस्थानी कठपुतलियों से बहुत बड़ी, लगभग आदमकद होती हैं और इसीलिए अधिक भारी भी। वे भी डोरी या लोहे के पतले तार से चलाई जाती हैं। राजस्थानी कठपुतली से भिन्न उनके सिर और हाथों में अधिक लचीलापन और गति होती है जिसके कारण व अपनी गर्दन और हाथों से बहुत-सी भंगिमाएँ और गतियाँ दिखा सकती हैं, जो भरत नाट्यम-जैसे अधिक सीधी रेखाओं वाले नृत्य के लिए सर्वथा आवश्यक हैं। जिस प्रकार राजस्थानी कठपुतलीवाले कुछ-कुछ कथक-जैसा नृत्य दिखाते हैं, उसी प्रकार बौम्मलाट्टम के कलाकार भरत नाट्यम-जैसा नृत्य प्रस्तुत करते हैं। इन पुतलियों की रूपसज्जा और वेशभूषा अब अधिकाधिक यथार्थवादी होती

जाती है, और यद्यपि वे देखने मे अधिक सजी हुई लगती हैं, पर इसी कारण—और अपन बडे आकार के कारण भी—बडी कृत्रिम लगती है, और उनमें कठ-पुतली-सुलभ सरलता और भोलापन कम लगता है। उडीसा मे कागज की लुग्दी की बनी हुई पुतलियो से खेल किया जाता है और कर्नाटक मे पीतल की भी पुतलियाँ बनती है। आन्ध्र में चमडे की बडी-बडी पुतलियाँ बनाई जाती है जिससे सफेद परदे पर काली या रंगीन छायाओ द्वारा प्रदर्शन किया जाता है। य चमडे की तथा बगाल मे प्राप्त काठ की पुतलियाँ डोरी के बजाय पीछे या नीचे से लकडी के डडे पर चलाई जाती हैं। राजस्थानी कठपुतलियो के अतिरिक्त अन्य इन सभी प्रकार की पुतलियो के खेल महाभारत और रामायण के प्रसगो पर ही आधारित है और उनमे राजा हरिश्चन्द्र और भक्त प्रह्लाद-जैसी सुपरिचित नाटकीय कथाएँ प्राय दिखाई जाती हैं। इनमें से कई प्रदेशो के पुतली प्रदर्शनो मे सवाद और सगीत का भी योग सुन्दर होता है।

पुतली कला के इस आकर्षण और लोकप्रियता के बावजूद यह बात भी सही है कि धीरे धीरे यह कला गिरती जा रही है। अब इन परपरागत पुतली प्रदर्शनो म न केवल ताजगी और चमत्कार का, निपुणता और विविधता का, अभाव महसूस होता है, बल्कि मनोरजन का यह साधन अब बडी जीर्ण-शीर्ण हालत मे है। परपरागत कठपुतली नचानेवाले न केवल आर्थिक दृष्टि से, बल्कि कला की दृष्टि से भी, बडी दरिद्र अवस्था मे है और धीरे-धीरे घोर अशिक्षा के कारण अपनी पुश्तैनी निपुणता भी खोते जा रहे हैं। साथ ही इसका पूरा दोष केवल उन्ही को नही दिया जा सकता। सरक्षण के अभाव तथा उत्तरोत्तर उपेक्षा के कारण उनकी स्थिति कलाकार की नही रह गयी है। यही कारण है कि इनके प्रदर्शनो म तो विविधता की कमी है ही, उनमें स्वय मे उस उत्साह का और अपने कार्य के प्रति अभिमान का अभाव है, जो दरिद्र से दरिद्र अवस्था मे कलाकार को विशिष्टता प्रदान करता है। अपन कौशल के प्रति प्रेम के अभाव के कारण भी वे अब उसम नवीनता लान का प्रयत्न नही करते उस नय सिर स सँवारने अथवा नयी कहानियाँ प्रस्तुत करने की ओर उनकी दृष्टि नही जाती। जो कुछ नवीनता कही-कही लायी भी गयी है वह इन प्रदर्शनो को और भी निरर्थक और घटिया बनाती है। जैसे कुछेक कठपुतली वाले अपने देहाती गीतों के स्थान पर सिनेमा के गीत गान लगे हैं। और यह जानकर आश्चर्य होता है कि इन गीतो पर प्रशसा करने मे वे अपमानित अनुभव करत हैं।

किन्तु इस सब परिस्थिति के बावजूद यदि किसी कठपुतली के प्रदर्शन म प्रस्तुत की जाने वाली सामग्री को ध्यान से देखा जाय तो यह स्पष्ट भलकता है कि अपने प्रारम्भिक मौलिक रूप म उसमें बहुत सजीवता और कलात्मकता रही होगी, और वह उचित ही एक लोकप्रिय और समर्थ कला रूप रहा है

उदाहरण के लिए, उत्तरी भारत के कठपुतली खेलों में सुपरिचित अमरसिंह राठौर के प्रसंग को ही ले लीजिये। उस प्रसंग में राजस्थान की गौरवपूर्ण स्वाधीनता की परंपरा पर तो जोर है ही। पर समूची घटना में—मुगल दरबार में अमरसिंह की उपस्थिति, उसकी विद्रोहपूर्ण प्रतिक्रिया, सभी कुछ में—एक ऐसी नाटकीयता है जो हर कोटि के दर्शकों को प्रभावित करने में समर्थ है। इसके अतिरिक्त दरबार में बादशाह के आगे पुतलियों द्वारा तरह-तरह के निपुणतापूर्ण खेल दिखाने, संगीत, नृत्य प्रस्तुत करने, की संभावना का भी उसमें भरपूर उपयोग किया जाता है। उत्तर भारत के अन्य कला रूपों के समान ही, दरबारी प्रभाव के कारण इन खेलों में जोर प्रदर्शन पर, शारीरिक सक्रियता और उछल-कूद पर, तथा सतही बातों पर है, किसी भावदशा की सृष्टि पर नहीं। किसी प्रकार का कोई विचार दर्शकों तक पहुँचाना भी यहाँ अभीष्ट नहीं है। इस कारण ही ये तमाशे मनोविनोद का साधन मात्र बनकर रह गये हैं और *उनका कलात्मक अंश क्रमशः कम होता गया है। भारतीय जीवन के सबसे भावपूर्ण कथा-प्रसंग हमारे धार्मिक आख्यानों में, रामायण, महाभारत, भागवत*-जैसे ग्रन्थों में हैं, और वहाँ भाव का और कलात्मकता का ऐसा अगाध निर्झर है जो कभी सूखता नहीं। भारतीय शिल्पी ने जब भी अपनी दृष्टि उस ओर उन्मुख की है उसे सदा ही अपूर्व फलप्राप्ति होती रही है। दुर्भाग्यवश उत्तरी भारत के कठपुतली वालों का इस भाव सम्पत्ति से भी सम्पर्क टूट गया है जिससे उनकी कला में नीरसता और भी बढ़ी है।

किन्तु यह नीरसता और कलात्मकता का अभाव पुतली के खेल के लिए अनिवार्य नहीं है। बल्कि मूलतः किसी भी विषय को कल्पनामूलक और काव्यात्मक ढंग से प्रस्तुत करने के लिए यह कला रूप बहुत ही उपयुक्त और समर्थ है। जीवन की मौलिक, गहरी और सीधी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में इस कला रूप का कोई जोड़ नहीं। कठपुतली के खेल में हर वस्तु अपने सहज सरल रूप में ही रखी जा सकती है, आवश्यक जटिलताओं के लिए उसमें स्थान नहीं है। जीवन की सीधी प्रबल अनुभूतियाँ बहुत बार केवल ऐसी ही सादगी से प्रकट की जा सकती हैं, जब उसके अन्य सभी आवरण, सभी प्रासंगिक अनावश्यक जटिलताएँ हटा ही जायें और अनुभव अपने शुद्ध मौलिक रूप में रह जाये। कठपुतलियों में ऐसे शुद्ध और सरल अनुभव अपने शुद्ध मौलिक रूप में रह जाये। कठपुतलियों में ऐसे शुद्ध और सरल अनुभव को प्रकट करने की अद्भुत क्षमता है, जिस प्रकार बहुत बार जीवन के अनुभव का निचोड़ पशु-पक्षी की कहानियों में अथवा परियों की कहानियों में प्रकट हो पाता है।

इसका एक कारण यह है कि इस कला रूप में व्यंजना की संभावना अधिक है। बल्कि यह कहना चाहिए कि पुतली के खेल की समर्थता और चम-

त्कार ही इसी बात म है कि उसमे प्रस्तुत की अपेक्षा अप्रस्तुत का महत्व कही अधिक है, और उसम नाटकीय प्रतीकात्मकता का उपयोग जितना अधिक किया जा सके उतना ही अधिक प्रभावपूर्ण उसे बनाया जा सकेगा। इस दृष्टि से पुतली के खेल की तुलना नृत्य-नाट्य से की जा सकती है जिसमे लय, पद तथा अग विक्षेप और अभिनय के द्वारा बडी से बडी भाववस्तु शब्दो के बिना ही सप्रेषित की जा सकती है। पुतलियो के खेल मे अभिनय का भी अभाव है। उसम केवल सगीत और लय तथा विशेष प्रकार की नाटकीय गतियो और अग-भगिमाओ द्वारा ही सप्रेषणीयता उत्पन्न होती है।

इन सभावनाओ का अनुमान पिछले दिनो हमारे देश मे विदेशो से पुतली प्रदर्शन के लिए आने वाले विभिन्न दलो का कार्य देखकर भी हुआ। पिछले दस-बारह वर्षो म हमारे यहाँ, रूस, चेकोस्लोवाकिया, अमरीका आदि देशो के विख्यात दल या व्यक्तिगत कलाकार पुतली प्रदर्शन के लिए आ चुके हैं। देश के कई एक बडे नगरो मे इनके खेलो के प्रदर्शन हुए हैं जिनसे यह प्रत्यक्ष हुआ कि पुतली के खेल को निस्सदेह ऊँचे-से-ऊँचे कलात्मक स्तर तक ले जाया जा सकता है और वह नाटक और रगमच का एक सशक्त और प्रभावशाली प्रकार है।

इन दलो के प्रदर्शनो पर सगीत के दोनो पक्षो पर—नाटक और उसकी कथावस्तु तथा प्रस्तुतीकरण के विभिन्न अगो, मच-सज्जा, प्रकाश योजना, सगीत आदि पर—पूरी-पूरी और उतनी ही सूझ-बूझ और सूक्ष्मता से ध्यान दिया गया था जितनी किसी भी उच्च कोटि के रगमचीय प्रदर्शन म आवश्यक होती है। चेकोस्लोवाकिया की मडली के खेलो म बच्चो के लिए उपयुक्त विषय पर एक अत्यत ही कल्पनाप्रधान और कलात्मक नाटक था और कुछ दूसरे छोटे-छोटे खेल थे। रूसी प्रदर्शन मे अलादीन के जादुई चिराग को लेकर एक नाटक के अतिरिक्त और भी कई प्रकार के छोटे-बडे रूपक थ जिनकी पहुँच बच्चो और बडो दोनो के हृदय तक समान थी। इन प्रदर्शनो मे पुतली के सभी प्रकारो का उपयोग हुआ था—डोरी से चलने वाली, हाथ की उँगलियो पर चलने वाली, डडे के ऊपर चलने वाली। अमरीका के बयर्ड दपत्ति और लाइर्म के प्रदर्शनो मे पुतलियाँ डोरी पर चलने वाली थी और उनके खेलो म दृश्य-सज्जा और प्रकाश-व्यवस्था का अपूर्व चमत्कार था। नाटको की विषय-वस्तु म रूसी पुतलियो जैसा व्यग और रहस्य तो न था, पर बडी कल्पनाशीलता और रोचकता थी। सारे प्रदर्शन म ऐसी कलात्मक एकता और सजीवता थी, जो सची तैयारी, अभ्यास तथा कठोर परिश्रम के बिना असभव है।

पुतली कला का यह रूप और ऐसा विकास केवल कुछ ही देशो मे हो अथवा सदा से ऐसा रहा हो, यह बात नहीं है। पश्चिमी जगत के प्राय सभी

देशो मे ग्राज पुतली रगमच ग्रौर उसका प्रदर्शन बडी विकसित ग्रौर उन्नत ग्रवस्था मे है। रूस, चेकोस्लोवाकिया ग्रौर ग्रमरीका के ग्रतिरिक्त जर्मनी, ग्रास्ट्रेलिया, फ्रास, इटली, इगलैड ग्रादि सभी देशो मे बडे-बडे ग्रौर विख्यात पुतली थिएटर है जो ग्रन्य नाटक मडलियो की भाँति नियमित प्रदर्शन करते है, ग्रौर जिनका ग्रपने-ग्रपने देश के नाट्य जगत मे बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन पुतली नाटक मडलियो को विभिन्न देशो मे ग्रपनी-ग्रपनी सरकारो की सहायता, समर्थन ग्रौर ग्रादर प्राप्त है, इनमे काम करने वाले कलाकारो का राष्ट्रीय सास्कृतिक जीवन मे ऊँचा स्थान माना जाता है, ग्रौर उन्हे देश की जनता से, बालको ग्रौर वयस्को से, समान रूप से स्नेह ग्रौर ग्रादर मिलता है। रूस मे एक सौ पुतली थिएटर हैं, चेकोस्लोवाकिया मे पुतली कला की शिक्षा के लिए विश्वविद्यालय मे एक विशेष विभाग है ग्रौर स्वतत्र शिक्षा सस्थान राज्य द्वारा स्थापित किया गया है, जर्मनी के सभी प्रमुख नगरो मे नगरपालिका द्वारा सहायता प्राप्त व्यवसायी पुतली नाटकघर तथा मडलियाँ है जिनमे उच्च कोटि के प्रदर्शन होते हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पुतली कला के विशेषज्ञ ग्रौर कलाकार सुशिक्षित ग्रौर नाट्य कला के विभिन्न ग्रगो मे पारगत व्यक्ति हैं। रूसी पुतली-नाटक-मडली के निर्देशक ग्रोबराज्त्सोव, जो भारतवर्ष ग्राये थे, ऊँचे दर्जे के ग्रभिनेता, चित्रकार ग्रौर निर्देशक हैं। चेक कठपुतली थिएटर के प्रधान उस देश के एक प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं जो स्वय पुतली के नाटक लिखते है। इसी प्रकार प्रत्येक देश मे प्रतिष्ठित लेखक, चित्रकार, सगीतज्ञ, ग्रभिनेता, निर्देशक ग्रादि पुतली नाटक मडलियो के साथ सम्बद्ध है ग्रौर इस कला रूप को ग्रपनी श्रेष्ठ कलात्मक प्रेरणाग्रो की ग्रभिव्यक्ति का साधन मानते ग्रौर समझते हैं।

पर पश्चिमी देशो मे भी पुतली कला की स्थिति हमेशा ऐसी ही नही थी। एक जमाने मे योरप मे भी पुतली कला की हालत ठीक हमारे देश जैसी थी, ग्रौर प्राय हमारे देश की भाँति ही परपरागत पुतली कला सिर्फ ग्रशिक्षित किंतु खानदानी पेशेवर लोगो तक ही सीमित थी यद्यपि साधारण जनता मे मनोरजन के साधन के रूप मे वहाँ भी वह बहुत लोकप्रिय थी। उन्नीसवी शताब्दी के ग्रत ग्रौर बीसवी के प्रारभ मे बहुत से श्रेष्ठ कलाकारो, लेखको, ग्रभिनेताग्रो ग्रौर निर्देशको का ध्यान इस कला रूप की ग्रोर गया ग्रौर इसका पुनरुद्धार प्रारभ हुग्रा। गार्डन क्रैग जैसे विख्यात नाट्य चितक ग्रौर निर्देशक ने पुतली रगमच को ग्रादर्श नाट्य रूप कहा ग्रौर जीवित रगमच के ग्रभिनय को भी उसने पुतली के स्तर पर लाने का यत्न किया। इस प्रकार पुतली की ग्रोर ग्राकर्षित होने वाली बहुत सी रचनात्मक प्रतिभाग्रो ने नाट्य लेखन ग्रौर प्रदर्शन के विभिन्न ग्रगो को सँवारना ग्रौर उसे नया कलात्मक रूप देना प्रारभ

किया ।

उदाहरण के लिए पहले-पहल जब सवादों और सगीत के रिकार्ड करना प्रारभ किया गया तो कई एक व्यावहारिक कठिनाइया सामने आयी किंतु साथ ही पूरे सगीत और सवाद की कलात्मकता और नाटकीयता कही अधिक बढ़ गई और उसमे तरह तरह की नवीनता का समावेश सभव हुआ। इसी प्रकार पुतलियो के बनाने मे उनके विभिन्न अग प्रत्यगो के सचालन मे प्रकाश-योजना मच सज्जा वस्त्र-सज्जा आदि मे और इन सबसे भी अधिक नाट्य लेखन मे भारी परिवर्तन किए गए। पहले प्राय एक प्रदर्शन मे एक ही प्रकार की पुतली का प्रयोग होता था अब बहुत से निर्देशको ने उसके विभिन्न प्रकारो को मिलाना भी प्रारभ किया और पात्र अवसर विषय तथा आवश्यकता के अनुसार डोरी उगलियो अथवा डड से चलने वाली पुतलिया एक ही प्रदर्शन मे व्यवहार मे आने लगी। एक दो पुतली नचाने वाले के स्थान पर बहुत से कलाकार समुदाय से सुसयोजित ढग से प्रदर्शन मे भाग लेने लगे। सक्षेप मे परपरागत पुतली रगमच को कलात्मक पुतली रगमच का रूप दिया गया। इस बात पर विशेष रूप से जोर देना आवश्यक है। योरप मे भी आधुनिक कलात्मक पुतली रगमच परपरा पुतली प्रदर्शन से मूलत भिन्न है क्योकि साधारण रगमच की भाति उसमे भी विभिन्न कलाओ का समावेश जितना अधिक है परपरागत पद्धतियो का विकास उतना नही। आज के कलाकारो ने पुतली कला को नये रूप मे और नई दृष्टि से देखा और सवारा है और ऐसा करने मे उन्होने विभिन्न शिल्पगत अथवा अन्य नवीनताओ और विधियो को अपनाने मे कोई हिचक नही दिखाई है। परपरागत पद्धतियो और रूढियो से बधे रहकर पुतली कला को आज का रूप देना सभव नही होता।

विदेशो मे पुतली विकास की यह चर्चा इसलिए विशेष रूप मे और भी आवश्यक है क्योकि हमारे देश मे आज भी पुतली के खेल का नाट्य के रूपो मे गिना जाता है और जिस रूप मे वह आजकल प्राप्त है उसमे तो अब उस विकसित लोक कला की सज्ञा देना भी कठिन हो है। किंतु उसका ऐसा सस्कार निस्सदेह सभव है कि वह अपने उचित गौरव को प्राप्त कर सके और एक समय तथा उत्कृष्ट आधुनिक कला रूप के नाते आज के जीवन मे प्रतिष्ठा पा सके। उसमे यदि नये रग की पुतलियो द्वारा नवीन सगीत और सवादो की सहायता से पृष्ठभूमि को अधिक प्रभावोत्पादक और विशिष्ट बनाकर नई कथा वस्तु प्रस्तुत की जाय तो उसके कलेवर और आत्मा दोनो मे मूलभूत परिवर्तन आ जायगा। उस स्थिति मे लोक कला की केवल हल्की-सी छाया भर शायद उसके ऊपर रह जायगी जैसी बहुत से आधुनिक रचनाकारो द्वारा प्रस्तुत नाट्य नृत्यो मे रहती है। पुतली रगमच हमारी नाट्य परपरा का ऐसा रूप है जिसके

आमूल आधुनिकीकरण में हमें कोई झिझक नहीं दिखानी चाहिए और शीघ्र से शीघ्र उसका जीर्णोद्धार करके नया रूप देने का प्रयत्न करना चाहिए।

यह किसी हद तक प्रसन्नता की बात है कि पुतली रंगमंच के परिसंस्कार की ओर हमारे देश में भी थोड़ा-थोड़ा ध्यान आकर्षित हो रहा है। इस दिशा में एक प्रयत्न कुछ वर्ष पूर्व दिल्ली में भारतीय कला केन्द्र ने किया था। उसमें पेशेवर कठपुतली वालों द्वारा ही एक प्रतिभावान कलाकार के निर्देशन में नयी और कुछ बड़ी पुतलियां तैयार कराई गयीं और उनकी रूप सज्जा तथा वस्त्रों पर भी ध्यान दिया गया और यथासंभव ग्रामीण रंग-विन्यास के आधार पर अधिक कलात्मक वस्त्र पहनाए गए। पृष्ठभूमि के लिए भी नये परदे तथा अन्य सेट बनाए गए और रंगमंच की आकृति और सज्जा भी सुन्दर की गई। पर सबसे नई वस्तु थी कथानक की नई रूपरेखा। कहानी अधिक अपरिचित नहीं थी—पृथ्वीराज संयोगिता के प्रेम-प्रसंग को ही नये ढंग से प्रस्तुत किया गया था। उस कथा प्रसंग को चुनने का एक कारण यह भी था, कि उसके वातावरण से वे कठपुतली वाले परिचित थे और इसलिए नवीनताओं के होते हुए भी उसे प्रस्तुत करने में उन्हें अधिक कठिनाई नहीं हुई। संगीत को अधिक समृद्धि और अवसरोचित बनाया गया था और प्राचीन राजपूती वातावरण को पुष्ट करने के लिए चारण शैली में कुछ स्वरबद्ध कथावर्णन पृष्ठभूमि से किया गया था। कुल मिलाकर समूचे प्रदर्शन में नवीनता ही नहीं, एक कलात्मक सौष्ठव भी था।

पिछले आठ-दस वर्षों में कठपुतली रंगमंच के उद्धार के लिए कई एक प्रयत्न देश भर में किए गए हैं और अब भी हो रहे हैं। दिल्ली के भारतीय कला केन्द्र ने ही उसके बाद 'ढोला मारू' तथा कई एक अन्य खेल तैयार किए और प्रदर्शित किये। देवीलाल सामर के संचालन में उदयपुर के भारतीय लोककला मंडल ने भी इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। भारत सरकार के सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय के अन्तर्गत संगीत एवं नाटक विभाग में भी सागर भट्ट का एक दल कुछेक प्रचारात्मक तथा अन्य प्रकार के खेल प्रस्तुत करता है। राजस्थान के ही कुछ दिल्लीवासी उत्साही तरुणों ने पुतलीघर के नाम से कठपुतली का एक दल व्यावसायिक स्तर पर चलाना चाहा था। अहमदाबाद में मेहर कन्ट्रैक्टर नामक एक बड़ी उत्साही महिला पुतली कला को एक नया रूप देने में बहुत दिनों से लगी हुई हैं और उनके कुछेक खेल तथा पुतलियां बहुत अभिव्यंजनापूर्ण तथा सुन्दर हैं। शांतिनिकेतन, कलकत्ता, बंबई, मद्रास आदि नगरों में कई लोग इस काम की ओर आकर्षित हुए हैं। इस बीच भारत सरकार ने कुछेक लोगों को पुतली कला में विशेष प्रशिक्षण के लिए छात्रवृत्ति देकर रूस भी भेजा था जो अब शिक्षा प्राप्त करके लौट आये हैं।

भारतीय नाटय संघ ने राजस्थानी शैली की कठपुतली बनाने का एक कारखाना चला रखा है जहां से विभिन्न पात्रों को बना-सजाकर जगह-जगह, विशेषकर विदेशों में, भेजा जाता है। आन्ध्र के एक पेशेवर चमड़े की पुतली नचाने वाले को भी अपनी कला के विकास और विशेष प्रशिक्षण के लिए दो वर्ष की छात्र वृत्ति भारत सरकार ने दी थी।

इस सबसे यह तो स्पष्ट है कि पुतली रंगमंच की ओर हमारा ध्यान कुछ तो गया है। पर दुर्भाग्यवश अभी तक इनमें से शायद एक भी प्रयत्न ऐसा नहीं है जो पूर्णतः सही दिशा में हो और जो इतना पर्याप्त हो कि कम से कम एक आधुनिक पुतली रंगमंच देश में कहीं स्थापित हो जाए।

इस संबंध में सबसे मुख्य बात यह है कि नये कठपुतली रंगमंच की स्थापना तब तक नहीं हो सकेगी जब तक उसका काम कोई ऐसा कुशल अभिनेता निर्देशक हाथ में न ले जो स्वयं पुतली नचाना भली भांति सीखने को तैयार हो। हमारे हाल के अधिकांश प्रयत्न पुराने परंपरागत पुतली वालों को नये सुझाव और नाटक देने तथा उनके प्रदर्शनों को नयी साज-सज्जा देने तक ही सीमित रहे हैं। पर इस रास्ते बहुत दूर तक नहीं बढ़ा जा सकता। इस सिलसिले में एक बात का उल्लेख दिलचस्प होगा। भारतीय कला केन्द्र द्वारा 'पृथ्वीराज संयोगिता' का कठपुतली प्रदर्शन तैयार करते समय उसकी नवीनताओं के लिए सबसे अधिक विरोध उसमें नियुक्त कठपुतली वाले की ओर से ही होता था जो हर नयी बात पर यह अनुभव करता था कि यह उसकी विशेषज्ञता और विशेषाधिकारों पर आघात है। किंतु अन्त में जब प्रदर्शन सफल हुआ तो उसने भी माना कि अपने काम के द्वारा इतने सम्मान, गौरव और संतोष का अनुभव उसने पहले कभी नहीं किया था। इसी से बाद में कठपुतली प्रदर्शन की नयी संभावनाओं को जितनी आत्मीयता से उसने अनुभव किया वह किसी दूसरे ने नहीं। किंतु इन संभावनाओं को साकार कर सकना उसके वश की बात न थी। न तो उसके *पास इतनी शिक्षा ही थी न इतना बोध ही। पुतली रंगमंच का आधुनिक विकास* रंगमंच के विशद ज्ञान से संपन्न आधुनिक सुशिक्षित व्यक्ति ही पुतली चलाने की कला को सीखकर कर सकता है। कलाकार ओबराज़्त्सोव के दल में यद्यपि कई मिया लोग काम करते हैं, पर वह स्वयं अपने नाटककार, पुतली नचाने वाले, संगीत रचयिता, सज्जाकार, वेशकार, प्रकाश-व्यवस्थाकार हैं। पिछले दिनों अमरीकी पुतली नचाने वाले विख्यात हेनियन लाईम् एकदम अकेले ही, अन्य किसी भी अन्य व्यक्ति की सहायता के बिना, संपूर्ण प्रदर्शन करते हैं, जिसमें कठपुतलियों का नाचना, उनके संवाद, संगीत और प्रकाश का संचालन तथा दृश्य-सज्जा का परिवर्तन आदि सभी कुछ शामिल है। पुतली रंगमंच का विकास परंपरागत पुतलीवालों को सुझाव देने से नहीं, स्वयं उनसे पुतली नचाना सीख-

कर हो सकेगा।

साथ ही ऐसा करने के अभिलाषी व्यक्ति को अभिनेता और निर्देशक अवश्य होना चाहिए, निरा नाटककार या अन्य कुछ भी और होने से काम नहीं चल सकता। क्योंकि पुतली प्रदर्शन को प्रभावशाली और सफल बना सकने के लिए शब्द, संगीत और गति तथा लय की भावाभिव्यक्ति के साथ संबंध की पकड़ बहुत जरूरी है, आतरिक सवेदनशीलता, कलात्मकता और अभिनेता का दृष्टिकोण बहुत जरूरी है, निरा पुतली नचा सकना काफी नहीं। देश में बहुत-से मौजूदा प्रयत्न इसीलिए एक सीमा से आगे नहीं बढ़ पाये हैं। ऐसे किसी व्यक्ति के आगे आने से ही यह संभव हो सकेगा कि पुतली प्रदर्शन का कोई स्थायी रंगमंच बन सके और उसे कहीं न कहीं से स्थायी संरक्षण और अनुदान मिल सके जो प्रारंभिक अवस्था में शायद अनिवार्य है, यद्यपि शीघ्र ही पुतली रंगमंच आसानी से आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हो सकता है।

जहां तक पुतली प्रदर्शन के लिए नाटकों का प्रश्न है वह बड़ी समस्या नहीं। हमारे परंपरागत कथानकों से, और आधुनिक जीवन से, नाटकीय स्थल पुतली निर्देशक स्वयं ही चुन सकता है, और यथासंभव किसी कल्पनाशील लेखक का सहयोग भी प्राप्त कर सकता है। मुख्य बात यह है कि जब तक पुतली नाटक और प्रदर्शन उसके निर्देशक के विशिष्ट व्यक्तित्व को, उसकी कलात्मक दृष्टि और सौन्दर्य-बोध को, प्रकट करने का माध्यम नहीं बनता, तब तक एक प्रभावशाली कला की दृष्टि से उसका विकास संभव नहीं। आज पुतली-रंगमंच में ऐसे व्यक्तियों का प्रवेश आवश्यक है जिनमें विकसित कला-दृष्टि और गहरा जीवन-बोध तो हो ही, साथ ही जो उसके माध्यम से अपनी जीवनानुभूति की अभिव्यक्ति संभव और आवश्यक मानते हों।

इसी कलात्मक नवीनता ने पुतली प्रदर्शन के क्षेत्र को भी व्यापक बना दिया है। एक ओर पुतली रंगमंच को विश्व के श्रेष्ठ नाटकों को प्रस्तुत करके उन्हें लोकप्रिय बनाने और सुरक्षित रखने का साधन बनाया गया है, तो दूसरी ओर उसे सामाजिक शिक्षा और जन-जागरण का। पुतली रंगमंच पर नृत्य और नृत्य-नाट्य का प्रदर्शन एक नयी कलात्मकता प्राप्त करता है। प्रो० ऐचर की मत्स्यवर्ष मंडली ने विख्यात रूसी नर्तकी अन्ना पावलोवा की स्मृति में प्रसिद्ध बैले 'मरणासन्न राजहंस' को प्रस्तुत करके एक अपूर्व कलाकृति की सृष्टि की थी। रूसी कलाकार ओब्राज्त्सोव के व्यंग्यों में ऐसी पैनी धार और गहरी कलात्मक चेतना है, जिसकी तुलना श्रेष्ठतम नाट्य-कृतियों से की जा सकती है। इस प्रकार कठपुतली का प्रदर्शन बच्चों के मनोरंजन अथवा मामूली दिल बहलाव के स्थान पर एक प्रौढ़ कला माध्यम बन गया है। अपने देश में भी हम इसी रूप में उसका आगे विकास कर सकते हैं।

बाल रंगमंच

अंत में अब हम नाट्य प्रदर्शन के एक ऐसे प्रकार की चर्चा करेंगे जो गहरी कलात्मक संभावनाओं के साथ-साथ दूसरी ओर शिक्षा व्यवस्था के सर्जनात्मक रूपों से जुड़ा हुआ है। यह है बाल रंगमंच। साधारण नाटक के अतिरिक्त रंगमंच के जिन अन्य रूपों की ओर पिछले दिनों कुछ ध्यान हमारे देश में दिया गया है उनमें बाल रंगमंच सबसे नया भी है और सबसे अधिक प्रारंभिक अवस्था में भी। दर्शक अथवा स्वयं अभिनेता के रूप में बच्चों के मनोरंजन के लिए रंगमंच हमारे यहाँ कभी न रहा। कुछेक अंग्रेज़ी या अंग्रेज़ी ढंग के स्कूलों में शायद वर्ष में एक-दो बार ऊँची कक्षाओं के बच्चे अंग्रेज़ी में, या हिन्दी में भी, नाटक खेलते हैं जिसमें पहल और दिलचस्पी मुख्यतया शिक्षकों की ही रहती है। ऐसे नाटक किसी प्रकार भी बालक की सर्जनात्मक आत्माभिव्यक्ति या उसकी कलात्मक रुचि के विकास या परिष्कार या संतोष का साधन साधारणतः नहीं बनते। इसके विपरीत हम जानते हैं कि पश्चिम के प्रायः सभी देशों में बच्चों के कितने ही अपने नाटकघर हैं जिनमें केवल उन्हीं के लिए नाटक या प्रदर्शन प्रस्तुत किए जाते हैं। साथ ही वहाँ शिक्षण संस्थाओं में ऐसी व्यवस्था साधारणतः होती है कि बच्चे नृत्य, गीत, नाटक आदि के माध्यम से स्वयं ही अपनी आत्माभिव्यक्ति के साथ अपना कलात्मक विकास कर सकें।

ऐसी स्थिति में सात आठ वर्ष पहले जब समर चटर्जी ने अपने बाल रंगमंच, चिल्ड्रन्स लिटिल थियेटर (सी०एल०टी०) का सूत्रपात किया तो यह भारतीय रंगमंच के क्षेत्र में एक बड़ा ही शुभ और नया चरण था। इस रंगमंच का प्रारंभ कलकत्ते में हुआ और बाद में उन्हीं के प्रयत्न से इसकी शाखा दिल्ली में भी खुली। उस समय इरादा यह था कि भारत के सभी प्रमुख शहरों में इसकी शाखाएँ हों और बाल रंगमंच एक अखिल भारतीय आन्दोलन और गतिविधि का रूप ले ले। उसके बाद बंबई और मद्रास में शाखाएँ बनाने का प्रयत्न हुआ भी, किन्तु आन्तरिक मतभेदों के कारण इस दिशा में विशेष प्रगति न हो सकी। इस समय सुसंगठित रूप से कार्यशील केन्द्र कलकत्ते में ही है, यों दिल्ली और बंबई में भी केन्द्र मौजूद हैं और थोड़ा-बहुत काम करते हैं।

इस बाल रंगमंच का उद्देश्य मुख्यतया छोटे बच्चों को स्वर, लय, गति और रंगों के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति का अवसर देना और उनमें कलात्मक अभिरुचि विकसित करना ही था। यह एक प्रकार से स्कूलों में होने वाली शिक्षा के अभाव की पूर्ति थी। इस बाल रंगमंच के कार्य और प्रदर्शन सरल और कल्पनाशील संगीतबद्ध तुकबंदियों, गीतों और कहानियों के सहज, लयबद्ध नृत्यात्मक रूपायन तक सीमित रहे हैं। इसमें साधारणतः बच्चों के लिए नियमित

नाटक प्रस्तुत नहीं किये गये। संगीत और लयबद्ध नृत्यात्मक गति पर यह बल एक प्रकार से बहुत अच्छा है। नाटक में भाषा और संवाद के साथ-साथ मुखाभिनय द्वारा भावों की अभिव्यक्ति का जैसा महत्व होता है, वह सदा बच्चों के लिए सुलभ नहीं होता और न लाभदायक ही। उसमें जो भावात्मक तीव्रता और उत्तेजना बच्चे अनुभव करते हैं और उसमें पात्रों के व्यक्तित्व के साथ जैसे तादात्म्य की संभावना रहती है वह बच्चों के मानसिक जीवन के लिए सदा हितकर नहीं होती। कम से कम मौजूदा बाल रंगमंच में लय और स्वर और गति पर बाल बच्चों में लयबद्धता, संगीतात्मकता, सहकारिता और अनुशासन की भावना और प्रवृत्ति उत्पन्न करने के साथ-साथ उनकी कलात्मक प्रवृत्ति को विकसित करने और भीतरी शक्ति और तनावों को उन्मुक्त करने में सहायक होता है। स्कूल में शिक्षा के साथ-साथ अवकाश के समय इस प्रकार की कलात्मक गतिविधि में योगदान उनके बहुविध संतुलित मानसिक विकास के लिए बहुत सहायक हो सकता है और होता है। देश के अन्य नगरों में इस प्रकार की गतिविधि का प्रचार और प्रसार इसीलिए बहुत शुभ और वांछनीय होगा।

किन्तु इस प्रकार के प्रयत्नों की कुछेक बड़ी सीमाएं और आशंकाएं हैं जिनके प्रति सजग होना आवश्यक है। सबसे बड़ी आशंका है कि अन्य तथाकथित 'सांस्कृतिक' कार्यों की भाँति बच्चों के रंगमंच का यह कार्यक्रम आत्म-प्रदर्शनकारी और सामाजिक प्रतिष्ठालोभी व्यक्तियों के हाथों में न पड़ जाये। ऐसे लोग बच्चों के सहज मनोरंजन और कलात्मक रुझान को अपनी प्रशंसा और प्रसिद्धि का साधन बनाने लगें तो बच्चों के विकास के बजाय उनके गलत दिशाओं में प्रवृत्त होने का भय है। बच्चों के अपने प्रदर्शन उनके अपने मनोरंजन और आत्माभिव्यक्ति के माध्यम मात्र रहने चाहिए। उनके द्वारा धन-संचय या उनके करतबों को बहुत से वयस्कों, विशेषकर नेताओं, अफसरों और पदाधिकारियों, को दिखाकर उनसे वाहवाही लूटने की कोशिश बड़ी अनुचित प्रवृत्ति है जो बच्चों को प्रदर्शनप्रिय और आत्मचेतन बनाती है, उन्हें प्रशंसा और प्रसिद्धि की चाट डालती है और उनमें अनुचित प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता की सृष्टि करती है।

इसी स्थिति का दूसरा पक्ष यह है कि ऐसे संगठनकर्त्ता बच्चों के प्रदर्शनों को सचमुच उनके लिए आनन्दकारी, उनके भीतर उच्च कोटि की अभिरुचि और दायित्वशीलता जगाने के साधन, नहीं बना पाते। वे समस्त कार्य की कलात्मकता सुरुचिपूर्णता, स्वच्छता और आनन्ददायकता के बजाय किसी प्रकार महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों को बच्चों के करतब दिखा सकने को अपना चरम उद्देश्य समझते हैं। वे आवश्यकता होने पर बच्चों को कठोर अभ्यास द्वारा थका और ऊबा देने से भी नहीं चूकते, और न उनके ऊपर कठोर नियमबद्धता और यान्त्रिक

अनुशासन लगाने से । उससे एक विचित्र प्रकार की अफसरशाही का वातावरण बनता है और बच्चों के प्रदर्शन की स्वतःस्फूर्तता और उनकी सहज आनंद-वृत्ति कुठित होती है । इसकी आशंका विशेषकर इसलिए है कि साधारणतः बच्चे जो कुछ भी करते हैं वह बड़ों को अच्छा ही लगता है और वे प्रसन्न होते हैं, और इस प्रकार ऐसे कार्यों में सिद्धि पर ध्यान देकर साधना की उपेक्षा होती है, जबकि ऐसे बाल रंगमंच की महत्ता और उपयोगिता उसके साधनों में ही है उसकी सिद्धि में इतनी नहीं ।

वास्तव में बच्चों के ऐसे रंगमंच की श्रेयस्करता ऐसे वातावरण के निर्माण में है जिसमें बच्चे सहज और स्वतःस्फूर्त हों और अपने संपूर्ण मनोयोग और परितृप्ति के साथ अपने आंतरिक कलाबोध को अभिव्यक्त भी करें और उसे विकसित भी । ऐसा वातावरण एक नैरंतरिक कार्य है, केवल प्रदर्शन के समय सक्रिय होने और धूमधाम मचा लेने से वह वातावरण भ्रष्ट ही होता है । इसलिए साधारणतः बच्चों के प्रदर्शन यथासंभव और मुख्यतः बच्चों के लिए ही होने चाहिए और उनमें बल शिल्पगत संपूर्णता के बजाय बच्चा की स्वतःस्फूर्तता, सुरुचि और कलात्मकता पर ही दिया जाना चाहिए ।

दूसरी ओर बच्चों के ऐसे काम को 'जो हो गया वही बहुत है' के दृष्टिकोण से देखना घातक है । रंगमंचीय कार्य बच्चों के मानसिक जीवन में तभी कारगर हो सकता है जब वह उनकी सहकारिता की भावना को, आत्मानुशासन की भावना को, उच्चतम सुरुचि और कलात्मकता की भावना को, जाग्रत और पुष्ट करे । यदि इस अवस्था में ही उनमें आदर्शों के प्रति, उच्च मानकों के प्रति, उपेक्षा या तिरस्कार का भाव जागने दिया गया तो वह उनके मानसिक जीवन का अंग बन जायगा । बच्चों के कलात्मक कार्य का मूल्यांकन पूरी मुस्तैदी से होना चाहिए जिससे वे अपनी संपूर्ण एकाग्रता से काम करना सीखें और काम से बचने, या बेगार टालने अथवा साधारण सफलता या उसकी प्रशंसा में संतुष्ट हो बैठने की घातक प्रवृत्तियाँ उनमें घर न करें । हमारे देश में हर जगह जिस प्रकार शिक्षा की दूकानें खुली हुई हैं, उसी प्रकार बाल रंगमंच भी महत्त्वाकांक्षी संगठन-कर्ताओं की दूकानें, उनके आत्मविज्ञापन, प्रचार और प्रतिष्ठा-लाभ के साधन, सहज ही बन सकते हैं और बन जाते हैं । इस भयावह संभावना के प्रति सजग रहना बड़ा आवश्यक है ।

इस स्तर का बाल रंगमंच किसी प्रकार का संगीत अथवा नृत्य शिक्षण का पर्याय नहीं है, और न उसमें ऐसा प्रयत्न ही होना चाहिए । वह तो प्रत्येक बालक में लय और स्वर, गति और गीत के प्रति सहज अनुराग को जगाने या उत्पन्न करने, विकसित करने, तथा उसके द्वारा उसके कलात्मक व्यक्तित्व को एक आधार देने, का साधन है, और इसी रूप में उसकी गतिविधि रहना उचित

है। जो बालक-बालिकाएँ उससे आगे या अतिरिक्त नियमित सगीत और नृत्य की शिक्षा चाहे, व उसे अलग से लें और वह उनका व्यक्तिगत प्रेरणा और व्यक्तित्व विकास का प्रश्न रहे। उच्च सगीत और नृत्य शिक्षा अधिक व्यक्ति-प्रधान है, और उसे यथासभव बाल रगमच के प्रयत्नो से अलग रखना चाहिए।

किन्तु साथ ही इस रगमच के कार्यक्रमो म भी विभिन्न आयु-समूहो के अनुसार विभीन्नीकरण, और बहुत छोटे बच्चो से लगाकर पद्रह-सोलह वर्ष या उससे भी अधिक के बच्चो तक सुचिंतित प्रसार आवश्यक है। अपने मौजूदा रूप म वह पाच-छह से लगाकर बारह चौदह वर्ष तक के बच्चो तक ही सीमित है और इस आयु-समूह मे भी उसमे केवल बालिकाओ तक ही सीमित रह जाने की सभावना है। बल्कि साधारणत इन कार्यक्रमो मे लडके या तो आते ही नही, या आकर नाचने-गाने के काम से, विशेषकर लडकियो के साथ मिलकर नाचने गाने के काम से, कतराते हैं और अत मे उनमे भाग लेना छोड देते हैं।

इसके दो-तीन कारण सुस्पष्ट हैं। लडको के लिए खेलकूद तथा घर से बाहर के अन्य बहुत से कार्यकलाप सहज सुलभ हैं जो उन्हें स्वभाव से ही अधिक आकर्पित करते हैं। साथ ही उनके मन मे यह कही शुरू से ही बद्धमूल भाव रहता है कि गाना-नाचना लडकिया का काम है लडको का नही, और वे नाचने-गाने के कार्यक्रमो म भाग लेने से शरमाते हैं। हमारे स्कूलो मे लडके-लडकियो का अलग अलग पढना भी इस भाव के बढने मे सहायक होता है। फलस्वरूप बाल रगमच के कार्यक्रमो में लडके मुश्किल से मिलते हैं, और अधिकाश लडको की भूमिकाए भी लडकियाँ करती हैं। इस परिस्थिति म परिवर्तन और सुधार होना बहुत ही जरूरी है। सभवत प्रारभ मे केवल लडको के उपयुक्त और अलग से उन्ही के कार्यक्रम बनाने से इस दिशा मे कुछ प्रगति हो सकती है।

साथ ही केवल नृत्य और गीत के अलावा नाटको की ओर भी बाल रगमच का ध्यान जाना चाहिए। अवश्य ही इसके लिए विभिन्न आयु-समूहो के लिए, उनकी भावात्मक क्षमता के उपयुक्त, नाटक लिखे जाना आवश्यक है। किंतु यह काम ऐसी माँग होने पर ही ठीक से हो सकेगा और प्रारभ मे तो स्वय उत्साही सयोजको को अपने लेखक मित्रो के सहयोग से अपनी आवश्यकतानुसार ऐसे नाटक तैयार कराने होंगे। निस्सदेह इन नाटको म भी सगीत और नृत्य, स्वर और लय को समुचित स्थान देना आवश्यक और उपयोगी होगा किन्तु मूलत प्रश्न इन नाटको मे बालकोचित उपयुक्त कथा-सामग्री हमारी पौराणिक कथाओ, उपाख्यानो, लोकवार्ता तथा गाथाओ से लेकर उपयोग कर सकने का होगा। हमारे देश मे कथा-उपाख्यानो का बृहत् भंडार है जिसमे प्रचुर कल्पनाशीलता के साथ-साथ मन के समुचित सस्कार के लिए पर्याप्त तत्त्व मौजूद हैं। बच्चो के नाटको के लिए इस तथा अन्य सामग्री के कल्पनाशील

और सर्जनात्मक उपयोग की ओर प्रवृत्ति होना आवश्यक है। समर चटर्जी ने बहुत-सी पश्चिमी, विशेषकर अंग्रेजी मे उपलब्ध, तुकबदियो और बाल-कथाओ और गीतो का बहुत ही आकर्षक भारतीय रूपातरण किया है। यह अपने आप म बहुत अच्छा और उपयोगी कार्य है। पर अन्तत हमे अपने देश की विशिष्ट कथा-सामग्री का भी सर्जनात्मक उपयोग करने की ओर प्रवृत्त होना होगा। बाल रगमच की यह एक अनन्य आवश्यकता और समस्या है।

अब तक बाल रगमच के केवल उस पक्ष की चर्चा की गई है जो स्वय बच्चो के कार्य से सबद्ध है। किन्तु वास्तव मे बाल रगमच का बडा भारी, और सभवत विशुद्ध रगमचीय दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष वयस्को द्वारा बच्चो के लिए प्रदर्शन करने का है। बच्चो के लिए उपयुक्त, उचित, और वास्तविक रगमचीय मनोरजन इस प्रकार ही सुलभ हो सकता है और होना चाहिए। जब ससार के अन्य देशो मे बच्चो का विकसित रगमच होने की बात कही जाती है तो उससे अभिप्राय वयस्को द्वारा बच्चो के लिए नियमित रूप से होने वाले प्रदर्शनो से ही है। देश मे ऐसा प्रयत्न नही के बराबर है। इस प्रकार के कुछेक इक्के-दुक्के प्रयत्न हुए हैं। कुछ दिन पहले दिल्ली के थ्री आर्ट्स क्लब ने बच्चो के तीन नाटक तैयार करके उसके बहुत-से प्रदर्शन किये थे। ये नाटक बच्चो मे बडे लोकप्रिय हुए। बालकोपयोगी कथा-सामग्री के उपयोग और प्रदर्शन विधि सभी की दृष्टि से ये नाटक उल्लेखनीय थे। आवश्यकता इस प्रवृत्ति को बढावा देने और इस प्रकार के प्रदर्शनो को स्थायी रूप देने की है। देश की अन्य कुछ भाषाओ मे भी विशेष कर बँगला, गुजराती, मराठी आदि मे, इस प्रकार के छिटपुट प्रदर्शन होते रहते हैं। किन्तु स्थायी नाटकघर और प्रदर्शन मण्डलियो के अभाव मे ऐसे प्रदर्शन कभी-कभी ही हो पाते हैं और उनका केवल प्रयोगात्मक महत्त्व मात्र रहता है। इसी कारण इस कार्य मे कोई निरतरता नही आ पाती और किसी विशेष दिशा मे और उपलब्धि के उत्तरोत्तर ऊँचे स्तर की ओर, उनकी प्रगति नही हो पाती।

रगमच का यह रूप अपेक्षाकृत अधिक कल्पनाशीलता और प्रशिक्षण की भी अपेक्षा रखता है, नही तो ऐसे प्रदर्शनो की बालकोपयोगिता केवल तथाकथित ही रह जाने का डर है, और यह भी आशका है कि वे वयस्को के प्रदर्शनो के ही अधिक कलाहीन और निर्जीव तथा विकृत या सरलीकृत रूप रह जायें। प्रशिक्षण की दृष्टि से बाल रगमच के लिए रगमच के सभी तत्त्वो के प्रति कल्पनाशील नाट्य सामग्री के भिन्न प्रकार के उपयोग की आवश्यकता तो है ही, साथ ही उसम बाल मनोविज्ञान और सामान्य शिक्षण की पद्धतियो के भी गहरे परिचय की आवश्यकता है। बाल रगमच के नाटककार, निर्देशक तथा अन्य कलाकार केवल प्रदर्शनवादी, कलावादी या अपने कार्य के प्रति उपेक्षा का दृष्टिकोण नहीं अपना सकते, क्योकि उनका दर्शक-वर्ग अविकसित, कच्चा और सहज ही प्रभाव-

नीय, किन्तु साथ ही समाज का सबसे मूल्यवान, अंश होता है। इसलिए बाल रंगमंच तभी प्रोत्साहनीय और उपयोगी है, जब वह इन भावी नागरिकों के समुचित विकास और स्वस्थ मनोरंजन में योग दे सके, अन्यथा उसका नहीं होना कहीं बेहतर है।

बाल रंगमंच में कठपुतली प्रदर्शन का बड़ा भारी स्थान हो सकता है और कठपुतली प्रदर्शन बहुत सहज ही बच्चों को आकर्षित करते हैं। पर जैसा पहले कहा जा चुका है, दुर्भाग्यवश कठपुतली रंगमंच भी इस समय हमारे देश में सबसे पिछड़ी हुई और दरिद्रतम स्थिति में है और अपने व्यापक नवसंस्कार के बिना वह बाल रंगमंच के विकास में इस समय कोई उल्लेखनीय योग नहीं दे सकता।

वास्तव में, बाल रंगमंच स्वयं हमारे देश के लिए एक नयी परिकल्पना है और मूलतः वह अभी उसी स्थिति में ही है भी। निस्संदेह देश की सामान्य रंगमंचीय गतिविधि के लिए वह एक नयी दिशा और नया आयाम प्रस्तुत करता है। किन्तु उसका समुचित विकास और प्रसार सामान्य रंगमंच की समृद्धि पर ही निर्भर है। उसकी समुचित रूपरेखा और उन्नति की दिशाएँ तब तक स्थिर न हो सकेंगी जब तक हमारा सामान्य रंगमंच अधिक परिपक्व और आत्मनिर्भर स्थिति नहीं प्राप्त कर लेता।

रंगमंचीय संगठन का रूप

अभी तक हम रगकार्य के आतरिक तत्वो, उसके कुछ विशिष्ट प्रकारो तथा उनकी सर्जनात्मक-कलात्मक आवश्यकताओ पर विचार करते रहे हैं। अपने रगजीवन के इस पक्ष की अभी तक कोई सीधी चर्चा नही की गयी कि हमारे देश म रगमचीय सगठन कितनी अनियमित, अव्यवस्थित और अराजकता-पूर्ण स्थिति मे है जिसके कारण अधिकाश सर्जनात्मक प्रश्न प्राय अवास्तव और अवातर हो जाते हैं। निस्सदेह इस स्थिति का प्रासगिक उल्लेख पिछले विवेचन के विभिन्न सदर्भों मे होता रहा है, पर अब उसका अधिक विस्तृत और बहु-विध विश्लेषण करना उचित होगा जिससे अपने रगकार्य के अधिक व्यावहारिक पक्षो के रूप और मूलाधारो को ठीक से तथा स्पष्टत समझा जा सके।

यह प्राय कहा जाता है कि किसी भी देश अथवा भाषा के रगमच का विकास इसी बात से नापा जा सकता है कि उसम नियमित रूप से सक्रिय और सम्पन्न व्यवसायी रगमच है अथवा नही। इसमे कोई सन्देह नही कि जब तक रगमच अन्यान्य सास्कृतिक सुविधाओ और अभिव्यक्तियो की भाँति हमारे जीवन का आवश्यक और अनिवार्य अग नही बन जाता, जब तक समाज के सभी स्तर के लोग किसी न किसी अवसर पर सहज ही और अनिवार्य रूप म रगमंच के द्वारा अपनी सास्कृतिक आवश्यकताओ की पूर्ति नही करने लगते, तब तक रग-मच सचमुच किसी स्थायी आधार पर नही टिक सकता। नाटक और रगमच ऐसे कला माध्यम हैं जिनके लिए न केवल आश्रय के रूप म सामूहिक और सामाजिक सहयोग की आवश्यकता होती है, बल्कि जो सामाजिक और सामूहिक प्रयत्न के बिना सक्रिय और विकसित ही नही हो सकते। कलाकृति का उप-भोक्ताओ के साथ ऐसा अनिवार्य सम्बन्ध रगमच के अतिरिक्त और कही नही। इसीलिए रगमच के विकास मे भी सामूहिक-सामाजिक स्वीकृति बहुत ही आव-श्यक है। साथ ही इस स्वीकृति के लिए केवल व्यक्तिगत छिटपुट अथवा शौकिया गतिविधि ही पर्याप्त नहीं है। उसके लिए रगमच का अनिवार्य रूप से व्यापक और नियमित सास्कृतिक अभिव्यक्ति के रूप मे सामाजिक जीवन से जुड़ना आव-श्यक है। अपनी सम्पूर्ण सार्थकता प्राप्त करने के लिए रगमच का भी फिल्म की भाँति ही जीवन का अनिवार्य अग, मनोरजन और सास्कृतिक अभिव्यक्ति

का एक महत्त्वपूर्ण साधन बनना होगा। यह सही है कि फिल्म जैसी व्यापकता और प्रसार रंगमंच के लिए सम्भव नही, फिर भी फिल्म की भाँति ही हमारे जीवन मे अनिवार्य हुए बिना रंगमंच भी सफल नही हो सकता।

इसीलिए संसार के अन्य देशो की भाँति हमारे देश मे भी रंगमंच के विकास की दिशा उसके नियमित पेशेवर तथा व्यवसायी रूप मे स्थापित होने की दिशा है। यही नही, केवल अवकाश के समय की गतिविधि के रूप मे अब रंगमंच को बहुत समय तक और बहुत दूर तक आगे नही ले जाया जा सकता। इसी कारण हर जगह ऐसी अव्यवसायी नाटक मंडलियाँ मौजूद है अथवा बन रही हैं जो क्रमशः रंगमंच को अपने जीवन के मुख्य कार्य के रूप मे भी, कलात्मक अभिव्यक्ति के साथ-साथ जीविका-उपार्जन के साधन के रूप में भी, स्वीकार करने को प्रस्तुत हैं। ऐसी मंडलियो को वर्ष मे चार-छह बार एक-दो नाटक खेल कर संतोष नही होता, और उनकी यह इच्छा रहती है कि अथक परिश्रम द्वारा तैयार किये हुए अपने नाटक बार-बार अधिकाधिक दर्शकों को दिखा सकें। किन्तु प्रायः बहुत-सी आवश्यक सुविधाओं और परिस्थितियों के अभाव में उनकी यह इच्छा पूरी होना असम्भव हो जाता है। उदाहरण के लिए, देश के अधिकांश स्थानों में ऐसे नाटकघर ही नही जहाँ कोई दल नियमित रूप से सप्ताह में दो-तीन बार नाटक दिखाता रहे। कहीं-कहीं कुछेक रंगभवन हैं भी, पर उनका किराया इतना अधिक है जिसे कोई नाटक मंडली न तो बर्दाश्त कर सकती है, न इतनी बड़ी आर्थिक जोखिम उठाने का साहस कर सकती है। नियमित और निरन्तर प्रदर्शनों के अभाव में इस बात का अनुमान भी नही हो पाता कि ऐसे प्रदर्शनों से कितनी आय हो सकती है और क्या उसके आधार पर किसी मंडली के अधिकांश सदस्य जीविका के अन्य उपाय छोड़ अपना सारा समय रंगमंच को ही देने का निश्चय कर सकते है।

वास्तव मे हमारे देश के रंगमंच के सामने आज यह एक बड़ी दुविधा की स्थिति है। इसमें कोई सन्देह नही कि प्रत्येक नगर मे थोड़े-बहुत रंगमंच के ऐसे उत्साही प्रेमी और कार्यकर्त्ता मौजूद है जो नाटक को अपने जीवन का मुख्य कार्य बनाना चाहते हैं। बहुत-से स्थानों पर ऐसी सुव्यवस्थित और अनुभव-प्राप्त तथा निपुण अव्यवसायी नाटक मंडलियाँ भी हैं जो अपनी वर्तमान स्थिति से, अपने कार्य के मौसमी, शौकिया और अनियमित रूप से सन्तुष्ट नही हैं। उन्हें अच्छे नाटकों और नाटककारों की खोज है, वे रंगमंच को अपने जीवन की अनुभूति और समझ की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम समझते हैं और उसे अपने जीवन का लक्ष्य, आदर्श और पेशा सभी कुछ बनाने को तैयार हैं। किन्तु फिर भी आज देश में कहीं भी नई पेशेवर मण्डलियाँ बनाने का कार्य सम्भव नही हो पाता। इस दिशा में पिछले दिनों जितने भी प्रयत्न हुए है सभी धीरे-

धीरे बिखर गए हैं और किसी को भी उल्लेखनीय सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। इसलिए यदि सचमुच कोई स्थायी और नियमित पेशेवर या पूर्णत व्यवसायी रंगमंच हमारे देश में स्थापित होता है तो उसकी विभिन्न आवश्यकताओं और कठिनाइयों को गम्भीरतापूर्वक समझना आवश्यक है। उसके बिना केवल उत्साह और दौड़धूप के आधार पर हमारे सारे प्रयत्न भविष्य में अन्तत निष्फल ही होते रहेंगे।

आज हमारे देश में नियमित रंगमंच की स्थापना के दो पहलू हैं एक तो स्वयं रंगमंच के कार्यकर्त्ताओं, कलाकारों आदि की अपनी निजी आन्तरिक तैयारी और तत्परता और दूसरे बाह्य परिस्थितियों की अनुकूलता तथा उन्हें अनुकूल बना सकने की सम्भावना। यहाँ इन दोनों ही पहलुओं पर कुछ विस्तार से विचार करना उपयोगी सिद्ध होगा।

ऊपर यह कहा गया कि एक नियमित पेशे के रूप में रंगमंच को चलाने के लिए उसके लिए प्रेम और उत्साह भर पर्याप्त नहीं है। इसका कारण यह है कि वास्तव में अव्यवसायी और पेशेवर तथा व्यवसायी रंगमंच के संगठन और संयोजन में बड़ा मौलिक और महत्त्वपूर्ण अन्तर है। पेशे के रूप में चलने वाले रंगमंच के प्रति ठीक वैसे ही दृष्टिकोण और व्यवहार से काम नहीं चल सकता जैसा शौकिया नाटक मंडलियों में प्राय पाया जाता है। दायित्व और अनुशासनहीनता, अनियमितता तथा शिथिलता, गम्भीरता का अभाव, कला के स्थान पर आत्मविज्ञापन और आत्मदर्शन को प्रधानता देना, आदि, शौकिया रंगमंच की ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें लेकर पेशेवर रंगमंच का संगठन लगभग असम्भव है। आज की परिस्थितियों में पेशेवर नाटक मण्डली के सदस्यों में रंगमंच के प्रति वैसा ही समर्पण का भाव होना अनिवार्य है जैसा किसी उच्च उद्देश्य अथवा आन्दोलन के प्रति होता है। क्योंकि इस समय चाहे नाटक मण्डलियाँ स्वयं अपने आप ही पेशेवर रूप ग्रहण करें अथवा कोई कला प्रेमी व्यवसायी रंगमंच की स्थापना के प्रति प्रवृत्त हो, उससे प्राप्त आर्थिक सुविधाएँ और आय इतनी नहीं हो सकती कि वह अपने आप में सदस्यों को सन्तुष्ट कर सकें। प्रारम्भिक स्थिति में पेशेवर रंगमंच बहुत कुछ सदस्यों के, विशेषकर अभिनेता-निर्देशक तथा अन्य रंग शिल्पियों के, निःस्वार्थ कार्य और कला प्रेम के ऊपर ही चल सकता है। प्रारम्भ में रंगमंच से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों को अनिवार्य रूप से अपने कार्य से मिलने वाले कलात्मक और आत्माभिव्यक्ति के सन्तोष को ही प्रधानता देनी होगी और उसके साथ-साथ आजीविका के रूप में जो-कुछ सामान्य आय हो जाये उसे पर्याप्त मानना होगा। निस्सन्देह धीरे-धीरे दल-विशेष के संगठित, समृद्ध और लोकप्रिय होते पर यह स्थिति अवश्य आ सकती है कि उसके प्रदर्शन निरन्तर और नियमित रूप से होने लगें और उसकी

वसंत कानेटकर का मराठी नाटक
जाग उठा है रायगढ़

गुजराती नाटक
मैना गुर्जरी में दीना पाठक

मराठी नाटक यशोदा म विजया खाटे

भास का मध्यम व्यायोग राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के रक्तकरबी म
तृप्ति मित्र बहुरूपी

हबीब तनवीर का मिट्टी की गाडी

इब्सन के एन एनमी आफ द पीपुल के
बंगला रूपान्तर में शम्भु मित्र

बहुरूपी द्वारा प्रस्तुत राजा ईडिपस
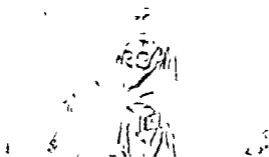
प्राय से वह अपने सदस्यों को समुचित पारिश्रमिक अथवा वेतन दे सके। फिर भी यह वेतन अथवा पारिश्रमिक बहुत दिनों तक बहुत आकर्षक अथवा प्रचुर नहीं हो सकता। वह मूलतः एक कलाप्रेमी व्यक्ति के लिए आत्मसंतोष के साथ-साथ जीविका भी चलाने का उपाय भर हो सकता है। इसलिए अनिवार्य रूप से पेशेवर रंगमंच की स्थापना के लिए नाटक अथवा रंगमंच के ऐसे प्रेमियों की आवश्यकता होगी जो इस कार्य को अपने जीवन का उद्देश्य और आदर्श मानते हों, जो उसके लिए अपनी सुख-सुविधाओं और जीवन की अन्य आवश्यकताओं का किसी हद तक त्याग कर सकते हों। ऐसे दृष्टिकोण के बिना रंगमंच चलाना सम्भव नहीं, कम से कम प्रारम्भ में नियमित पेशेवर संस्था के रूप में तो किसी भी प्रकार सम्भव नहीं।

रंगमंच के कार्य में इस स्वार्थ-त्याग की भावना के अतिरिक्त तीव्र आत्मानुशासन की भी बड़ी आवश्यकता होती है। पेशेवर रूप में संगठित होने पर भी रंगमंच मूलतः कलात्मक अभिव्यक्ति का कार्य है। उसको केवल आजीविका के साधन की भाँति निर्वैयक्तिक भाव से तटस्थ होकर नहीं देखा जा सकता। किसी नये कार्यालय, कारखाने अथवा अन्य धंधे में काम करने वाला व्यक्ति अपने कार्य के साथ मूलतः निर्वैयक्तिक सम्बन्ध ही बनाता है, या कम से कम बना सकता है,—जीवन यापन की एक आवश्यक अनिवार्य परिस्थिति के रूप में। उसके लिए सम्भव है कि वह अपनी गहरी और नितान्त आत्मीय आवश्यकताओं और प्रवृत्तियों को अपने धंधे से अलग रखे और धंधे को उनसे अधिक महत्त्व नहीं दे। जरूरत पड़ने पर वह धंधे को छोड़ अपनी नयी आवश्यकताओं और गतिविधियों में अपने आपको संलग्न करके उनसे कहीं अधिक आत्म-सन्तोष पा सकता है। किन्तु कलाकार के लिए यह सम्भव नहीं। कला के साथ उसका सम्बन्ध निर्वैयक्तिक हो ही नहीं सकता। साधारणतः कोई भी कलाकार अथवा रचनाकार अपने माध्यम अथवा कला अनुशीलन को अपने जीवन की सर्वोपरि गतिविधि मानता है और उसे सबसे अधिक महत्त्व देता है। प्रायः उसकी इस गतिविधि के साथ किसी अन्य व्यक्ति का कोई सम्पर्क नहीं होता, जो कुछ वह करता है उसमें सम्पूर्ण रूप से केवल वही डूबता है और अपनी अभिव्यक्ति की सम्पूर्ण सफलता में उसे अपने ही व्यक्तित्व की गहरी सार्थकता और चरितार्थता की अनुभूति होती है। किन्तु रंगमंच ऐसा कला माध्यम है, जिसमें बहुत से व्यक्तियों का सहयोग आवश्यक है और जिसका मूल संगठनकर्ता एक भिन्न व्यक्ति, अथवा एक व्यवसायी मालिक जैसा गैर-कलाकार व्यक्ति होने की सम्भावना है। फलस्वरूप रंगमंच में कलाकार के लिए अपने कार्य के साथ वैसा सम्बन्ध बनाये रखना प्रायः कठिन हो जाता है जैसा अन्य कला-माध्यमों में स्वाभाविक है, और यह आशंका रहती है कि रंगमंच के विभिन्न रचनाकार

और शिल्पी अपने काम को निर्वैयक्तिक भाव से से देख और अभिव्यक्ति की समग्रता और रचना की सम्पूर्णता के ऊपर ध्यान देने के बजाय केवल अपनाही सीमित काय का प्रधानता देने लग अथवा नौकरी के लिए आवश्यक समय और उद्याग पूरा करके अपने कत्तव्य की इतिश्री समझ। दूसरे शब्दों म यह असम्भव नही कि व्यवसायी रंगमंच के कलाकार अपने काय के प्रति वही दृष्टिकोण अपना ल जो किसी भी कायालय अथवा कारखाने का कमचारी अपनाता है। रंगमंच यदि पूणरूप से व्यवसाय हो हो तो यह दृष्टिकोण इतना घातक न भी रहे। किन्तु एक तो रंगमंच पूणरूप से व्यवसाय है नही और दूसरे हमारे देश म तो उसकी स्थापना एसी परिस्थितियों म होती है जिनम यह दृष्टिकोण अपनाकर किसी भी प्रकार उसको सफल नही बनाया जा सकता। इसलिए पेशेवर रंगमंच की स्थापना और उसके विकास तथा सफलता के लिए यह अनिवाय रूप से आवश्यक है कि दलविशेष के सदस्य अपने काम को मुख्यत कलात्मक और रचनात्मक मान और उससे होने वाली आय अथवा आर्थिक प्राप्ति को एक गौण स्थान द। इस प्रकार के दृष्टिकोण के बिना हमारे देश की वतमान परिस्थितियों म पेशेवर रंगमंच का विकास बहुत दुष्कर है।

पेशेवर रंगमंच की सफलता की अन्य आन्तरिक परिस्थितियों म कलाकारों का अपना प्रशिक्षण भी है। शौकिया अव्यवसायी मंडली म अभिनेता निदशक तथा अन्य शिल्पी अपनी निपुणता को बढ़ाने की ओर विशेष ध्यान नहीं देते बल्कि बहुत बार तो व अपने को परम निपुण ही समझते हैं। प्राय व न तो नाट्य साहित्य का अध्ययन करते हैं न अभिनय कला और रंगमंच के अन्य पक्षों से सम्बन्धित समुचित ज्ञान प्राप्त करने म प्रयत्नशील होते हैं। अपनी थोड़ी बहुत स्वाभाविक जन्मजात क्षमता अथवा प्रतिभा के प्रदशन और उसकी प्रशंसा और स्वीकृति से उन्ह सन्तोष मिल जाता है। किन्तु किसी कला को पेशेवर स्तर पर तब तक स्वीकृति नही मिल सकती जब तक कलाकार अपने कला कम की गहराइयों म न उतर जीवन के पयवेक्षण और अनुभूति को निरन्तर अभ्यास और प्रशिक्षण द्वारा परिपुष्ट न कर। अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता एवं गम्भीर दृष्टिकोण क बिना असम्भव है। हमारे देश म रंगमंच के सभी कलाकारों को अपने भीतर अपनी कला के प्रति इतनी जागरूक प्रवृत्ति विकसित करनी होगी तभी उनके काय का स्तर एक स्वतन्त्र सामाजिक गतिविधि की मान्यता प्राप्त कर सकता और शौकिया की कोटि से निकल पाना उनके लिए सम्भव हो सकेगा। इस आन्तरिक तैयारी क बिना इन कलाकारों म वह दृढ़ता और सामर्थ्य न आ सकेगी जो किसी पेशेवर मण्डली म एक ही नाटक को बार-बार सदा नवीन उभार और रचनात्मक तीव्रता के साथ प्रस्तुत करने के लिए नितान्त आवश्यक है। किसी नाटक म एक या दो बार सामान्यत प्रभावशाली अभिनय कर सकना

एक बात है, और किसी चरित्र को बीसियो बार एक सी, बल्कि उत्तरोत्तर श्रेष्ठतर, कलात्मक और मानवात्मक सचाई के साथ परिस्फुट करना और बनाये रखना बहुत ही भिन्न और दुष्कर दायित्व है। सफल पेशेवर रगमच अपने सभी कलाकारो से ऐसी निष्ठा और आत्म-प्रशिक्षण की अपेक्षा रखता है।

पेशेवर रगमंच के विकास का दूसरा पहलू बाह्य परिस्थितियो की अनुकूलता का है। ये बाह्य परिस्थितियाँ मूलत क्या है? नाटक घरो के अभाव की बात ऊपर कही जा चुकी है। यह एक इतनी बडी बाधा है जिसे दूर कर सकना बहुत ही कठिन हो जाता है। उदाहरण के लिए, कलकत्ते की विख्यात नाटक मडली बहुरूपी को ही लीजिए। उसके देशव्यापी प्रदर्शनो से यह तो स्पष्ट है कि कर्मनिष्ठा, कलात्मक प्रतिभा और लगन की दृष्टि से यह मडली न केवल देश भर मे बेजोड है, बल्कि पेशेवर मडली बनने के लिए सर्वथा उपयुक्त भी है। उसके प्रतिभाशाली निर्देशक और अभिनेता श्री शभु मित्र तथा उनके सभी सहयोगी रगमच और नाटक को ही अपने जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण कर्म मानते हैं और अपने अन्य सारे कार्य छोडकर रगमच को अपनाने को प्रस्तुत ही नही आतुर हैं। एक प्रकार स अपनी इसी निष्ठा के द्वारा, अपनी समस्त निजी सुविधाओ और आवश्यकताओ के त्याग और उपेक्षा के द्वारा ही, इस मडली के सदस्य रगमचीय श्रेष्ठता और कलात्मक निर्भीकता और साहस का इतना ऊँचा स्तर स्थापित कर सके हैं। किन्तु आगे विकास करने के लिए अब इस मडली को अपना निजी नाटकघर चाहिए जहाँ यह अपने प्रदर्शन नियमित रूप से निरन्तर कर सके। पर उसके लिए अपना नाटकघर कैसे बने? कलकत्ते म नाटकघर बनाने के लिए पर्याप्त आर्थिक तथा अन्य साधन चाहिए, सगठन चाहिए, दौड धूप चाहिए। अब यदि बहुरूपी मडली और उसके सदस्य नाटकघर के लिए केवल अर्थ सग्रह मे ही जुट पडे तो फिर मडली के कलात्मक कार्य और उसके स्तर का क्या होगा? और यदि यह न करे तो नाटकघर कैसे बने और बहुरूपी किस प्रकार पेशेवर नाटक मडली बने? वास्तव मे यह रगमचीय कार्य का मौलिक अन्तर्विरोध है, क्योकि नाट्य क्रिया कला तो है पर उसके सम्पन्न होने के लिए बडे व्यवस्थित सगठन और बडी मात्रा मे अर्थ की आवश्यकता होती है। विशेष रूप से इतनी अधिक मात्रा मे धन कहाँ से प्राप्त हो? स्पष्ट ही इसके दो उपाय हो सकते हैं या तो किसी न किसी प्रकार राजकीय सहायता, अनुदान और सरक्षण मिले या कला-प्रेमी धनी अथवा व्यवसायी अकेले या मिलकर रगमच चलायें, जैसे फिल्म उद्योग चलता है, अथवा देश के विभिन्न भागो मे मौजूदा व्यवसायी रगमच चलता है।

जहाँ तक राजकीय सहायता का प्रश्न है, वह किसी न किसी रूप मे रगमच को मिलना आवश्यक ही है। नगर निगमो और नगर पालिकाओ अथवा

राज्यकोष से नियमित संरक्षण मिले बिना कोई कलात्मक रंगमंच केवल अपने ही बूते पर भली भाँति नहीं जी सकता। और हमारे देश में उसकी स्थापना का भी प्रश्न है जो राजकीय सहायता के बिना बहुत ही कठिन जान पड़ता है। इसीलिए नाटकघरों के निर्माण के लिए और पेशेवर ढंग से मंडलियाँ चलाने के लिए केन्द्रीय और राज्य सरकारों की योजनाएँ होना बहुत जरूरी है। पर केवल सरकारी अनुदान के सहारे रंगमंच की स्थापना अथवा विकास का स्वप्न देखना बड़ा घातक है। किसी भी कलात्मक प्रयत्न के लिए सरकारी सहायता तभी उपयोगी सिद्ध हो सकती है जब वह पर्याप्त और नियमित हो नहीं, उस प्रयत्न की स्वतन्त्रता पर कोई रोक न लगाती हो। यह देखा गया है कि सरकारी अनुदान से चलने वाले कलात्मक प्रयास प्रायः बड़ी अवांछनीय विकृतियों के शिकार हो जाते हैं उनकी आत्मनिर्भरता, कलात्मक जागरूकता और रचनात्मक क्षमता अन्तहीन नियमों और प्रतिबंधों की शृंखलाओं में जकड़कर निर्जीव हो जाती है और अन्त में व एक विशेष प्रकार की महन्तगीरी और कलात्मक भ्रष्टाचार के क्षेत्र बन जाते हैं। इसलिए जहाँ एक ओर राजकीय सहायता आवश्यक और उचित है वहीं दूसरी ओर उसे पाने वाले कलाकारों के भीतर अपनी निजस्व जागरूकता और सामर्थ्य इतनी अधिक और प्रबल होना भी आवश्यक है कि राजकीय सहायता के बोझ को वे सम्हाल सकें और उसके पहले ही धक्के में उनके पैर न उखड़ जाएँ।

रंगमंच के लिए आवश्यक धन की प्राप्ति का दूसरा स्रोत हो सकता है व्यवसायी-वर्ग। पर एक तो रंगमंच ऐसा लाभदायक व्यवसाय नहीं कि सहज ही कोई व्यवसायी इस ओर झुके। धनी और शौकीन व्यवसायियों के लिए अब फिल्म कहीं अधिक रंगीन आकर्षक और सम्भाव्य आर्थिक लाभ का क्षेत्र है। उसकी तुलना में किसी भी दृष्टि से रंगमंच में क्या धरा है? और फिर यदि कोई व्यवसायी अकेला अथवा कुछ लोगों के साथ मिलकर रंगमंच की ओर ध्यान दे भी तो उसका प्रभाव सदा शुभ ही होगा इसकी आशा बहुत ही कम है। व्यवसायी मूलतः अपने आर्थिक लाभ की प्रेरणा से चलेगा कलात्मक आवश्यकता के लिए नहीं। उसके संरक्षण और नियन्त्रण में बनने वाली मंडली शुद्ध व्यवसायी होगी और वह उसी ओर बढ़ेगी जिस ओर फिल्म कम्पनियाँ चली गई हैं। संसार के सभी देशों में पूरी तरह व्यवसायियों के हाथ में पड़ा हुआ रंगमंच भयंकर कलात्मक बंध्यता और निर्जीवता का शिकार है और प्रायः सस्ते, उत्तेजक और घटिया नाटकों को ही प्रोत्साहन देता है। हमारे देश में भी यह आशंका काल्पनिक नहीं है। जहाँ जहाँ भी व्यवसायी अथवा व्यवसाय-बुद्धि वाले लोगों ने रंगमंच स्थापित करने और चलाने का प्रयत्न किया है, वहीं उन्होंने सबसे पहले कलात्मक सिद्धान्तों की हत्या करके तथाकथित लोकप्रिय और व्याव

सायिक दृष्टि से सफल हो सकने वाले नाटको और उनके वैसे ही चटक-मटक से भरपूर सस्ते प्रदर्शनो पर बल दिया है। यह दूसरी बात है कि बहुत सी सस्ती घटिया फिल्मो की भाँति ऐसे नाटक भी सफल न हो पाये और व्यवसायी मडलियाँ शुरू होने के पहले ही बैठ गयी।

ऐसे *व्यवसायी* एक और भी अवाछनीय मनोवृत्ति अपने साथ लाते हैं। रगमच जैसे 'सास्कृतिक' कार्य मे भाग लेने मे आजकल बडे-बडे अधिकारियो और राजनीतिक नेताओ से सहज सपर्क स्थापित होने की बडी सभावना हो गई है। यह 'सपर्क स्थापन' आज के व्यवसाय का सबसे महत्त्वपूर्ण अग है और बहुत से व्यवसायी केवल इसी दृष्टि से रगमच की ओर भुकते हैं अन्य विज्ञापन, *आकर्षक साथ-सगति तथा 'मनोरजन' की सुविधाएँ तो हैं ही।* यह सहज ही कल्पना की जा सकती है कि ऐसे लोगों से रगमच का कितना बडा अहित होता है या हो सकता है। इस प्रकार धन के लिए पूर्ण रूप से केवल व्यवसायी वर्ग पर निर्भर होने से भी रगमच की समस्याएँ सुलझती नही।

इन सब समस्याओ के सदर्भ मे यदि हम अपने देश के वर्तमान व्यवसायी रगमच पर एक दृष्टि डालें तो बहुत सी बातें हमारे सामने स्पष्ट हो जायेंगी। इस सिलसिले मे सबसे पहले तो यह भ्रम दूर करना आवश्यक है कि हमारे देश मे व्यवसायी रगमच है ही नही और आज उसकी स्थापना एक सर्वथा नवीन और अभूतपूर्व कार्य होगा। वास्तविकता यह है कि हमारे देश के बहुत से भागो मे आज भी व्यवसायी रगमच मौजूद हैं और सक्रिय हैं। असल मे उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे अग्रेजी सस्कृति के प्रभाव मे व्यवसायी रगमच देश के *विभिन्न क्षेत्रो मे स्थापित हुआ और विभिन्न स्तरो की सगठनात्मक* तथा कलात्मक निपुणता और सामर्थ्य वाली नाटक मडलिया देश भर मे चल निकली। ऐसी मडलियाँ अपनी कच्ची-पक्की सफलता-असफलता के साथ लगातार सक्रिय रही हैं और आज भी व्यवसायी रगमच फलाफूला भी और उसने कई उल्लेखनीय सफलताएँ भी प्राप्त की। जहाँ से परिस्थितियाँ नही मिली, वहाँ वह बेघर-बार होकर पथभ्रष्ट हुआ और मिट गया। ये नाटक मडलियाँ प्रारम्भ मे स्पष्ट ही विदेशी प्रेरणा से विदेशी सस्कृति के प्रभाव मे, पश्चिमी शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों के प्रोत्साहन से, योरपीय नाटकों के अनुकरण मे, बनी थी। पर धीरे-धीरे उन्होंने देश की पुरानी शास्त्रीय अथवा लोक नाट्य परपरा के साथ भी अपना थोडा-बहुत नाता जोडा। यहाँ तक कि कुछ क्षेत्रो मे हमारे नाटक और रगमच का रूप तत्कालीन योरपीय नाटक से एकदम भिन्न हो गया, यद्यपि उसमे बहुत से विदेशी तत्त्व भी बने रहे और स्थानीय परिस्थितियो मे पनपते भी रहे।

इस शताब्दी के चौथे दशक मे, विशेषकर बोलती फिल्मो के आविर्भाव के

बाद, इस रंगमंच का हर प्रदेश में बड़ी तेज़ी से ह्रास हुआ। उसके लिए बनाये गए नाटकघर सिनेमाघर बन गए, उसके व्यवसायी मालिकों ने फ़िल्म कंपनियाँ खोल लीं और उसके अभिनेता-अभिनेत्री तथा अन्य शिल्पी फ़िल्मों में जा डटे। जो कुछेक लोग रंगमंच छोड़कर नहीं गये वे भी अपनी कला के और आर्थिक परिस्थितियों के स्तर को क्रमशः बिगड़ते जाने से न बचा सके। फलस्वरूप दूसरे महायुद्ध के काल में तथा उसके बाद फ़िल्मों के प्रहार से बचा-खुचा रंगमंच या तो एकदम सस्ता, उत्तेजक और घटिया मनोरंजन का साधन बन गया या लगभग मिट गया। मोटे तौर पर देश के मौजूदा व्यवसायी रंगमंच की संक्षेप में यही स्थिति है यद्यपि इसके भी अनेक स्तर देश के विभिन्न भागों में मिलते हैं।

इस समय हमारे देश में विकसित, प्रतिष्ठित और सफल व्यवसायी रंगमंच बँगला का है। इस रंगमंच की परंपरा बहुत लंबी तो है ही, इसकी स्थापना, विकास और महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों में गिरीशचन्द्र घोष, जोगेश चौधरी दुर्गादास बनर्जी, शिशिरकुमार भादुड़ी, अहीन्द्र चौधरी, मोरंजन भट्टाचार्य जैसे बहुत से प्रतिभावान और महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों ने योग दिया है। किसी जमाने में, विशेषकर दूसरे महायुद्ध के पहले तक, बँगला का यह व्यवसायी रंगमंच बहुत सफल और समृद्ध था--आर्थिक दृष्टि से इतना नहीं, जितना अपनी निष्ठा, गंभीरता और कलात्मक रुझान की दृष्टि से। उस समय हर रंगभवन की अपनी अलग मंडली होती थी जिसके नियमित स्थायी सदस्य अभिनेता, निर्देशक आदि होते थे। ये मंडलियाँ नियमित पूर्वाभ्यास करती थीं और एक साथ कई एक महत्त्वपूर्ण नाटकों को तैयार करके उन्हें थोड़े-थोड़े दिनों के अंतर से दिखाती रहती थीं। ये विभिन्न नाटक अभिनेताओं के लिए सचमुच ऐसे चरित्र प्रस्तुत करते थे जिनमें वे अपनी क्षमता का संपूर्ण प्रदर्शन कर सकें और अलग अभिनेता इन नाटकों के विभिन्न पात्रों का अभिनय करने के लिए प्रसिद्ध हो जाते थे। इन नाटकों के बार-बार प्रदर्शित होते रहने के कारण दर्शक भी इन विभिन्न अभिनेताओं को उनकी सर्वप्रिय और सर्वश्रेष्ठ भूमिकाओं में देखने के लिए लालायित रहते थे। जब भी कभी किसी विशेष कारणवश कोई भी नया अभिनेता वह भूमिका करता तो वह लोगों को दोनों के अभिनयों में तुलना करने और विभिन्न व्यक्तियों और शैलियों के अपने अपने महत्त्व को समझने का अवसर मिलता था। इसीलिए इन नाट्य प्रदर्शनों का अपना एक शिक्षित और समझदार प्रेक्षक-वर्ग बन जाता था जो बार-बार उन नाटकों को देखता था और इन दर्शकों के मतामत के आधार पर अन्य नाटक प्रेमी भी आकर्षित होकर नाटक देखने आते थे। इन परिस्थितियों में यह अनिवार्य था कि हर नाटक मंडली अपने प्रदर्शन को विशिष्ट और अनुपम बनाने के लिए यथा संभव प्रयत्न करे। एक

ही मडली के सदस्य होने के कारण जहाँ विभिन्न अभिनेताओं-अभिनेत्रियों और अन्य शिल्पियों में कलह, झगडा, ईर्ष्या, द्वेष तथा अन्य प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित होती थी, वहाँ समूचे कार्य के प्रति उनके मन म आत्मीयता का तथा कलाकारोचित भाव भी रहता था। वे पूरे मन से अपने कार्य के साथ सलग्न होते थे और नाटकों मे अभिनय करना आनुषगिक अथवा गौण कार्य नही मानते थे। अपने कार्य के साथ इस गहरे आत्मीय तथा भावात्मक सबध के कारण ही उस समय की व्यवसायी नाटक मडलियाँ बगाल के रगमच को वैसा उच्च स्तर प्रदान कर सकी।

किंतु धीरे-धीरे कई प्रकार के कारणों और परिस्थितियों से बगाल के रगमच ने नया रूप लिया। आज भी कलकत्ते मे चार रगभवन चलते है और चारो में प्रति सप्ताह नियमित रूप से पाँच प्रदर्शन होते हैं, किंतु अब प्रदर्शन करने वाली मडलियाँ बिलकुल भिन्न प्रकार की हैं। वे वास्तव मे मडलियाँ है ही नही। बगाल के मौजूदा रगमच का सगठन बहुत कुछ फिल्मों जैसा हो गया है। *अर्थात रगभवन का मालिक कोई एक नाटक चुनता है* और उसके प्रदर्शन के लिए पहले एक निर्देशक और फिर निर्देशक की सलाह से अभिनेताओं और अभिनेत्रियों को एक प्रकार के पट्टे पर रख लेता है। इन कलाकारो के साथ उसका केवल इतना ही करार होता है कि व निर्दिष्ट समय पर, निश्चित काल के लिए रिहर्सल करने आयेंगे और फिर नाटक तैयार होने पर प्रदर्शन मे आते *रहेंगे तथा फिर जितने दिन तक प्रदर्शन चलेगा* उसमे कार्य करते रहेंगे। चूंकि यह पूरे समय का काम नही होता, इसलिए इन कलाकारो को अधिकार रहता है कि सप्ताह म जो दिन खाली हो, अथवा जिस समय रिहर्सल नही हो, उस समय मे वे चाहे जो अन्य कार्य करें। सम्भवत एक शर्त रहती है कि इस बीच वे किसी अन्य नाटक मे भाग नही लेंगे। पर इस बीच वे अपना सारा समय फिल्मों मे अभिनय तथा अन्य काम करने म लगा सकते हैं और लगाते हैं। बल्कि इन नाटको के अधिकाश अभिनेता फिल्मों के ही लोग होते हैं जहाँ से उन्हें रगमच की अपेक्षा कही अधिक अर्थ और ख्याति लाभ होता है। इस-लिए रगमच पर वे अपने कार्य को प्राथमिक महत्त्व नही देते। फिर इस प्रकार थोडे से पूर्वाभ्यास से तैयार किया हुआ नाटक, यदि आर्थिक दृष्टि से सफल और लोकप्रिय हुआ तो, कभी-कभी दो-तीन साल तक चलता रहता है। इस-लिए प्रारभिक दिनो के बाद कलाकार अपने काम को बहुत-कुछ यांत्रिक ढग से करने-दुहराने लगते है और उसमें कोई विशेष परिवर्तन, सुधार या उन्नति की न तो उन्हें आवश्यकता ही अनुभव होती है, और न यह सभव ही हो पाता है।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि इस व्यवस्था से रगभवन के मालिकों

को आर्थिक लाभ बहुत है। इसीलिए युद्ध के पहले थिएटर की हालत जैसी डाँवाडोल थी वैसी अब नहीं है। किंतु दूसरी ओर इन प्रदर्शनों का उद्देश्य अब किसी न किसी प्रकार अधिक से अधिक लोगों का मनोरंजन करना रह गया है। एक प्रकार से उनकी सारी होड़ जैसे फिल्मों के साथ है और आज रंगमंच भी फिल्म की भाँति मनोरंजन का व्यवसाय ही है। एक ही नाटक महीनों क्या वर्षों तक चलते रहने के कारण उसके प्रदर्शन में एक प्रकार की जड़ता और निष्प्राणता आ जाती है। प्रदर्शन के साथ संलग्न कलाकारों के मन में अपने कार्य के प्रति वह आत्मीय और कलात्मक अभिव्यक्ति का भाव नहीं रह जाता जो पहले होता था। अलग अलग कलाकारों के व्यक्तित्वों का विभिन्न नाटकों के विभिन्न पात्रों में उभर सकना संभव नहीं रहता। फलस्वरूप अभिनय और प्रदर्शन की विकृति और चालू मान्यताएँ स्थापित होती हैं। प्रामाणिकता के स्थान पर चमत्कार पर बल दिया जाने लगता है। प्रदर्शन में कोई शैली अथवा शिल्पगत समग्रता नहीं रहती। नयी नाट्य विधियों को लेकर किसी प्रकार के प्रयोग अथवा विकास की नयी दिशाएँ स्थापित करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यही कारण है पिछले दस-पन्द्रह वर्ष में बँगला का व्यवसायी रंगमंच धीरे धीरे बहुत ही हलके और सस्ते स्तर पर उतर आया है। व्यावसायिक दृष्टि से अत्यधिक समृद्ध और सफल होकर भी वह कलात्मक और वस्तुगत दृष्टि से अत्यधिक दरिद्र और अकिंचन है। उसका केवल संगठन ही फिल्मी ढंग का का है, साधना और प्रदर्शन का स्तर नहीं, वे सब भी उतने ही पिछड़े हुए और विशृंखल हैं। हमारे देश में पिछले तीस-चालीस साल से चले आते हुए कल-कारखानों की भाँति न उसका अपना कोई व्यक्तित्व है, और न उपलब्धि ही।

इस परिस्थिति ने बँगला नाटक की रचना और प्रदर्शन कला दोनों के ही स्तर को और इनसे संबंधित मूल्यों को विकृत कर दिया है। किसी समय बंगला व्यवसायी रंगमंच देश के रंगमंच प्रेमियों का आदर्श होता था। उसके लिए कलात्मक स्तर और सौंदर्य से तथा उसकी वस्तुगत सप्राणता और शिल्पगत संपूर्णता से देश के अन्य भागों के, तथा विशेषकर बंगाल के, शौकिया अव्यवसायी दल प्रेरणा प्राप्त करते थे। यही कारण था कि उस जमाने में किसी नाटक के व्यवसायी रंगमंच पर प्रदर्शित होते ही बंगाल भर में धूम मच जाती थी, छपी हुई पुस्तकों की हजारों प्रतियाँ बिकती थीं और छोटे-बड़े नगर-गाँव के रंगमंच-प्रेमी उसे अपने अपने साधनों के अनुरूप अपने-अपने स्थानों पर खेलते थे। इसी प्रकार प्रदर्शन की शिल्पगत विशेषताएँ और अभिनय की विधियों का अध्ययन करने के लिए लोग बंगाल के विभिन्न क्षेत्रों से आकर उन नाटकों को देखते थे और फिर लौटकर अपने यहाँ उसी शैली में अभिनय और

प्रदर्शन करने का यत्न करते थे। इसलिए धीरे-धीरे प्रदर्शन और अभिनय की एक शैली का भी निर्माण बंगाल में व्यवसायी रंगमंच के माध्यम से हुआ था। बँगला रंगमंच के आधुनिक रूप ने यह स्थिति समाप्त कर दी है।

आज इसीलिए रंगमंच के विकास और कलात्मक सौंदर्य का स्तर और उसके मूल्य व्यवसायी रंगमंच में नहीं, उच्च-स्तरीय गंभीर व्यवसायी रंगमंडलियों के प्रदर्शनों में खोजने पड़ेंगे। अपनी आंतरिक असंगतियों के कारण बँगला व्यवसायी रंगमंच जैसे यांत्रिकता, गतानुगतिकता और निष्प्राणता के कूप में जा गिरा है, उसमें बाहर निकलने का रास्ता इस समय ऐसे कलाकार, निर्देशक और अभिनेता प्रस्तुत कर रहे हैं जो रंगमंच को अपने जीवन की अनुभूति और कलात्मक बोध को अभिव्यक्त करने का माध्यम बनाकर संपूर्ण निष्ठा और एकाग्रता के साथ उसके लिए सब कुछ अर्पित करने के लिए कटिबद्ध हैं।

इन रंग मंडलियों के पास साधनों का घोर अभाव है। उनके पास रंग-भवन नहीं, इसलिए न केवल उन्हें अपनी रिहर्सल किसी सदस्य के घर छोटे-छोटे कमरों में करनी पड़ती है, बल्कि अपने प्रदर्शन भी इधर-उधर सभा-भवनों में अथवा छुट्टी के दिन सबेरे सिनेमाघरों में, अथवा कहीं पंडालों में करके संतुष्ट होना पड़ता है। ऐसे प्रदर्शनों में साधारण से कहीं अधिक खर्चा पड़ता है और फिर भी एक नियमित रंगभवन की-सी सुविधा और सहजता नहीं प्राप्त हो सकती। यह भी स्वाभाविक ही है कि ऐसे प्रदर्शनों की संख्या अधिक नहीं होती, न हो सकती है, जिसके कारण ये रंग मंडलियाँ न तो अपने प्रदर्शनों के लिए उपयुक्त स्थान, सामग्री और साधन ही जुटा पाती हैं और न अपने मुख्य अभिनेताओं तक को कोई ऐसी सुविधा या आर्थिक सहायता दे पाती हैं जिससे वे निर्द्वन्द्व होकर कार्य करते रहें। किंतु इन सब कठिनाइयों और असुविधाओं के बावजूद ये सब रंग मंडलियाँ रंगमंच के प्रति इतनी निष्ठा से कार्य करती आयी हैं कि उन्होंने बँगला ही नहीं समूचे देश के रंगमंच को नयी दिशा, नयी भाषा तथा प्रदर्शन का एक नया स्तर प्रदान किया है।

इस सफलता से आतंकित होकर रंगभवनों के व्यवसायी मालिक इन कलात्मक मंडलियों को अपना प्रतिद्वन्द्वी मानते हैं और उन्हें तोड़ने या उनकी प्रगति को रोकने का यथासंभव प्रयत्न करते हैं। साथ ही वे इन मंडलियों के प्रतिभावान कलाकारों की लोकप्रियता देखकर उन्हें अपने नाटकों में काम करने के लिए आमंत्रित करने लगे हैं, केवल अभिनेता अभिनेत्रियों को ही नहीं, निर्देशकों और अन्य रंगशिल्पियों को भी। किसी हद तक इससे व्यवसायी मंडलियों का कार्य-स्तर कुछ ऊपर उठा है। इसी प्रकार चार नियमित नाटक-घरों में से एक मिनर्वा को उत्पल दत्त के लिटिल थियेटर ग्रुप ने पिछले कई बरस से अपने हाथ में लिया है और एक नए प्रकार की पेशेवर मंडली अब

मैदान में है जिसका दृष्टिकोण नाटकों का चयन, अभिनय और प्रदर्शन की पद्धति तथा मंडली का संगठन और उसका आर्थिक संयोजन सभी कुछ पुराने व्यवसायी रंगमंच से भिन्न है। किंतु इस सबके बावजूद मोटे तौर पर मौजूदा *बंगला व्यवसायी रंगमंच व्यापार ही अधिक है, कला कम,* और उसके स्वामियों को न तो किसी प्रकार के प्रयोग में रुचि है, न नये और साहसपूर्ण विचारों में, और न कलात्मक मूल्यों में। क्योंकि जब तक मौजूदा नाटकों और उनके प्रदर्शनों में पर्याप्त धनोपार्जन हो रहा है तब तक इन सब वस्तुओं की आवश्यकता भी क्या है?

बंगला की तुलना में गुजराती का व्यवसायी रंगमंच तो और भी भोंडा, कलाहीन और निचले स्तर का है। बंबई में भांगवाड़ी के नाटकघर में प्रस्तुत होने वाले नाटक अपनी कुरुचिपूर्णता और घटियापन में फिल्मों से बाजी लगाते हैं। सस्ता बनावटी अभिनय, रुचिहीन यथार्थवादी दृश्य-योजना, ऊपर उठने वाले परदों पर अंकित पृष्ठभूमि, हैरत भरे 'ट्रिक सीन', फूहड़ तथा सस्ती भावुकता भरे गाने और अश्लील प्राय हास्य—सभी कुछ न सिर्फ पचास-सौ साल पुराना है, बल्कि मनोरंजन का सस्ते से सस्ता उपाय प्रस्तुत करता है और उसी के लिए विकृत रुचि को विकृततर बनाने का साधन है। यह सब देखने के लिए यह नाटकघर भी निरन्तर खचाखच भरा रहता है। गुजराती में इससे बेहतर तथा अधिक आधुनिक और कलात्मक व्यवसायी मंडली चलाने के प्रयास अभी तक असफल ही होते रहे हैं।

मराठी रंगमंच का स्तर इससे ऊंचा है पर उसके पास अपना एक भी स्थायी रंगभवन नहीं। अधिकांश मंडलियाँ पुराने ढंग की छोटे-बड़े नगरों में घूम घूम कर पंडालों में या सिनेमाघरों में प्रदर्शन करनेवाली हैं। इस समय एक और परिपाटी भी मराठी रंगमंच में चल पड़ी है जिसे ठेकेदारी प्रथा कह सकते हैं। अच्छी रंग मंडलियों के अभाव में कुछ व्यवसायी पुरानी मंडलियों के प्रसिद्ध अभिनेताओं को किसी खास नाटक के कुछेक प्रदर्शनों के लिए ठेके पर इकट्ठा करके प्रदर्शन की व्यवस्था करते हैं। पर यह भी इतना अनियमित और अनिश्चित है कि इसके सहारे कोई अभिनेता अपनी जीविका नहीं चला सकता। इसलिए या तो वे किसी दूसरे धन्धे में लग रहे हैं या दयनीय आर्थिक स्थिति में दिन गुजारते हैं। *साथ ही ऐसे प्रदर्शन मुख्यतया पुराने नाटकों के ही थोड़े* बहुत होते हैं। किसी जीवन्त रंगमंच को न तो इससे प्रोत्साहन मिल सकता है न उसकी स्थापना की सम्भावना बढ़ती है। इन प्रदर्शनों का स्वरूप और स्तर सभी दृष्टियों से पुराना और जर्जर है उसमें नये रंगमंच के बीज नहीं। नाट्य रचना और रंग रचना के नव विकास के साथ यह किसी प्रकार सम्बद्ध भी नहीं। रंगमंच की व्यवसायी मंडली नाट्य निकेतन थोड़े-बहुत आधुनिक नाटक करती

है, पर उसका स्तर भी, नाटकों और प्रदर्शन दोनों ही दृष्टियों से, मूलत पुराना और अत्यन्त साधारण है।

हिन्दी-उर्दू के व्यवसायी रगमच की हालत इससे भी गयी बीती है। ले-देकर पृथ्वीराज की मडली थी वह भी बद हो गयी। हिन्दी रगमच के पास न नाटकघर है, और न अब ऐसी परम्परा जिसके सूत्र को पकडकर व्यवसायी मडली आसानी से बनायी जा सके। इसके जो भी प्रयत्न अभी तक हुए है या हो रहे हैं वे, आत्मपरक अथवा वस्तुपरक दोनों दृष्टियों से, अनिवार्यत अव्यावहारिक है और इसीलिए घोरतर असफलता का सामना करते रहे हैं।

उत्तरी भारत के अन्य क्षेत्रों में उड़ीसा में भी दो-तीन व्यवसायी नाटक मडलियाँ है जिनका रूप पुराने ढग का है। आसाम में कोई रगमच नहीं है।

दक्षिण भारत में कन्नड और तेलुगु और मलयालम भाषाओं का रगमच भी पर्यटक मडलियों का है। इनमें भी कन्नड मडलियाँ अपेक्षाकृत अधिक सपन्न हैं। पर उनके नाटक, उनका अभिनय उनका रगशिल्प सब रानी विक्टोरिया के युग के घटिया से घटिया पश्चिमी रगमच जैसा है या शायद उससे भी घटिया। यह स्थिति इन मडलियों के कलात्मक स्तर की दृष्टि से है—यह दूसरी बात है कि उनके प्रदर्शनों को देखने आज भी दर्शक आते हैं और फिल्मों के अलावा ये नाटक ही लोगों के मनोरजन के साधन हैं।

मद्रास में भी दो एक नियमित तमिल नाटक मडलियाँ हैं जो लोकप्रिय है और पुराने ढग के पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा भावुकतापूर्ण तथा रोमांटिक सामाजिक नाटक करती रहती हैं। इन प्रदर्शनों में भी तडक-भडक, चमत्कार और टीमटाम का ही बोलबाला है। एक नाटक में पचास तक दृश्य और इतने ही गीत हो सकते हैं, और उसका सारा रगशिल्प कलात्मक से अधिक सनसनीपूर्ण ही होता है।

देश के समस्त व्यवसायी रगमच के इस विहगावलोकन से एक बात प्रगट होती है। एक ओर तो यह रगमच अलग अलग स्तरों पर हमारे देश में नाटक की परम्परा और उसमें साधारण दर्शक की रुचि को सूचित करता है। दूसरी और उतनी ही तीव्रता से वह यह भी सूचित करता है कि हमारे व्यवसायी रगमच का एक युग अब अतिम सांसें ले रहा है। उसकी उपयोगिता, उसकी प्राणवानता, उसकी सभावनाए सभी कुछ चुका हुआ है। उसमें अब किसी प्राण-प्रतिष्ठा की सम्भावना नहीं है। और यदि अब शीघ्र ही किन्हीं नये जीवन-स्रोतों से एक नये प्राणवान और विकासशील पर्दोवर रगमच का उदय नहीं होता तो यह वर्तमान व्यवसायी रगमच एक शव की बोझ की भाँति हमारे कन्धा पर लदा रहेगा और हमारे रगमच को निरन्तर और अधिकाधिक निष्प्राण बनाता जायगा।

वास्तव में सुरुचिपूर्ण कलात्मक तथा साथ ही आधुनिक जीवन और आधुनिक दर्शक-वर्ग से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध व्यवसायी रंगमंच की स्थापना दोहरे दायित्व का काम है। एक ओर तो हमारे रंग कर्मियों के भीतर इस प्रकार की तीव्रता और कहीं अधिक सुस्पष्ट चेतना की आवश्यकता है कि रंगमंच आत्म-प्रदर्शन का नहीं, जीवन की गहरी से गहरी और सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभूति के संप्रेषण का, और सामूहिक उपलब्धि का, अत्यधिक बहुमुखी और बहुस्तरीय माध्यम है, और उस माध्यम के समुचित उपयोग के लिए रंगकर्मियों में सूक्ष्म संवेदनशीलता और कला-बोध का होना ही पर्याप्त नहीं, इन्हें एक समुदाय के साथ जीवन के स्थूल और सूक्ष्म यथार्थ के रूप में मूर्त कर सकने की भी अनिवार्य आवश्यकता है जो निस्सदेह कठोर साधना से ही सुलभ होगा।

दूसरी ओर रंगमंच न केवल अपनी कलात्मक अवतारणा के लिए बल्कि अपने भौतिक अस्तित्व और विकास के लिए भी पूर्ण रूप से समुदाय पर निर्भर है। एक सुसस्कृत और जाग्रत समुदाय ही कलात्मक, सुरुचिपूर्ण और जीवंत रंगमंच का पालन कर सकता है। प्रशिक्षित और कलासजग दर्शक-वर्ग के बिना रंगमंच का स्तर नहीं उठ सकता। रंगमंच के क्षेत्र में जहाँ दर्शक-वर्ग के स्तर को स्थायी मान कर अपने आप को उसी के अनुकूल ढाल लेने की, समूह के विकारग्रस्त और असंस्कृत पक्ष का रंजन करने को अपना ध्येय बना लेने की आशंका है, वहीं इस बात का भय भी कम नहीं कि हम अपनी कला चेतना की अहम्मन्यता में दर्शक को बिल्कुल भुला दें उसकी उपेक्षा अथवा अवज्ञा करें। दोनों ही स्थितियों में रंगमंच अतन निर्जीवता और कलाहीनता के अन्धकूप की ओर बढ़ता है।

इसीलिए आज जो रंगकर्मी और रंगमंच के प्रेमी हमारे देश की किसी भी भाषा में कलात्मक पेशेवर रंगमंच के उदय और विकास के अभिलाषी हैं उन्हें रंगमंच के दोनों स्तरों पर, कलाकार और दर्शक दोनों के प्रशिक्षण के लिए, सक्रिय होना पड़ेगा। इसीलिए सम्भवतः मौजूदा स्थिति में अधिक आवश्यकता अर्ध-व्यवसायी मंडलियों की स्थापना की है, जो अपनी गम्भीरता और लगन से अपनी कला के साधनों को विकसित तथा परिपुष्ट कर सकें और साथ ही अपने प्रदर्शनों द्वारा एक ऐसा दर्शक-वर्ग भी तैयार कर सकें जो सहज ही प्रसन्न न होता हो जो श्रेष्ठ से श्रेष्ठ रंगरचना की अपेक्षा भी करे और माँग भी करे, और उस श्रेष्ठता की पहचान भी सके। तभी यह सम्भव होगा कि धीरे-धीरे वे बाह्य तथा आन्तरिक परिस्थितियाँ निर्मित हो सकें जिनमें वास्तविक पेशेवर रंगमंच जन्म लेता, पनपता है। और तभी यह भी सम्भव है कि हमारा रंगमंच ऐसा हो कि वह समुदाय के सास्कृतिक जीवन की अभिव्यक्ति भी करे और उसे समृद्ध बनाने में अपना पूरा-पूरा योग भी दे।

नाट्य प्रशिक्षण

नाटक और रंगमंच पर उसके प्रदर्शन के विविध पक्षों का जिस रूप में अभी तक विवेचन किया गया है उसमें किसी हद तक यह निहित भी है, और इंगित भी, कि चाहे शौक के तौर पर ही सही, नाटक के कलात्मक प्रदर्शन के लिए किसी न किसी प्रकार का प्रशिक्षण आवश्यक है। वास्तव में हमारे देश में नाटक और रंगमंच के नीचे स्तर का एक कारण यह भी है कि उसे विशुद्ध मनोरंजन का काम समझा जाता रहा है, जिसके लिए केवल शौक चाहिए, कोई तैयारी, अध्ययन या प्रशिक्षण आवश्यक नहीं। निस्संदेह इस धारणा के ठोस कारण थे पर फिर भी वह दुर्भाग्यपूर्ण तो है ही, विशेषकर इसलिए भी कि वह अधिकांश क्षेत्रों में आज तक मौजूद है, और बहुत-से रंगकर्मी प्रशिक्षण को संदेह की दृष्टि से देखते हैं, और प्रायः प्रशिक्षण-प्राप्त या उसके आकांक्षी रंगकर्मियों की हँसी उड़ाते हैं। किन्तु रंगकार्य में सचमुच विविध प्रकार की ऐसी जानकारी, समझ, और उस पर आधारित सूझ, अपेक्षित है जो नियमित प्रशिक्षण के बिना प्रायः असम्भव है। और यह सिर्फ रंगशिल्प संबंधी विषयों के लिए ही नहीं, अभिनय के लिए भी सही है। अभिनेता की कलात्मक-सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का यंत्र—उसका शरीर और कंठ—ही जटिल स्थितियों और भावदशाओं को बिना पूर्व-चिंतन और पूर्व-नियोजित तैयारी के सम्प्रेषित नहीं कर सकता, चाहे यह तैयारी विभिन्न नाटकों में किसी कुशल निर्देशक के नीचे लगातार अनुभव द्वारा प्राप्त की जाये, चाहे किसी केन्द्र में प्रशिक्षण द्वारा। एक प्रकार से ऐसा प्रशिक्षण और अभ्यास प्रायः प्रत्येक कला में आवश्यक और अनिवार्य माना जाता है—संगीत, नृत्य, मूर्ति, स्थापत्य, चित्र आदि कलात्मक विधाओं में तो, अपवादों के अतिरिक्त, प्रशिक्षण के बिना किसी उल्लेखनीय कार्य की कल्पना ही असम्भव है। फिर रंगकला में तो इनमें से कई एक विधाओं का सर्जनात्मक समन्वय होता है, इसलिए उसमें तो प्रशिक्षण एक सर्वथा मूलभूत और अनिवार्य आवश्यकता है।

यही कारण है कि हमारे देश में स्वाधीनता प्राप्ति के बाद जब रंगमंच में नये जागरण का सूत्रपात हुआ तो बहुत-से विचारवान रंगकर्मियों ने प्रशिक्षण की सुविधाओं की कमी और आवश्यकता को अनुभव किया और इसके लिए

माग भी होने लगी। किन्तु हमारे देश के समकालीन सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन और उसकी प्रगति का यह एक मूलभूत अंतर्विरोध है कि बहुत-सी सुविधाओं की आवश्यकता और उनके जुटाने के लिए बुनियादी परिस्थितियों की अनुपस्थिति अपनी पूरी तीव्रता और अनिवार्यता से एक साथ सामने आती है और एक दुश्चक्र तुरत उत्पन्न हो जाता है कि आवश्यकताओं को पूरा किये बिना बुनियादी परिस्थितियाँ सुलभ नहीं हो सकती और बुनियादी परिस्थितियाँ उत्पन्न किय बिना आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो सकती।

रगमच के सदर्भ म यह दुश्चक्र बडी नाटकीयता के साथ सक्रिय होता है। हमारे देश मे *रगमच बहुत विकसित अवस्था मे नहीं है। अधिकाश क्षेत्रों म तो नियमित प्रदर्शन करने वाली नाटक मडलियाँ है ही नहीं, और जो है वे प्राय* बडी कठिनाई से जीवित रह पाती है। ऐसी स्थिति मे समुदाय के अत्यन्त सीमित साधनों का उपयोग पहल नाटक मडलियाँ स्थापित करने के लिए किया जाय या प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित करन के लिए ? देश के विभिन्न भागो म सक्रिय नाट्य मडलियो के बिना प्रशिक्षण केन्द्रो की स्थापना का विचार गाडी मे पीछे की ओर बैल जोतने के बराबर है, अथवा अस्पताल खोले बिना चिकित्साशास्त्र के प्रशिक्षण की योजना बनान जैसा है। इसलिए भारतीय रगमच के क्षेत्र मे प्राथमिकता सक्रिय नाटक मडलियो की स्थापना को ही हो सकती है, प्रशिक्षण को बहुत बाद म।

यह कठिनाई इसलिए और भी तीव्र हो जाती है कि देश के विभिन्न भाषा-क्षेत्रो म रगमच के विकास की बडी असमानता है। कलकत्ते मे नियमित रूप से चलनेवाले चार-पाँच नाटकघरों से लगाकर हिंदी अथवा असमिया, कश्मीरी, पजाबी भाषी क्षेत्रों मे नियमित रगमच के प्राय अभाव तक, परिस्थितियो म बडी विविधता है। फलस्वरूप रगमचीय आवश्यकताओ मे भी अतर है और यह अनिवार्य है कि विभिन्न भाषाई क्षेत्रो मे अलग अलग प्रशिक्षण केन्द्रो की स्थापना पर बल दिया जाय, जो क्षेत्र विशेष की आवश्यकताओ के अनुरूप हो। सारे देश के लिए कोई सामान्य प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित करने से इन विभिन्न क्षेत्रो की विशेष आवश्यकताओ और परिस्थितियो की उपेक्षा हो जायगी और ऐसे केन्द्र बहुत उपयोगी न हो सकेंगे। देश भर के लिए सामान्य केन्द्र स्थापित करने म कुछ और भी मूलभूत और प्राय दुर्गम बाधाएँ और असुविधाएँ है जिन पर कुछ बाद मे विचार किया जाएगा। पर अलग-अलग भाषा क्षेत्रो मे अलग अलग प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित करने मे भी कुछ बडी बुनियादी समस्याएँ सामने आती है जिन पर नजर डालना जरूरी है।

सबसे बडी समस्या तो अधिकाश क्षेत्रो मे नियमित सक्रिय रगमच के अभाव की ही है। इस स्थिति मे रगकर्मी का प्रशिक्षण कैसे हो ? नाट्य प्रशिक्षण

मूलत व्यवहारिक कार्य है, निरा सैद्धांतिक नही। और जीवत व्यावहारिक अनुभव के बिना कोरे किताबी ज्ञान से कोई लाभ नही। परिवेश मे सक्रिय और सर्जनशील नियमित रगमच के बिना केवल कक्षाओ म छात्र न केवल अधिक नहीं पा सकते, बल्कि पूरा प्रशिक्षण एकागी, अयथार्थ और मार्गभ्रष्ट रहता है। ऐसे जीवन रगमच के बिना प्रशिक्षण के प्रसग म छात्रो द्वारा किये गये नाट्य प्रदर्शन भी एक शून्य मे लटके रह जाते हैं, वे किसी व्यापक जीवत कार्यकलाप से, किसी सामाजिक क्रिया से नही जुड पाते। इसी बात को दूसरे शब्दो म इस प्रकार भी कह सकते हैं कि प्रशिक्षण के बाद छात्र कैसे अपने प्रशिक्षण का उपयोग करे ? और फिर इन मडलियो को नाट्य प्रदर्शन के लिए आवश्यक साधन कहाँ से मिले ? तो फिर मौजूदा अव्यवसायी मडलियो मे शामिल हो जाये ? हर स्थिति म प्रशिक्षण का समुचित उपयोग बहुत आसान न होगा, जिसके फलस्वरूप प्रशिक्षण से प्राप्त सतोष की बजाय अपनी क्षमता का उपयोग न कर सकने से निराशा ही अधिक हाथ लगेगी। प्रशिक्षण की पूरी सार्थकता तभी हो सकती है जब प्रशिक्षित रगकर्मी अपनी योग्यता और प्रतिभा को कार्यान्वित करने का अवसर पा सकें।

इसका एक सीमित निराकरण इस बात म ही हो सकता है कि देश की मौजूदा रगमचीय स्थिति मे प्रशिक्षण केन्द्र के साथ ही एक नाटक मडली भी बनायी जाय जिसमे उत्तीर्ण छात्रो मे से कुछेक नियमित रूप से स्थान पा सकें। कई दृष्टियो से यह मडली उस भाषा क्षेत्र मे रगमचीय गतिविधि के सार्थक और सक्रिय प्रारभ का सूत्रपात कर सकती है, नये-नये प्रयोगो और साहसपूर्ण कार्य का केन्द्र बन सकती है, अन्य मडलियो के लिए कार्य के मान स्थापित कर सकती है, और पूरे वातावरण को जीवत बना सकती है। दूसरी ओर प्रशिक्षण को ऐसी मडली से अनिवार्य रूप मे जोड लेने मे कई खतरे हैं। एक तो यही कि आर्थिक तथा अन्य साधनो की समस्या बढ जाती है—मडली को चलाने लिए पर्याप्त धन चाहिए। किन्तु सभवत इसे प्रशिक्षण केन्द्र के लिए अनिवार्यत आवश्यक व्यय मानकर स्वीकार किया जा सके। पर इससे भी बडा खतरा यह है कि मडली बनने से प्रशिक्षण का कार्य गौण और मडली के प्रदर्शनो के अधीन हो जाय तथा उसी की आवश्यकताओ द्वारा ही निर्धारित होने लगे। फिर प्रशिक्षण केन्द्र से सम्बद्ध मडली बनाने से भी सारे छात्रो की समस्या तो नही सुलझती। कोई मडली हर वर्ष सभी उत्तीर्ण प्रशिक्षणार्थियो को नही भरती कर सकेगी और बाकी लोगो के लिए अपने प्रशिक्षण का सार्थक उपयोग करने की कठिनाई बनी ही रहेगी।

इसी प्रकार योग्य प्रशिक्षको तथा प्रशिक्षण सामग्री के अभाव की समस्याएँ भी कम तीव्र नही हैं। जिन भाषा क्षेत्रो मे थोडा-बहुत सक्रिय रगमच है, वहाँ

तो यह सभव है कि कुछ अनुभवी अभिनेता या रंगशिल्पी प्रशिक्षण के लिए मिल जाय यद्यपि अधिकाशत उनका ज्ञान व्यावहारिक होता है, उसे व्यवस्थित ढग से दूसरो को सिखा सकना उनके लिए बहुत आसान नही होता। इसके अतिरिक्त उनम से अधिकाश की दृष्टि बडी सीमित, सकुचित और पिछडी हुई ही होती है। वे एक घिसे पिटे ढर्रे पर पर काम करने के अभ्यस्त होते हैं और उनस यह आशा करना उचित नही कि वे नये प्रशिक्षणार्थी की कल्पनाशक्ति को जाग्रत करेंगे या उस नयी दृष्टि स सोचने और कार्य करने क लिए प्रेरित कर सकेंगे। बल्कि बहुत बार तो वे नयी दृष्टि को, नये कल्पनाशील कार्य को, तिरस्कार और सदेह की दृष्टि से ही देखते हैं। उनमे से अच्छे विश्वसनीय प्रशिक्षक मिलना बहुत आसान नही होता।

पर जिन भाषा क्षेत्रो म रगमच कमजोर हालत मे है, वहाँ तो पहली आवश्यकता प्रशिक्षको के प्रशिक्षण की होगी, और वहा इस स्थिति मे निहित दुश्चक्र पूरी तीव्रता से सक्रिय होते हैं। जीवत नियमित रगमच के बिना, योग्य अनुभवी प्रशिक्षको के बिना, प्रशिक्षण कार्य कैसे प्रारभ किया जाय अथवा चले, और प्रशिक्षित व्यक्तियो के बिना कैसे कल्पनाशील, कलात्मक और सार्थक रगमच का निर्माण हो तथा प्रतिभावान, योग्य तथा अनुभवी रगकर्मी प्रकट हो जो अन्य नये उत्साही रगकर्मियो को प्रशिक्षित कर सकें? किसी हद तक इस दुश्चक्र से कोई छुटकारा नही है और अपने सामाजिक-आर्थिक-सास्कृतिक जीवन की अन्य स्थितियो की भाँति यहाँ भी दोनो स्तरो पर, दोनो प्रकार का, कार्य एक साथ किया जाना है दुश्चक्र से घबराकर हथियार डाल देने से काम नही चल सकता। पाठ्य-सामग्री तथा प्रशिक्षण सबधी अन्य आवश्यकताओ का हल भी बहुत कुछ यही है। प्रशिक्षण यदि हमारे रगमच के विकास के लिए, उसके स्तर को उठाने के लिए, उसम लगे हुए लोगो की शक्ति और साधनो का अपव्यय बचाने के लिए, अनिवार्य आवश्यकता है, तो उसे प्रारभ करके ही उसस सबधित समस्याओ का हल खोजा जा सकता है, सभी समस्याओ के हल हो जाने और सभी साधनो के सुलभ हो जाने की प्रतीक्षा करके नही।

इस प्रकार की अपेक्षया बाह्य और साधनो से सबधित समस्याओ से अधिक कठिन और मूलभूत प्रश्न उस दृष्टि का है जो प्रशिक्षण के कार्य मे अपनानी चाहिए। भारतीय रगकर्मी का प्रशिक्षण किस आधार पर हो? उसे क्या सिखाया जाय, कैसे सिखाया जाय? हमारे प्रशिक्षण केन्द्रो का पाठ्यक्रम क्या विभिन्न पश्चिमी देशो के नाट्य प्रशिक्षण केन्द्रो के अनुकरण मे तैयार किया जाय? अभिनय मे कौन-सी पद्धतियाँ सिखायी जायें—स्तानिस्लावस्की, ब्रेश्ट या कोई अन्य या सभी? और भारतीय पद्धतियाँ—नाट्यशास्त्र पर, या कथकलि कुचिपूडि अथवा अन्य परपरागत शैलियो पर, आधारित? मूलत कैसी

प्रदर्शन शैली पर आग्रह हो—यथार्थवादी, पश्चिमी प्रयोगवादी ढग की, प्राचीन भारतीय, अथवा कोई अन्य नवीन आधुनिक ? लक्ष्य अथवा उद्देश्य तथा पद्धति या पद्धतियो का प्रश्न प्रशिक्षण के आयोजन म आधारभूत है, और यह अतत रगमच के क्षेत्र मे हमारे लक्ष्य, विकास की दिशा और जीवन दृष्टि से जुडा हुआ है। एक अन्य स्तर पर वह उपलब्ध नाटको और विभिन्न क्षेत्रा म प्रचलित नाट्य प्रकारो अथवा रगमचीय प्रवृत्तियो से भी जुडा हुआ है। इस सबध में दृष्टिकोण स्पष्ट और निर्धारित किये बिना प्रशिक्षण कार्य के आयोजन के सर्वथा अप्रत्याशित और प्रतिकूल परिणाम हो सकते हैं।

एक प्रकार से हमारे रगमच को देखते हुए शायद आदर्श स्थिति ता यह हो कि पश्चिमी और भारतीय सभी शैलियो और पद्धतियो का उपयोग किया जाय, और प्रशिक्षार्थी को यह सुविधा हो कि वह सभी को सीखे और फिर अपनी रुचि, प्रवृत्ति और परिस्थिति के अनुकूल चाहे जिसका व्यवहार करे। पर यह स्थिति प्राय काल्पनिक है। प्राचीन तथा पारपरिक भारतीय पद्धतिया इतनी विशिष्ट और स्वत सपूर्ण हैं कि साधारणत उन्हें किसी अन्य पद्धति के साथ मिलाया नही जा सकता, वे पश्चिमी शैलियो से कई बातो मे सर्वथा प्रतिकूल भी हैं और किसी प्रशिक्षार्थी को एक ही समय मे दोनो का अभ्यास कराना कठिन है, और इसमे इतना अधिक समय लगेगा जो न व्यावहारिक है न उपयोगी। इसके अतिरिक्त केवल प्राचीन अथवा पारपरिक भारतीय पद्धतियो के प्रशिक्षण से आधुनिक नाटको के अभिनय प्रदर्शन मे कितनी सहायता मिलेगी यह भी सदिग्ध है। आधुनिक भारतीय नाटको का रूप, कम से कम अभी तो, पश्चिमी प्रभाव से आक्रात है और उनके प्रदर्शन के लिए पाश्चात्य पद्धतियो का उपयोग अनिवार्य है।

दूसरी ओर, केवल पाश्चात्य प्रशिक्षण और अभिनय पद्धतियो के उपयोग से प्रशिक्षार्थी की दृष्टि मे विदेशीपन, पश्चिमीपन, और भी बढ़ेगा ही। वह अतत अपने परिवेश और जीवन तथा उसकी समस्याओ से और भी कट जायगा तथा उनके सर्जनात्मक प्रक्षेपण मे कृत्रिमता और उच्चवर्गीय अयथार्थता बढ़ेगी। इस प्रकार देश की जडो मे गहरी गुथी हुई पारपरिक चिंतन, भावन, और अभिव्यक्ति पद्धतियो से उसका परिचय और लगाव कम ही होगा, बल्कि उनके प्रति एक प्रकार का तिरस्कार, अवज्ञा और उपेक्षा का भाव उसके भीतर उत्पन्न होगा। हमारी सम्पूर्ण शिक्षा पद्धति ऐसा करती रही है और इसलिए देश की आवश्यकताओ के अनुरूप न होकर, मौलिक चिंतन और प्रतिभा को प्रेरणा देने और पुष्ट करने के बजाय, देश के युवजन को परोपजीवी, आडबरपूर्ण और इस प्रकार अपने परिवेश से विलग, कुठित और व्यर्थ बनाती रही है। उपयोगितामूलक शिक्षा के क्षेत्र मे जब यह स्थिति, पाश्चात्य पद्धतियो, विचारो और लक्ष्यो

पर आग्रह करने से, होती है, तो रंगमंच जैसे सर्जनात्मक क्षेत्र में तो उसका प्रभाव सर्वथा आत्मघाती ही हो सकता है। यह केवल कल्पना मात्र नहीं है, पश्चिमी देशों में रंगमंच का प्रशिक्षण लेकर लौटनेवाले देश के दर्जनों प्रतिभावान लोगों की परिणति और नियति इसकी सत्यता की साक्षी है। इसके अतिरिक्त स्वयं पश्चिमी देशों में अभिनेता के प्रशिक्षण और रंगमंच के सामान्य दिशा-निर्धारण में प्राच्य तथा भारतीय पद्धतियों के प्रति आदर और आकर्षण बढ़ने लगा है। इसलिए केवल पश्चिमी पद्धतियों और लक्ष्यों पर अपने प्रशिक्षण को *आधारित करना न तो उपयोगी है न समीचीन।*

किन्तु फिर भारतीय और पश्चिमी पद्धतियों का मिश्रण, समन्वय या साथ-साथ उपयोग किस आधार पर, किस रूप में हो? आज प्रशिक्षण के प्रश्न पर विचार करने वाले या उससे सबद्ध व्यक्ति के सामने यह प्रश्न मूलभूत और सर्वाधिक महत्त्व का है। वास्तव में वह हमारे सम्पूर्ण रंगकार्य का मूलभूत प्रश्न है और हम किसी भी प्रकार की तड़कभड़क, ऊपरी टीमटाम या सफाई-सजावट से इसको दबा नहीं सकते। भारतीय रंगमंच के अन्य कर्मियों के साथ ही नाटक-कार, अभिनेता, निर्देशक और रंगशिल्पी के साथ ही—भारतीय रंग प्रशिक्षक को भी *अपने व्यक्तित्व का अन्वेषण करना है, अपने आप को पहचानना है।* हमारे देश *में सार्थक रंग प्रशिक्षण वही होगा जिसमें आग्रह भारतीय दृष्टि,* भारतीय पद्धतियों पर तो हो, पर उनके माध्यम से आधुनिक यथार्थ को अभि-व्यक्त करने का प्रयास हो, जिसके लिए उन पद्धतियों को पाश्चात्य पद्धतियों के साथ यथासंभव समन्वित किया जाय। हम अपने अभिनेता को विभिन्न भारतीय शैलियाँ तथा पद्धतियाँ सिखायें, उनके जीर्णोद्धार अथवा उनकी पुरातत्त्वीय विशिष्टता अथवा अजायबघरी नवीनता के लिए नहीं, बल्कि आधुनिक यथार्थ की अभिव्यक्ति और प्रस्तुति के उद्देश्य से उनके अन्वेषण के लिए। इसी उद्देश्य से हम पाश्चात्य पद्धतियों का भी अन्वेषण करें और उनके अपने लिए उपयोगी और सर्जनशील तत्त्वों को अपनी मूलभूत रंगपद्धति के निर्माण, स्वरूप निर्धारण और *विकास की दृष्टि से आत्मसात करें। प्रश्न पश्चिमी पद्धतियों और विधियों के बहिष्कार का नहीं, बल्कि अपनी परंपरा और सर्जनात्मक आवश्यकताओं के लिए उनके कल्पनाशील और सतर्कतापूर्ण उपयोग का है। हमारे प्रशिक्षकों के* लिए यह संभव होना चाहिए कि वे भारतीय परंपरा और सर्जनात्मक आवश्य-कता के संदर्भ में पश्चिमी पद्धतियों के अन्वेषण और पश्चिमी पद्धतियों की पृष्ठ-भूमि में कुछ भारतीय विधियों और शिल्पशैलियों के भी उपयोग के बीच अन्तर को पहचान सकें।

प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों के निर्धारण में एक अन्य समस्या नाटक साहित्य, अभिनय कला और रंगशिल्प के बीच अनुपात और संतुलन की भी है। स्पष्ट

है कि भाषाई क्षेत्रों के प्रशिक्षण कार्यक्रमों में प्राथमिक महत्त्व अभिनय कला पर ही होगा। रंगमंच की ओर उन्मुख होने वाले अधिकांश व्यक्तियों की रुचि अभिनय में ही होती है और यह स्वाभाविक है। उनके पाठ्यक्रमों से अभिनय कला और नाटक साहित्य पर ही बल होना उचित है। पर नाटक साहित्य में उनकी अपनी भाषा के विस्तृत अध्ययन के साथ देश की अन्य भाषाओं के कुछ श्रेष्ठ नाटक, कुछ संस्कृत नाटक और कुछ महत्त्वपूर्ण विदेशी, पाश्चात्य तथा प्राच्य, नाटक होने से ही संतुलन ठीक रह सकता है। विदेशी नाटकों की अनुपातहीन बहुलता, अपनी भाषा के तथा देश की अन्य भाषाओं के नाटकों के प्रति बड़ा हीनता का भाव उत्पन्न करती है, और विदेशी नाटकों का सर्वथा बहिष्कार एकांगी, संकीर्ण और सीमित दृष्टि। किन्तु किसी भी भाषा क्षेत्र की प्रशिक्षण योजना में निर्देशन, रंगशिल्प तथा नैपथ्य कार्य के प्रशिक्षण के लिए भी प्रबंध होना आवश्यक है—बहुत-से नाटकप्रेमी अभिनय की बजाय रंगशिल्प अथवा नैपथ्य कार्य में बहुत निपुण होते हैं और उनका समुचित प्रशिक्षण उस भाषा के रंगस्तर को उठाने में सहायक हो सकता है। निर्देशन कार्य के उपयुक्त छात्र सबसे कम होते हैं, उसके लिए जैसी विस्तृत पृष्ठभूमि, संवेदनशीलता और ग्रहणशक्ति चाहिए वह अपेक्षया दुर्लभ है, यद्यपि आज हमारे रंगमंच में सबसे भारी कमी और आवश्यकता प्रशिक्षित निर्देशकों की ही है। मुख्य बात है प्रशिक्षण योजना में पर्याप्त विभिन्नीकरण, जिसमें मोटे तौर पर विभिन्न रुचियों और क्षमताओं वाले शिक्षार्थी अपनी सामर्थ्य के अनुसार लाभ उठा सकें। सबको सभी कुछ सिखाने का प्रयास बहुत लाभदायक नहीं सिद्ध हो सकता। साथ ही किसी अत्यंत सीमित क्षेत्र की विशेषज्ञता भी हमारे रंगमंच के वर्तमान संदर्भ में निरर्थक है। अत्यधिक विशेषज्ञता प्राप्त व्यक्तियों का उपयोग बड़ी कठिनाइयाँ और फलस्वरूप निराशा उत्पन्न करता है। हमारे रंगमंच को किसी हद तक रंगकार्य के अधिकाधिक पक्षों को जानने और कर सकनेवाले कर्मियों की आवश्यकता है।

वास्तव में, हमारे देश में प्रशिक्षण कार्यक्रम में पर्याप्त लचीलेपन और विभिन्नीकरण की आवश्यकता है जिससे वह रंगमंच के विभिन्न स्तरों पर उपयोगी तथा सार्थक हो सके। हमारे देश का अधिकांश रंगकार्य अव्यवसायी और शौकिया है और यह आवश्यक है कि उसके स्तर को उठाने और उसमें संलग्न उत्साही कर्मियों को अपने कार्य में अधिक सक्षम और समर्थ बनाने के लिए अलग-अलग विषयों पर अल्पकालीन पाठ्यक्रमों के व्यापक आयोजन किए जायें। दीर्घकालीन पाठ्यक्रम में सारा समय देने वाले प्रशिक्षार्थियों के लिए केन्द्र स्थापित करने की बजाय छोटे और सीमित पाठ्यक्रमों के, सध्याकालीन प्रशिक्षण के, केन्द्र कहीं अधिक कारगर हो सकते हैं। उनसे रंगमंच संबंधी संवेदनशीलता और जानकारी और सुरुचि का प्रसार कहीं व्यापक रूप में हो सकता

है।

प्रशिक्षण का एक अन्य स्तर हो सकता है स्कूल-कालेजों और विश्वविद्यालयों में। वास्तव में रंगमंचीय प्रशिक्षण और कार्यकलाप का यह अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है जो हमारे देश में सर्वथा उपेक्षित है। स्कूलों प्रशिक्षण के ग्रीष्मकालीन पाठ्यक्रम केवल मैसूर राज्य में कुछ वर्षों से चल रहे हैं और विश्वविद्यालयी स्तर पर केवल बड़ौदा, रवीन्द्र भारती और हाल ही में पंजाबी विश्वविद्यालय में ही डिप्लोमा या डिग्री पाठ्यक्रम है। दुर्भाग्यवश ये बहुत सूझ बूझ, सुरुचि या कलात्मकता के साथ संगठित नहीं है। पर इस दिशा में बहुत प्रकार के व्यापक कार्य की गुंजाइश है। अधिकांश स्कूलों और प्राय सभी कालेजों और विश्वविद्यालयों में वर्ष भर में एक-दो से लगाकर चार छह नाटक तक खेले जाते है, पर इस गतिविधि के दिशानिर्देश का कोई प्रबंध कहीं नहीं है। स्कूली स्तर पर प्रत्येक स्कूल से कम से कम एक-एक शिक्षक को दो-तीन या छह मास का प्रशिक्षण देने के अल्पकालीन पाठ्यक्रमों की योजना बन सकती है जो कई चरणों में क्रमश पूरी हो सकती है। इसी प्रकार विश्वविद्यालयों में नियमित नाट्य विभाग खोलना यदि कठिन हो तो प्रत्येक कालेज या कम से कम प्रत्येक विश्वविद्यालय में एक नाट्य प्रशिक्षक की नियुक्ति से प्रारंभ किया जा सकता है जो संस्था के विभिन्न नाट्य प्रदर्शनों को अधिक व्यवस्थित और कलात्मक रूप देने में सहायक हो सकता है। वह व्यक्ति बारी-बारी से प्रत्येक कालेज के उत्साही रंगप्रेमी छात्रों के लिए ऐसा अल्पकालीन पाठ्यक्रम संध्या को चला सकता है जिसकी चरम परिणति एक नाटक के प्रदर्शन में हो। विश्वविद्यालय के रंगप्रेमी अध्यापकों तथा छात्रों के लिए ग्रीष्मकालीन शिविर तथा पाठ्यक्रम शिविर संयोजित किए जा सकते हैं जो विश्वविद्यालयों में रंगकार्य के स्तर को अधिक सार्थक और सर्जनात्मक बनाने में सहायक हो सकते है।

मुख्य बात यह है कि शिक्षा व्यवस्था में किसी न किसी रूप में नाट्य प्रशिक्षण का समावेश रंगमंच के समुचित विकास के लिए बहुत ही मूलभूत महत्त्व का और विचारणीय है। नियमित रंगमंच के लिए कर्मी और दर्शक वर्ग के प्रशिक्षण और निर्माण का कार्य इसी स्तर पर होना बहुत आवश्यक है। इसके बिना रंगमंच को समुदाय के जीवन में वह अपरिहार्य और प्रासंगिक स्थान नहीं प्राप्त हो सकता जिसके बिना रंगमंच-जैसी सामूहिक सर्जनात्मक विधा का जीवित रहना दुष्कर है। रंगमंचीय प्रशिक्षण को प्रारंभिक, और यदि स्वतंत्र विभाग स्थापित हो सके तो मूलभूत, सर्जनात्मक जानकारी जितनी आसानी से विश्वविद्यालयों में सुलभ करायी जा सकती है, उतनी और कहीं नहीं। विश्वविद्यालयों के विभागों में संयोजित रंगकार्य व्यावसायिक-व्यावसायिक दबावों से सर्वथा उन्मुक्त रहकर सार्थक, कलात्मक और सर्जनशील अन्वेषण में

और वैसे मानक स्थापित करने मे बडा भारी योग दे सकता है। रग प्रशिक्षण के लिए सरकार तथा समाज के पास उपलब्ध साधनो का एक बडा अश इस कार्य म लगना बहुत आवश्यक है।

शैक्षिक क्षेत्र के बाहर रग प्रशिक्षण के अल्पकालीन पाठयक्रमो और भाषाई क्षेत्रो के प्रशिक्षण केन्द्रो की चर्चा की जा चुकी है। अब सभवत मारे देश के लिए किसी केन्द्रीय विद्यालय की उपयोगिता पर कुछ विचार किया जा सकता है। भारत जैसे बहुभाषा भाषी देश मे रगमच-जैसे भाषा पर आधारित कला रूप का केन्द्रीय सगठन बडा जोखिम का ही काम है। सबसे पहला प्रश्न तो प्रशिक्षण और उसके लिए आवश्यक नाटक प्रदर्शन की भाषा का ही है। जाहिर है, किसी एक केन्द्रीय सस्था मे ही देश की प्रत्येक भाषा मे यह कार्य करना असभव भी है और अनावश्यक भी, इससे तो प्रत्येक भाषा क्षेत्र म अलग अलग विद्यालयो की स्थापना ही बेहतर है। इसलिए केन्द्रीय विद्यालय की भाषा अग्रेजी हो सकती है या हिन्दी, और इन दोनो ही विकल्पो की कठिनाइयाँ हैं। अग्रेजी के माध्यम से हमारे देश म किसी भी प्रकार का प्रशिक्षण अतत सर्जनात्मक प्रतिभा को कु ठित करता है और उसमे प्रवेश को अग्रेजी शिक्षा प्राप्त वर्ग तक सीमित। कोई सार्थक सर्जनात्मक कार्य अग्रेजी के माध्यम से होना कठिन भी है और शक्ति तथा साधनो का अपव्यय भी। और फिर अग्रेजी के माध्यम से नाटको का प्रदर्शन तो प्राय निरर्थक और घातक है—अग्रेजी नाटको के प्रदर्शन को प्रशिक्षण मे शामिल करने से बडा साधनो का दुरुपयोग और दूसरा नहीं हो सकता। इस समस्या के कुछ पक्षो की चर्चा अन्यत्र भी की जा चुकी है।

किन्तु विभिन्न भाषा क्षेत्रो से आये हुए छात्रो का हिन्दी म प्रशिक्षण भी उतना ही नहीं तो पर्याप्त क्षतिकारक है। हमारे देश के विभिन्न भाषाओ के उच्चारण, पाठ और भाषण की अपनी-अपनी विशिष्टताएँ हैं, उनके अपने अलग सगीत और स्वर हैं, अलग ध्वनि सयोजन है। अन्य भाषाओ के छात्रो से हिन्दी मे अभिनय प्रदर्शन कराने से एक ओर उनकी अपनी भाषा के सूक्ष्म तत्त्वो के प्रति उनके कम सवेदनशील हो जाने का भय है और दूसरी ओर हिन्दी उनके लिए गहरे आत्मनिवेदन की भाषा न बन पाने के कारण उनके तथा दर्शको के लिए असतोष और क्षोभ का कारण बनने की आशका है। विभिन्न भाषा-भाषी छात्रो को हिन्दी मे अभिनय के लिए बाध्य करना सभवत उन छात्रो के प्रति भी अविचार होगा और हिंदी के साथ भी।

ऐसी स्थिति मे क्या किया जाना चाहिए ? वास्तव मे यदि केन्द्रीय सस्थान कोई स्थापित हो ही, तो शायद यह दृष्टि ही सबसे समीचीन लगती है कि उसके प्रशिक्षण कार्यक्रम मे अभिनय के प्रशिक्षण पर बल न दिया जाय। उसकी सार्थकता तो विभिन्न भाषा क्षेत्रो के प्रतिभावान छात्रो को रगशिल्प, नेपथ्य

कार्य, और किसी हद तक निर्देशन, का उच्च-स्तरीय, व्यापक और गहरा प्रशिक्षण दे सकने में ही हो सकती है। बल्कि यदि विभिन्न राज्यों और केन्द्र के बीच कोई योजनाबद्ध कार्य हो सके तो भाषा क्षेत्रों में अभिनय संबंधी प्रशिक्षण और केन्द्रीय संस्थान में रंगशिल्पों और नेपथ्य कार्य के प्रशिक्षण का बँटवारा भी किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय संस्थान विभिन्न विश्वविद्यालयों के लिए, तथा अन्य अव्यवसायी रंगकर्मियों के लिए, अलग अलग रंगशिल्पों के अथवा सामान्य, अल्पकालीन पाठ्यक्रमों का विस्तृत आयोजन बहुत सुविधा तथा सरलता के साथ कर सकता है। केन्द्रीय संस्थान रंगमंच संबंधी शोध कार्य, अथवा खास-खास विषयों पर, 'वर्कशाप'—जैसे विशेष कार्य, भी हाथ में ले सकता है। कुछेक सर्वथा प्रयोगात्मक योजनाओं का भार भी केन्द्रीय संस्थान के लिए संभव है। मुख्य प्रश्न यही है कि रंगमंच में भाषा और उससे जुड़े हुए अभिनय के प्रश्न को बड़ी सावधानी और सतर्कता से सम्हालने की आवश्यकता को न भुलाया जाये। केन्द्रीय संस्थान उसी हद तक अपनी सार्थकता स्थापित और सिद्ध कर सकता है जिस हद तक वह भाषाई रंगमंचों को अधिक समृद्ध, अधिक कलात्मक अधिक उच्च-स्तरीय बनाने में योग देगा, अपने केन्द्रस्थ साधनों का उपयोग भाषाई रंगमंचों में प्रशिक्षण के दुर्बल पक्षों को, उनकी कमी को, पूरा करने का प्रयास करेगा। हमारे देश में साधनों के अत्यन्त सीमित होने के कारण केन्द्रीय संस्थान का यह योग बहुत ही महत्त्वपूर्ण हो सकता है।

यहां इस बात पर आग्रह सर्वथा उचित है कि सामान्य रंगकार्य और प्रशिक्षण में किसी राष्ट्रभाषा या राष्ट्रीय रंगमंच की परिकल्पना बहुत समीचीन नहीं है। सर्जनात्मक क्षेत्र में हमारे देश की सभी भाषाओं का स्थान समान है और उनमें से किसी की भी सर्जनात्मक श्रेष्ठता और उपलब्धि ही पूरे देश की श्रेष्ठता और उपलब्धि है। इस संदर्भ में केवल हिंदी रंगमंच को राष्ट्रीय रंगमंच कहना बड़ा निरर्थक और संकीर्ण मतवाद है। फिल्मों तक के मामले में, जहाँ हिन्दी फिल्मों को इतनी सुविधाएँ और व्यापक प्रचार के साधन सुलभ रहे हैं, श्रेष्ठ राष्ट्रीय उपलब्धि का स्तर सत्यजित राय की बँगला फिल्मों ने ही प्राप्त किया। इसलिए भाषा पर आधारित सर्जनात्मक कार्य में प्रत्येक भाषा के अपने विशिष्ट और स्वतंत्र अस्तित्व और महत्त्व को स्वीकार करना ही उचित है।

नाट्य प्रशिक्षण संबंधी इस विवेचन के अंत में अब एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष पर भी विचार कर लेना चाहिए। अभी तक एक प्रकार से हम यह मान कर चले हैं कि रंग कार्य में प्रशिक्षण आवश्यक है इसलिए उसमें पर्याप्त प्रशिक्षार्थी मौजूद हैं। पिछले संपूर्ण विवेचन के पीछे जैसे यह मान्यता रही है कि विभिन्न स्तरों पर प्रशिक्षण योजनाएँ प्रारम्भ करने की ही देर है, उनमें प्रवेश पाने के इच्छुक रंगकर्मियों या रंगप्रेमियों की कोई कमी नहीं है।

पर वस्तुस्थिति यथार्थत ऐसी है नही । इस समय जो भी जिस प्रकार के अल्प-कालीन, सक्षिप्त अथवा अन्य प्रशिक्षण केन्द्र मौजूद हैं उनके लिए पर्याप्त छात्र, अथवा पर्याप्त योग्यता तथा गभीर रुचि सस्कार और रुझान वाले छात्र, सहज ही उपलब्ध नहीं हैं । भारतीय नाट्य सघ की शाखाओ द्वारा विभिन्न नगरो के अल्पकालीन पाठ्यक्रम विश्वविद्यालयो के नाटक विभाग तथा राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय—सभी के बारे म यह बात सही है । बहुत बार तो छात्रवृत्तियां देने पर भी पर्याप्त छात्र न तो आते हैं न अत तक रह पाते हैं ।

निस्सदेह इस स्थिति के बहुत-से कारण है जिनम से कुछ तो वही हैं जिनकी प्रारभ म चर्चा की गयी—रगरच का अल्प विकास, अधिकाश भाषाओ मे नियमित प्रदर्शन करनेवाली मडलियो की बेहद कमी, और प्रशिक्षण के बाद भी अपनी योग्यता का समुचित उपयोग करने के लिए साधनो का अभाव । अन्य कारण है, कल्पनाशील और समर्थ प्रशिक्षको का अभाव, अथवा रगकार्य मे प्रशिक्षण के महत्त्व के प्रति शौकिया तथा पेशेवर दोनो प्रकार के रगकर्मियो की उदासीनता आदि ।

इस सदर्भ मे एक बात बार-बार उठायी जाती है कि प्रशिक्षण के बाद प्रशिक्षार्थियो की आजीविका का क्या होगा ? प्रशिक्षित रगकर्मियो के रोजगार के अवसर कहाँ हैं ? यह प्रश्न अत्यत बुनियादी और व्यावहारिक जान पड़ने पर भी मूलत बडा भ्रामक और अवातर है । सर्जनात्मक कार्यों के प्रशिक्षण को सामान्य आजीविकामूलक प्रशिक्षण के समानान्तर रखना भूल है । सर्जनात्मक कार्य मे प्रशिक्षण मूलत अपनी प्रतिभा के अधिक से अधिक सार्थक और सक्षम प्रयोग के लिए ही चाहा और मांगा जा सकता है। जिसे कोई कला विधा सीख कर भी नौकरी ही करनी है उसे क्यो कला के क्षेत्र मे आना चाहिए, यह स्पष्ट नही । सगीत, नृत्य, चित्र अथवा मूर्तिकला का प्रशिक्षण लेने वाला भी या तो अधिक से अधिक कही शिक्षक की नौकरी पाकर अपने को धन्य समझ सकता है, या वह अपनी कला विधा के ऐसे अन्वेषण मे प्रवृत्त होता है जिसके द्वारा अन्तत वह अपने अनुभव को, अपने जीवन के बोध को, मूर्त और सप्रेषित कर सके । और अपने इस कार्य मे लगे होने के दौर मे वह अपनी जीविका किसी न किसी उपाय से चलाता है, कष्ट सहता है, पर यथासभव अपन माध्यम को निरा आजीविका का साधन बनाए जाने से बचाता है ।

सभवत प्रत्येक समाज मे सर्जनशील व्यक्ति की यह समस्या है कि केवल अपने स्वैच्छिक सर्जन कार्य द्वारा साधारण सुविधाओ का जीवन बिताने की स्थिति आने मे भी पर्याप्त समय लग जाता है कवि, नाटककार, गायक-वादक, चित्रकार सभी अपने सर्जनात्मक जीवन के प्रारभिक वर्ष आजीविका के लिए तरह-तरह के कार्य करके बिताते हैं, अपने सर्जन कार्य से तुरत आजीविका

प्राप्त करने की न आशा करते हैं न उसे संभव समझते हैं। फिर रंगकर्मी प्रशिक्षण के लिए आते ही क्या अपने 'भविष्य' की बात करने लगता है? विशेषकर हमारे जैसे अल्पविकसित रंगमंच में तो प्रशिक्षण की यह शर्त बनाना निरी मृग मरीचिका तो है ही, प्रशिक्षण के उद्देश्य को गलत समझना है। नाट्य प्रशिक्षण का उद्देश्य नौकरी का रोजगार जुटाना या उसके लिए प्रशिक्षार्थी को तैयार करना नहीं है। क्योंकि किसी भी कलात्मक विधा में प्रशिक्षण केवल कुछेक निपुणताएँ, कुछ कारीगरी सिखाना नहीं, बल्कि जीवन के अनुभव को सर्जनात्मक ढंग से आत्मसात करके उसकी कल्पनाशील अभिव्यक्ति और संप्रेषण के लिए व्यक्ति को सजग करना, उसके लिए एक दृष्टि तैयार करना और उसके अभिव्यक्ति तंत्र को संवेदनशील और समर्थ बनाना है। इसलिए एक, दो या तीन वर्ष तक नाट्य प्रशिक्षण के बाद किसी नौकरी की संभावना है या नहीं यह प्रश्न सर्वथा अप्रासंगिक और अवांतर है और एक ऐसे समाज की उपज है जिसमें हर वस्तु और कार्य की उपयोगिता को, भौतिक लाभ अलाभ की कसौटी पर आंका जाने लगा हो।

किंतु नाट्य प्रशिक्षण के संदर्भ में एक अन्य प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण है। रंगमंच अन्य कला विधाओं से एक बात में भिन्न है कि वह अकेले नहीं हो सकता उसके लिए एक समूह चाहिए अपनी प्रतिभा और प्रशिक्षित क्षमता के उपयोग के लिए अन्य साधन और सुविधाएँ चाहिए। हमारे समाज में आज उनका भी घोर अभाव है। इसलिए प्रतिभावान प्रशिक्षित रंगकर्मी इस बात से बहुत कुंठित अनुभव करता है कि उसे अपनी क्षमता के समुचित उपयोग के पर्याप्त अवसर सुलभ नहीं हैं। और इस कारण कुछ लोग यदि प्रशिक्षण की ओर उन्मुख नहीं होते तो यह बात किसी हद तक समझ में आती है। पर वास्तव में हमारे देश में प्रशिक्षण का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण अंग यह भी है कि प्रशिक्षार्थी को रंगमंचीय परिस्थितियों की कठिनाई पर काबू पाने के लिए भी तैयार किया जाय। हमारे देश के रंगमंच के मौजूदा दौर में प्रशिक्षित सजग रंगकर्मी के ऊपर यह दोहरी जिम्मेदारी है कि वह बाहरी साधनों और सुविधाओं से अधिक अपनी कल्पनाशीलता और परिस्थिति से अनुकूलन की क्षमता पर भरोसा करें और उनके भीतर ही अपने सर्जन कार्य को नयी क्षमता और सामर्थ्य के स्तर तक उठाएं।

दूसरी ओर, इसीलिए प्रशिक्षण योजना और कार्यक्रम को भी इस प्रकार परिकल्पित और संचालित होना अत्यंत आवश्यक है कि वह प्रशिक्षार्थियों को तरह-तरह के बाह्य साधनों का मुखापेक्षी, उनके ऊपर निर्भर, न बना दे, उच्च स्तर के नाम पर उनमें यह प्रवृत्ति न पैदा कर दे कि सुसज्जित नाटकघरों के बिना, दृश्यसज्जा तथा दशभूषा के लिए कीमती सामग्री और उपकरणों के बिना,

जटिल प्रकाश यन्त्रों और ध्वनि प्रभावों के बिना, अच्छा नाटक हो ही नहीं सकता। बल्कि प्रशिक्षण द्वारा विशेष रूप से यह चेतना तथा प्रवृत्ति जगायी जाने की आवश्यकता है कि हमारे देश के रंगमंच में साधनों की अल्पता है और रहेगी, इसलिए कितनी सादगी से, कितने स्थानीय रूप से सहज ही उपलब्ध सामग्री और उपकरणों से, अधिक से अधिक सर्जनात्मक-कलात्मक नाट्य रचना संभव की जा सकती है। चकाचौंध कर देनेवाली टीमटाम और दर्शनीयता नहीं, बल्कि सूक्ष्म कला-बोध और अभिव्यक्ति-संयम हमारे प्रशिक्षित रंगकर्मी की विशेषता होना चाहिए।

यह बात मानवीय संबंधों के स्तर पर उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। प्रशिक्षित निर्देशक, अभिनेता या रंगशिल्पी को जिस सामाजिक वातावरण में जाकर, जिन व्यक्तियों के सहयोग से, जिस दर्शक-वर्ग के लिए, अपना कार्य करना होगा, उनके प्रति एक प्रकार का सहिष्णुता और सह-अनुभूति का भाव बना रहना आवश्यक है, उन्हें बदलने के लिए भी आवश्यक है और उनके साथ काम कर सकने के लिए भी आवश्यक है। प्रशिक्षित रंगकर्मी यदि अपनी श्रेष्ठता के अभिमान में अपने आप को अपने समुदाय से अलग कर लेता है, यदि वह समुदाय की वास्तविक स्थिति में कार्य करने में अपने आपको अक्षम पाता है तो यह किसी न किसी हद तक प्रशिक्षण की असफलता ही है। हमारे देश के रंगमंच के संदर्भ में सही नाट्य प्रशिक्षण वही होगा जो रंगकर्मी को अपने देश के जीवन और रंगकार्य से अधिक संयुक्त कर सके, जो परिस्थितिगत तथा आंतरिक सीमाओं के बीच से प्रभावी और समर्थ सर्जन कार्य का पथ खोज सके, केवल उच्चवर्गीय टीमटाम और विदेशी रंगमंच की समृद्ध परिस्थितियों और साधनों के आकर्षण में अपनी दिशा न खो बैठे। इस अर्थ में हमारी परिस्थितियों में प्रशिक्षण कार्य नये रंगमंच के निर्माण और उसमें नये मूल्यों की स्थापना का विशिष्ट साधन बन सकता है, और साथ ही सार्थक सर्जनशील रंगकार्य का महत्त्वपूर्ण प्रेरणादायी केन्द्र भी।

नाट्यालोचन

नाटक विधा की यह एक बडी भारी विडबना है कि एक ग्रोर तो उसे प्राय मनोरजन के साधन से ग्रधिक कुछ नही समझा जाता ग्रौर नाटक से सबद्ध व्यक्तियो को समाज मे बहुत सम्मानित स्थान प्राप्त नही होता ग्रौर दूसरी ग्रोर नाटक की चर्चा प्राय ग्रन्य भाषागत ग्रभिव्यक्ति माध्यमो की भाँति निरा साहित्य मानकर होती है ग्रौर उसके विशिष्ट कला रूप की ग्रोर कोई ध्यान नही दिया जाता। यदि पहली भूल नाटक द्वारा मनोरजन की सभावना से, उसमे निहित ग्रनुकरण, प्रदर्शन, गीत-नृत्य, ग्रादि के तत्त्वो के कारण, होती है, तो दूसरी नाटक के शब्दबद्ध होने के कारण, ग्रपनी प्राथमिक स्थिति मे ग्रन्य साहित्य रूपों की भाँति भाषा की ग्रभिव्यजना ग्रौर सप्रेषण शक्ति का सहारा लेने के कारण, होती है। किन्तु नाटक को समझने ग्रौर उसकी चर्चा, समीक्षा या मूल्याकन करने के लिए इस नितात प्रारभिक बात को समझ लेना ग्रत्यन्त ही ग्रावश्यक है कि वह शब्दबद्ध होने पर भी निरा साहित्य नही है, ग्रौर भी बहुत कुछ है, ग्रौर दूसरी ग्रोर काव्य की ग्रपेक्षा कही ग्रधिक स्थूल ग्रौर इद्रियग्राह्य होने पर भी वह निरा मनोरजन नही है, हृदय म गहरे उतर कर प्रभावित करने वाला ग्रभिव्यक्ति रूप है।

एक प्रकार से यह ग्राश्चर्य की ही बात है कि नाटक के विषय मे यह इतनी प्रारम्भिक ग्रौर स्वत स्पष्ट स्थिति क्यो प्राय भुला दी जाती है— उत्साही रगकर्मियो ग्रौर दर्शको द्वारा भी उतनी ही जितनी विशुद्ध साहित्यकारो द्वारा। इसके कारण जो भी हो, नाट्य समीक्षा के मानदडो की खोज का प्रथम चरण यहीं से प्रारम्भ होता है कि इस प्राय विस्मृत तथ्य को सामने रख कर चला जाय। नाटक निरा साहित्य रूप नही है। प्रारम्भ में, ग्रौर एक स्तर पर, भाषा के साहित्यिक-काव्यात्मक रूप म ग्रभिव्यक्त होने के साथ-साथ, नाटक म ग्रौर भी बहुत-से तत्त्व हैं, जो उसके ग्रपने हैं, विशिष्ट हैं, जो सब एक साथ उस रूप म ग्रन्य किसी कलात्मक ग्रभिव्यक्ति के माध्यम मे नही होते। उनका विस्तार से उल्लेख नाटक के ग्रध्ययन के प्रसग मे किया गया है कि कैसे नाटक ग्रभिनेता द्वारा, उसकी कल्पना-मूलक सर्जनात्मक प्रतिभा के माध्यम से, ग्रपने ग्रभिप्रेत दर्शक-वर्ग तक पहुँचता है, ग्रौर इस कार्य मे ग्रभिनेता की ग्रोर भी

अनेक सर्जनशील कर्मी और शिल्पी सहायता करते हैं, नाटक थोड़े-से निश्चित समय में एक सामूहिक दर्शक-वर्ग को सम्प्रेषित होता है, और इस प्रकार नाटक में नाटककार के अतिरिक्त अभिनेता, निर्देशक, रंगशिल्पी तथा समूह रूप में उपस्थित दर्शक-वर्ग आदि ऐसे तत्त्व मौजूद हैं जो अन्य किसी कला रूप में नहीं होते। इसीलिए नाटक का सही मूल्यांकन इतने सब तत्त्वों की एक साथ परीक्षा किये बिना संभव नहीं। केवल लिखित नाटक की जाँच-पड़ताल कम से कम उतनी एकांगी तो है ही जितनी नाट्य प्रदर्शन में निरे अभिनय की चर्चा। किन्तु वास्तव में देखा जाय तो नाटक के रूप को उसके साहित्येतर आयामों के परिप्रेक्ष्य के बिना ठीक से समझा ही नहीं जा सकता। इस बात पर और भी विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

स्थूल रूप से नाटक कविता या उपन्यास से इस बात में भिन्न होता है कि वह केवल पाठ्य या वाच्य संवादों में लिखा होता है। पर नाटक के स्थूल बाह्य रूप की यह विशेषता भी सीधे-सीधे उसके रंगमंचीय पक्ष से, अभिनेता और उसके सामने उपस्थित दर्शक-वर्ग से, जुड़ी हुई है। नाटक संवादात्मक इसीलिए होता है कि वह अभिनेताओं के लिए लिखा जाता है, और वे ही उसे मंच पर बोल कर, अभिनय करके, दर्शक-वर्ग तक पहुँचाते हैं। नाटककार उस तरह सीधे दर्शक वर्ग तक नहीं पहुँचता जैसे कवि या उपन्यासकार अपने पाठक-वर्ग तक पहुँच जाता है। नाटककार को यह कार्य अपने पात्रों, अर्थात् अभिनेताओं के, माध्यम से ही करना होता है, और यह शर्त नाटककार की अभिव्यक्ति को मूलभूत रूप में नियंत्रित करती है। केवल वे ही शब्द या संवाद जो किसी ऐसी अनुभूति भाव या स्थिति को अभिव्यक्त करते हैं जो अभिनेता द्वारा उसकी सर्जनात्मक प्रक्रिया से मंच पर रूपायित और मूर्त हो सकें, नाटक बनते हैं या बन सकते हैं। अभिनेता नाटक का एक मात्र और मूल माध्यम नहीं तो सर्वप्रमुख और भाषा के साथ-साथ समानधर्मी तो है ही। वास्तव में सजीव व सक्रिय माध्यम होने के कारण अभिनेता ही नाटक का प्रधान वाहक है, क्योंकि अंतत वही नाटककार की मूल अनुभूति को न केवल फिर एक बार उसकी समस्त व्यक्त-अव्यक्त संभावनाओं में रूपायित करता है, बल्कि अपनी विशिष्ट सर्जनात्मकता का एक और महत्त्वपूर्ण आयाम उसमें जोड़ता है।

नाटक दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति माध्यमों से—भाषा से और अभिनेता से—एक साथ जुड़े होने के कारण दो विभिन्न स्तरों पर प्रभावशील होता है। भाषा किसी जाति या मानव समुदाय की आत्माभिव्यक्ति और परस्पर अनुभव संप्रेषण का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है, जिसमें उस समुदाय की असंख्य पीढ़ियों की अनुभव-सम्पत्ति, उसकी समूची परंपरा, संचित होती है। वह ऐसा साधन है जिसकी काल में निरंतरता है। दूसरी ओर, अभिनेता

का कार्य प्रधानतः व्यक्तिगत, काल के एक बिंदु विशेष में सीमित, होता है। भाषा का माध्यम जितना व्यापक, बहुमुखी और परंपरा-संबद्ध है, माध्यम रूप में अभिनेता उतना ही अधिक मात्र व्यक्ति, एकांतिक और क्षणजीवी है। इन दोनों प्रकार के माध्यमों को एक साथ साधने के कारण ही नाटक एक विशेष प्रकार के संतुलन की भी माँग करता है और साथ ही नितांत भाषामूलक साहित्य रूपों से कहीं अधिक तीव्र, जटिल और व्यापक है। नाटक की निरी साहित्य-मूलक व्याख्या इसीलिए इतनी अपर्याप्त और अधूरी होती है। वास्तव में अभिनेता की सर्जनशीलता के रहस्य को समझे बिना, उसके विभिन्न साधनों और उपायों को, अभिनय की विभिन्न पद्धतियों और रूढ़ियों को समझे बिना, नाटक की कोई समीक्षा यथार्थ और संपूर्ण नहीं हो सकती। नाटक का अध्ययन और मूल्यांकन जितना भाषा की शक्ति और व्यंजना-क्षमता का अध्ययन और मूल्यांकन है, उतना ही नाटक में निहित अभिनय की पद्धतियों और शिल्प का, उसकी संभावनाओं और शक्ति का भी। संस्कृत नाटक या शेक्सपियर के नाटक इस सत्य के बड़े अच्छे उदाहरण हैं। अभिनय और अभिनेता के कार्य की आवश्यकताओं से परिचित हुए बिना इन नाटकों के बहुत-से पक्ष एकदम समझ में नहीं आते। जो विशुद्ध पाठक है उनमें से बहुतों को तो उनकी बहुत सी बातें अनावश्यक और अनर्गल तक लगती हैं। वास्तव में नाटक एक ऐसा मौलिक और विशिष्ट कला रूप है जो अन्य कई कलाओं के विभिन्न तत्त्वों से मिलकर बना है—विभिन्न कला रूपों के तत्त्वों का जोड़ मात्र नहीं, बल्कि एक मौलिक स्वतंत्र रूप। इसलिए उसके किसी एक ही पक्ष पर एकांगी आग्रह से कभी सही निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता। जब तक हम उसके समग्र स्वरूप को समझकर उसके अपने विशिष्ट मानदंड नहीं खोजेंगे तब तक हम नाटक का कभी ठीक मूल्यांकन न कर सकेंगे।

यही कारण है कि नाटक को निरा साहित्य मानना जितना भ्रामक सिद्ध होता है उतना ही उसे निरा रंगमंच मानना भी। क्या रंगमंच पर सफलता ही नाटक की एकमात्र कसौटी हो सकती है? क्या अभिनेता की प्रतिक्रिया या उसकी संप्रेषण क्षमता ही उसका मानदंड बन सकती है? इसी प्रकार रंगमंच की रूढ़ियों और व्यवहारों के आधार पर हम नाटक के रूपबंध की बाहरी आकृति को ही समझ सकते हैं। किसी भी युग के रंगमंच की रूढ़ियों और व्यवहारों से जितना किसी श्रेष्ठ नाटक का रूपबंध नियमित होता है उतना ही घटिया नाटक का भी। नाट्यसृष्टि की मौलिक शक्ति का, उसकी सर्जनात्मक उपलब्धि का, मूल्यांकन केवल रंगमंच की रूढ़ियों और व्यवहारों के आधार पर नहीं हो सकता। अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में योरप में स्क्राइब, सार्दू आदि नाटककारों के सुगठित नाटक इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। अथवा भारत में ही पारसी

रगमच के अथवा उसी शैली के प्रभाव म लिखे गये अन्य नाटक यद्यपि अभिनेता के लिए बडे अच्छे 'पार्ट' प्रस्तुत करते थे, और उनमे से कुछ के रूपबध से रग-मच की भी पर्याप्त जानकारी मिलती है, फिर भी वे मूलत श्रेष्ठ नाटक नही है। निरी अभिनेयता का दावा, रगमचीय सफलता का आग्रह, नाटक को किसी सार्थकता की ओर नही ले जाता। ऐसा नाटक भले ही थोडा-बहुत मनोरजन करे, अथवा किसी विशेष विचारधारा, सिद्धात या आदर्श का प्रचार कर दे, वह किसी कलात्मक उपलब्धि का साधन नही हो सकता।

इसलिए नाटक का मूल्याकन साहित्यिकता और अभिनेयता और मचोप-युक्तता के अलग अलग खानो मे बाँटकर सभव नही। नाटक श्रेष्ठ तभी हो सकता है जब वह, अन्य कलात्मक-सर्जनात्मक अभिव्यक्तियो की भाँति, किसी न किसी तीव्र और गहरी और महत्त्वपूर्ण अनुभूति, भाव, विचार, जीवन-दृष्टि या परिस्थिति को प्रस्तुत करता हो। यदि वह कोई सार्थक, विशेष और मूलभूत बात नही कहता है तो वह चाहे जितना अभिनेय या 'साहित्यिक' हो, उसका कोई कलात्मक महत्त्व नही। इस मूलभूत विशेषता मे नाटक साहित्य ही नही अन्य सभी कला रूपो के समान है। पर एक और अर्थ मे भी नाटक साहित्य के बहुत समीप है। और वह यह कि नाटक का एक मूलभूत तत्त्व काव्य भी है। वह काव्य का ही एक प्रकार है। श्रेष्ठ नाटक कविता के समान ही भाषा की व्यजना शक्ति का, बिम्बमयता का, सघनता और तीव्रता का, सगीत और लय का, शब्द और अभिव्यक्ति की अनिवार्यता का, उपयोग करता है। किसी न किसी रूप मे और मात्रा म इन तत्त्वो के बिना श्रेष्ठ नाटक हो ही नही सकता। यही कारण है कि ससार के श्रेष्ठ नाटक साहित्य के इतिहास मे काव्य के अन्तर्गत गिने जाते रहे हैं। किन्तु नाटक केवल भाषा द्वारा अभिव्यक्त काव्य पर समाप्त नही हो जाता। वह निरा काव्य नही, दृश्यकाव्य है उसमे कार्य-व्यापार का काव्य, भावो का काव्य, गति का काव्य भी निहित होता है जो अभिनेता के माध्यम से उजागर होता है। नाटक की समीक्षा अनिवार्यत काव्य के इन दोनो आयामो के उद्घाटन और मूल्याकन की माँग करती है।

इसीलिए नाट्य समीक्षक वही हो सकता है जो इन दोनो स्तरो के काव्य के प्रति सवेदनशील हो। नाट्यानुभूति एक विशेष प्रकार की अनुभूति है। जो उसे ग्रहण कर सकता है वही नाटक का समीक्षक हो सकता है। यह अनिवार्य नही है कि प्रत्येक सुधी काव्य समीक्षक सवेदनशील सगीत समीक्षक, नृत्य समीक्षक, अथवा चित्रकला समीक्षक भी हो ही। उसी प्रकार उसका नाट्य समीक्षक होना भी अनिवार्य नही है। इसलिए प्रश्न 'तक्नीकी माहिर' होने या न होने का नही, बल्कि नाटक के बहु-स्तरीय माध्यम के प्रति विशिष्ट बोध का, सवेदनशीलता का है। जहाँ तक विशेषज्ञता का प्रश्न है वह नाटक की समीक्षा मे भी

उतनी ही आवश्यक या अनावश्यक है जितनी चित्रकला की, संगीत की अथवा काव्य की समीक्षा में। कला रूप में नाटक की अपनी विशिष्ट माध्यमगत परपराएँ है, मान्यताएँ हैं, रूढिया है, इतिहास है, जिनसे न्यूनाधिक परिचय बिना समीक्षक बहुत समझ की या गहरी बात नही कह सकेगा।

आधुनिक भारतीय नाटक के अपर्याप्त और असमान विकास के अतिरिक्त, नाटक समीक्षा की इस विशिष्ट आवश्यकता के विषय म स्पष्टता के अभाव मे, यह कोई आश्चर्य की बात नही कि भारतीय भाषाओ मे आधुनिक नाट्यालोचन की इतनी कमी है और भारतीय नाटक और रगमच के सबध मे चितन-आलोचन-लेखन हर स्तर पर अपर्याप्त और प्रारम्भिक प्रकार का ही है। अधिकाश भारतीय भाषाओ मे 'नाट्यशास्त्र' या 'दशरूपक' आदि कुछेक प्राचीन सस्कृत ग्रथो की टीकाओ के अतिरिक्त नाटक या रगमच सबधी पुस्तकें नही के बराबर हैं। बँगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओ म कुछेक नाटककारो या अभिनेताओ की जीवनियाँ या आत्मकथाएँ तो मौजूद हैं, पर आधुनिक रगमच, अभिनय, नाटक को लेकर बहुत ही कम सामग्री पुस्तकाकार प्रकाशित हुई हैं। पिछले दिनो, कुछ विश्वविद्यालयो मे नाटक और रगमच सबधी प्रशिक्षण प्रारभ होने के बाद स कुछेक पाठ्य पुस्तकें कुछ विदेशी ग्रथो के आधार पर अवश्य लिखी गयी हैं पर वे आज के भारतीय नाटक और रगमच के सबध मे कोई उल्लेखनीय मौलिक चितन प्रस्तुत नही करती। लगभग सभी भाषाओ मे नाटको के ऊपर, विशेषकर प्रमुख नाटककारो के ऊपर, विशुद्ध साहित्यिक ढग की, अध्यापकीय कोटि की समीक्षा पुस्तकें हैं। पर वे अधिकाशत, नाटक को रगमच से सबद्ध एक जटिल सश्लिष्ट विधा मानने के बजाय, या तो सवादात्मक कथाओ के रूप मे उनका विवेचन करती हैं, या पाश्चात्य अथवा प्राचीन भारतीय समीक्षा दृष्टि से उनके गुण-दोष गिनाती रहती हैं, उनका विभिन्न प्रकार से वर्गीकरण करती रहती हैं, अथवा उन्हे किन्ही सामाजिक उद्देश्यो से जोडती रहती हैं। कुल मिलाकर एक अनन्य कलात्मक अभिव्यक्ति विधा मे रूप मे नाटक के स्वरूप का, उसकी प्रकृति तथा पद्धतियो का, विश्लेषण नही हो सका है। इसी प्रकार उसके विभिन्न अगो का स्वतत्र प्राविधिक अथवा ऐतिहासिक, अथवा उनके पारस्परिक सबधो का, विवेचन भी सभव नही हुआ है। फलस्वरूप मूल्याकन और समीक्षा की कसौटियो का आधार और रूप भी स्पष्ट नही है, अथवा अत्यत ही सकुचित, एकागी और अपर्याप्त, बल्कि प्राय अप्रासगिक है। नाटक और रगमच के क्षेत्र म जो थोडा-बहुत तथाकथित शोधकार्य हुआ है वह यात्रिक वर्गीकरण प्रधान है, उसके तथ्य अधूरे और असबद्ध हैं, और मूल प्रशिक्षित नाट्य दृष्टि के अभाव म उनका सयोजन बहुत सार्थक नही हो सका है। बल्कि परपरागत तथा पिछले डेढ सौ वर्ष के आधुनिक रगमच और नाटको के सबध मे

तथ्य भी बहुत कम, बिखरे-बिखरे और अपर्याप्त होने के कारण, उनके आधार पर कोई सामान्य निष्कर्ष निकालना या समकालीन कार्य का किसी परिप्रेक्ष्य मे मूल्याकन कर सकना प्राय असभव हो जाता है।

बुनियादी और प्रारम्भिक सामग्री और पृष्ठभूमि के इस अभाव के कारण पत्र-पत्रिकाओ के स्तर पर जो थोडा-बहुत नाट्य समीक्षा का कार्य पिछले दिनो होने लगा है वह अधिकाश इसी से छिछला, थोथा और असतोषजनक होता है। पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित इस एक सामग्री को भी दो श्रेणियो मे रखा जा सकता है अग्रेजी म और भारतीय भाषाओ मे। यह भी एक प्रकार की विडबना ही है कि कुछ ही दिनो पहले तक अधिकाश नाट्य-समीक्षा अग्रेजी पत्र-पत्रिकाओ तक ही सीमित थी, भारतीय भाषाओ के बहुत कम ही पत्र अपने-अपने नगरो मे होने वाले नाट्य प्रदर्शनो की कोई सूचना या समीक्षा प्रकाशित करते थे। देश स्वाधीन होने के बाद भारतीय रगमच मे जो सक्रियता बढी वह कई क्षेत्रो मे प्रारभ मे अग्रेजी नाटको से प्रारभ हुई—अग्रेजी-पसद उच्च वर्गों के लोगो की गतिविधि के रूप मे। अग्रेजी-पत्र-पत्रिकाओ मे उसकी ओर ध्यान दिया जाना सहज और स्वाभाविक ही था। बाद मे जैसे-जैसे इस नव-जागरण ने भारतीय भाषाओं को भी व्यापक रूप मे प्रभावित किया और भारतीय नाटको के प्रदर्शनो की सख्या और उनके स्तर मे वृद्धि हुई, वैसे ही वैसे इन नाटको की चर्चा भी अग्रेजी पत्रो मे होने लगी—कुछ इस कारण भी कि बहुत बार भारतीय भाषाओ मे नाटक करने वाले लोग भी ऊपरी वर्गों के, या प्राय वही, लोग होते थे जो अग्रेजी नाटक खेलते थे। पर अग्रेजी पत्रो मे प्रकाशित समीक्षा भारतीय नाटक और रगमच के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध नहीं हुई, उससे प्रचार चाहे जितना हुआ हो। अग्रेजी पत्रो मे प्रारम्भ से ही भारतीय नाटको को अग्रेजी नाटको की तुलना मे, एक प्रकार के उच्चता और श्रेष्ठता के भाव से उन्हे कुछ घटिया मानकर, देखा जाता रहा है। पर अग्रेजी नाटको की भाववस्तु, रूपबध, शिल्पविधान के परिप्रेक्ष्य मे भारतीय नाटको को निरतर बैठाने रहने के प्रयास मे, न तो अपने आप मे उनका समुचित मूल्याकन हो सकता था, और न आधुनिक भारतीय रगमच के अपने विशिष्ट रूपो, समस्याओ और परिप्रेक्ष्यो की तलाश मे कोई सहायता मिल सकती थी।

आधुनिक भारतीय नाटक और रगमच उन्नीसवी शताब्दी मे पश्चिमी रगमच के परिचय से प्रेरणा पाकर गतिशील होने पर भी, कई प्रकार से अपनी नयी दिशाएँ ग्रहण करता रहा, इस देश के परपरागत, सस्कृत और लोक नाट्य रूपो के कई पक्षो, मान्यताओ, रूढियो, व्यवहारो से प्रभावित होता रहा। स्वाधीन भारत मे जब महत्वपूर्ण कलात्मक अभिव्यक्ति विधा के रूप मे रगमच पर नये सिरे से ध्यान केन्द्रित हुआ, तब उसके इस अपने विशिष्ट भारतीय रूप

की खोज पर बल दिया जाना बहुत ही आवश्यक था। तब उसका विकास चाहे जितना उलझा हुआ और पीडाभरा होने पर भी अधिक सार्थक दिशाएँ ग्रहण करता। अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित होने वाली समीक्षाओ ने न केवल नाटको और प्रदर्शनो को अधिकाधिक पश्चिमोन्मुख करने मे योग दिया, बल्कि दर्शक-वर्ग की अपेक्षाओ और रुचियो को भी ऐसी दिशा मे मोडा जिस पर चल कर भारतीय रगमच को अपनी पहचान मे अथवा अपने निजी व्यक्तित्व की तलाश करने मे बहुत सहायता नही मिल सकती थी। अंग्रेजी में लिखनेवाले अधिकाश समीक्षको के पास भारतीय रगमच ही नही, रगमच मात्र के लिए कोई सुचिंतित दृष्टि नही थी, और बहुत हद तक आज भी स्थिति वही है। अधिकाश अंग्रेजी समीक्षक प्राय कोई भारतीय भाषा ठीक से नही जानते या जानते भी हो तो उसमे कुछ पढते नही। किसी भारतीय भाषा के साहित्य, काव्य और विशेषकर नाट्य साहित्य से उनका प्राय आतरिक लगाव नही होता और उनके भावबोध या सवेदनशीलता का पोषण प्राय पाश्चात्य साहित्य और विचारो से हुआ होता है। इसलिए भारतीय नाटको की उनकी समीक्षा बडी श्रेष्ठता-भाव से आक्रात, सतही, और अवास्तव होती है। भारतीय नाटक और रगमच को कोई दिशा या दृष्टि देना उस समीक्षा के लिए प्राय सभव नही होता। उनकी समीक्षा मे भारतीय सर्जनशील मानस और उसकी उलझनो से कोई साक्षात्कार नही, केवल फैशनेबल तथा चालू विचारो और शब्दावली के घटाटोप द्वारा आधुनिकता का आभास मात्र रहता है। फलत सर्वथा मिथ्या और अवास्तव मानो और मूल्यो को प्रश्रय मिलता है और रुचि तथा मूल्याकन दोनों ही स्तरो पर अस्पष्टता, दिशाहीनता और अयथार्थता मे वृद्धि होती है।

इस स्थिति का एक और भी कारण है। हमारे देश मे पत्र-पत्रिकाओ मे लिखने वाले बहुत कम रग समीक्षक ही वास्तव मे किसी भी स्तर पर उसके लिए प्रशिक्षित होते हैं। उनमे भाषा का ही अज्ञान नही, रगशिल्प और अभिनय कला की बुनियादी जानकारी का भी प्राय अभाव होता है। पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित अधिकाश समीक्षाएँ सहज बुद्धि से, मोटी-मोटी ऊपरी सतही बातो को ध्यान मे रखकर, दर्शको की प्रतिक्रियाओ के आधार पर, लिखी जाती हैं। अधिकाश मे नाटक का साराश देने के बाद इस या उस अभिनेता की भूमिका के अच्छी या बुरी होने, तथा दृश्यबध, वेशभूषा और प्रकाश योजना के प्रभावी या अप्रभावी होने, की चर्चा मात्र रहती है। किन्तु अभिनय तो एक स्वतत्र अभिव्यक्ति माध्यम है जिसके अपने अग हैं, रूप हैं, नियम हैं, और सभावनाएँ तथा सीमाएँ हैं। किन साधनो, युक्तियो, रूढ़ियो और व्यवहारो के कैसे उपयोग से अभिनेता नाटक के कथ्य को, उसको वहन करनेवाले पात्रो के जीवत व्यक्तित्व को, मूर्त करता है, यह जाने और सूक्ष्मतापूर्वक समझे बिना किसी प्रदर्शन की

वास्तविक समीक्षा या मूल्यांकन संभव नहीं। अभिनय में पद्धतियों, तकनीकों और शैलियों के कारण जो अंतर आता है, चरित्र की अभिव्यक्ति में उसके रूपायन में जो बल की भिन्नता उत्पन्न होती है, उस सबके प्रति सजग हुए बिना कोई सार्थक नाट्यसमीक्षा नहीं हो सकती। इसके लिए अभिनय के शिल्प का ही नहीं, उसकी विभिन्न परम्पराओं का, शैलियों और पद्धतियों का ज्ञान, या कम से कम परिचय, आवश्यक है। किन्तु पत्र-पत्रिकाओं में अधिकांश समीक्षाओं में इस पृष्ठभूमि का सर्वथा अभाव रहता है। इसलिए नाटक के सारांश और उस पर टिप्पणी के अतिरिक्त, प्रदर्शन संबंधी सामान्य मोटी बातों के अतिरिक्त, ये समीक्षाएँ नाट्यानुभूति और उसकी अभिव्यक्ति के मूल्यांकन के कोई नये आयाम नहीं उजागर करतीं। इस प्रकार देश की सामान्य सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, नाट्य परंपरा और नाट्य कलाओं के परिचय के अभाव में, हमारे देश में अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं की नाट्य समीक्षा न केवल अयथार्थ रंगमंचीय मूल्यों पर बल देती रहती है, बल्कि अक्सर वह मंडलियों, निर्देशकों और अभिनेताओं को उठाने-गिराने का साधन बन जाती है। अधिकांशतः आज की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित नाट्य समीक्षा किसी कलात्मक दृष्टि या आग्रह को नहीं, व्यक्तिगत पक्षपात या पूर्वग्रहों को प्रस्तुत करती है और रंगमंच तथा नाटक को और भी दिशाहीन बनाने में योग देती है।

हमारे देश में अंग्रेजी और अंग्रेजी-भक्ति का जो बोलबाला है उसे देखते हुए, अंग्रेजी पत्रों में प्रकाशित नाट्य समीक्षा की इस स्थिति का क्रमशः भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होने वाली समीक्षा पर भी अनिवार्य प्रभाव पड़ा---बल्कि वह तो अपनी विशेष परिस्थितियों के कारण कुछ अन्य सीमाओं में भी आबद्ध हुई। जैसे, हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में नाटक-रंगमंच संबंधी चर्चा पिछले कुछेक वर्षों में ही होने लगी है, जिसका एक प्रकार से प्रारम्भ 'कल्पना' और 'धर्मयुग' ने किया। उसके पहले रंगमंच से संबद्ध लोगों के कुछेक इक्का-दुक्का लेख ही इधर-उधर पत्रिकाओं में छपे थे। किन्तु इन पत्रिकाओं ने विभिन्न प्रदर्शनों की ओर उनके संदर्भ में नाटकों की समीक्षाएँ प्रस्तुत कीं। हिन्दी की नाट्य समीक्षा के लिए यह नया प्रारम्भ था, जब नाटक को उसके सही संदर्भ और परिप्रेक्ष्य में देखना-परखना शुरू हुआ, नाट्य समीक्षा के नये मानों और आधारों की धुंधली सी रूपरेखा प्रकट होनी शुरू हुई। किन्तु यह प्रारम्भ अपने प्रभाव में बहुत ही सीमित रहा है। इसलिए यह प्रक्रिया कुछ विशेष आगे नहीं बढ़ी क्योंकि नाटक के नये समीक्षक उभर कर सामने नहीं आये। क्रमशः विभिन्न रंगमंडलियों के सदस्य ही प्रदर्शनों की समीक्षा लिखने लगे जिसके फलस्वरूप या तो निरी आत्मप्रशंसा हुई या फिर अन्य मंडलियों को गिराने की कोशिश। आत्मप्रशंसा का एक अत्यन्त ही निम्नस्तरीय भ्रष्ट-फूहड़ रूप हाल में देखने को

मिला जब एक नाटककार-निर्देशक महोदय ने अपने प्रदर्शन की प्रशसा एक दैनिक पत्र के अपने ही रगमचीय स्तभ मे स्वय लिखकर छापी। दिल्ली के ही पिछले दो साल से प्रकाशित होने वाले एक अन्य साप्ताहिक 'दिनमान' मे भी नियमित रूप से नाटको की समीक्षा निकलती है, पर उसके समीक्षक भी लेखक साहित्यिक अधिक होते हैं, गहराई से रगमचीय कार्य-कलाप मे डूबे हुए समझदार व्यक्ति नही। इसलिए उसमे प्रकाशित अधिकाश रग समीक्षा या तो अशिक्षित और अप्रासगिक होती है, या कभी-कभी किसी मडली के प्रति समीक्षक का पक्षपात या पूर्वग्रह होने पर, प्रशसापूर्ण अथवा निंदात्मक। हिन्दी नाटक की स्वस्थ, विवेकपूर्ण, समीक्षा के कोई आधार निर्मित करने की दिशा मे उससे कोई सहायता नही मिली है। देश की अन्य भाषाओ मे स्थिति इससे कुछ विशेष अच्छी नही है, उन्नीस-बीस का ही फर्क हो तो हो।

नाट्य समीक्षा की स्थिति की यह चर्चा कुछेक नाटक-रगमच सबधी पत्रिकाओ के उल्लेख के बिना अधूरी रहेगी। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से, और उससे भी पहले युद्ध के दिनो से नाट्य सघ के आन्दोलन के फलस्वरूप, अ ग्रेजी तथा देश की अन्य विभिन्न भाषाओ मे रगमच और नाटक सबधी कई पत्र-पत्रिकाएँ निकालने के प्रयास हुए हैं। इन प्रारभिक पत्रिकाओ मे ही जन नाट्य सघ का 'यूनिटी' (अग्रेजी), 'अभिनय' (हिन्दी), मराठी मासिक 'नाटक', इब्राहिम अल्काजी का 'थिएटर बुलेटिन', (अग्रेजी), 'सूत्रधार' (हिन्दी), 'नटराज (हिन्दी) अलग-अलग समय तक निकले और बद हुए। अभी हाल ही मे गुजराती मे 'नाटक' त्रैमासिक और हिंदी म 'नटरग' त्रैमासिक निकले और कुछेक अ क निकलने के बाद बद हो गये। बँगला मे 'बहुरूपी' (चतुर्मासिक) पिछले बारह-पद्रह वर्षों से निकलता है। एक अन्य त्रैमासिक 'गधर्व' और हाल ही मे प्रारभ एक पाक्षिक 'थियेटर' भी निकल रहे हैं। अग्रेजी मे भारतीय नाट्य सघ द्वारा 'नाट्य त्रैमासिक' भी पिछले बारह-पन्द्रह वर्ष से निकल रहा है, और हाल ही म 'एनैक्ट' नाम से एक मासिक का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ है।

निस्सदेह, इन सबसे नाटक और रगमच के अनिवार्य सबध के आधार पर नाट्य समीक्षा के सिद्धातो और व्यवहार का स्वरूप स्पष्ट होने म सहायता मिलती है, और मिली है। देश विदेश के बहुत-से नाटको और उनके प्रदर्शनो की समीक्षाओ के द्वारा भारतीय रगमच की बुनियादी समस्याओ पर भी ध्यान अधिक केन्द्रित हो सका है, कम से कम उन समस्याओ के बारे मे चेतना बढी है, और उनको यथासभव सही और सार्थक परिप्रेक्ष्य मे प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ है। सबसे बडी बात यह है कि इन पत्रिकाओ से नाटक के एक ओर साहित्य और दूसरी ओर मनोरजन के अन्य साधनो का पुछल्ला बने रहने की स्थिति से छुटकारा पाने के प्रयासों को बल मिला है पर कुल मिलाकर उनमे

भी या तो अंग्रेजी-भाषियों, अंग्रेजी लेखकों, अंग्रेजी-भक्तों का ही बोलवाला रहा है, और भारतीय नाटकों और रंगमंच पर, उनके आधारभूत सिद्धांतों और व्यवहार की कसौटियों पर, भारतीय नाटक और रंगमंच की दीर्घकालीन और देशव्यापी परंपरा और उसकी विविधता पर, जितना आवश्यक है उतना ध्यान नहीं दिया जा सका है। विदेशी नाटकों, विदेशी निर्देशकों, अभिनेताओं, विचारकों की चर्चा अधिक हुई, भारतीय रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में उनकी सार्थकता व्यावहारिक उपादेयता और अंतत उनके जीवंत सर्जनात्मक अनुभव से लाभ उठाकर भारतीय रंगमंच की अपनी आत्मा की तलाश का काम बहुत कम हो सका।

संभवत नाट्यालोचन तथा नाटक और रंगमंच संबंधी सामान्य चिंतन के विषय में हमारी यह स्थिति अनिवार्य है, क्योंकि हमारा नाटक और रंगमंच ही अभी तक इतना विपन्न है और इतनी अनिश्चित और आकारहीन स्थिति में है। यह निर्विवाद है कि एक हद तक समृद्ध, विकसित और जीवंत रंगमंचीय कार्यकलाप के बिना उसके संबंध में चिंतन भी बहुत समर्थ और सार्थक नहीं हो सकता। किन्तु हमारा नाटक और रंगमंच जिन परिस्थितियों में विकास कर रहा है उनमें नाट्यालोचन और रंगमंच संबंधी चिंतन में स्पष्टता, प्रखरता और सिद्धांतपरकता के बिना यह विकास न तो बहुत दूर तक हो सकता है और न सही दिशा में संभव है। जिम्मेदार, सुलझी हुई, सुस्पष्ट, निर्भीक आलोचना ही हमारे रंगमंच की आत्मघाती प्रवृत्तियों को रोक सकती है, उनकी ओर से हमें सावधान कर सकती है, और व्यवहार की ऐसी परंपराएँ डाल सकती है जिसके बिना रंगमंच-जैसा सामूहिक कला कार्य कभी ठीक से नहीं चल सकता। नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में आलोचना-समीक्षा एक से अधिक स्तरों पर आवश्यक, अनिवार्य और उपयोगी कार्य है। भारतीय रंगमंच जिस हद तक इस संबंध में अपने आप को जागरूक ना सकेगा उसी हद तक वह अपनी प्रगति के पथ पर अधिक आत्मविश्वास के साथ अग्रसर हो सकेगा।

राज्याश्रय, व्यावसायिकता और लोकप्रियता

अपने रगमच के विभिन्न पक्षो, रूपो और अगो तथा उनकी कुछ मूलभूत समस्याओ के इस विवेचन के बाद सभवत अब हम इस स्थिति मे है कि उसकी कलात्मक-सर्जनात्मक सार्थकता के मार्ग की कुछ विशिष्ट उलझनो से भी साक्षात्कार करे। एक प्रकार से यह भारतीय रगमच के आत्म-साक्षात्कार, आत्मपरिचय की प्रक्रिया का ही प्रारभ है जिसका कुछ अन्वेषण इस पुस्तक के अगले और अतिम अध्याय मे किया जायगा। निस्सदेह इन उलझनो से पूर्ववर्ती विवेचन मे भी स्थान-स्थान पर सदर्भ विशेष में कुछ न कुछ सामना होता ही रहा है, यहाँ केवल उनके कुछ अधिक तीव्र और स्पष्ट रूपो का विश्लेषण ही अभीष्ट है।

यदि हम अपने रगमच के पिछले पद्रह-बीस बरस के विकास तथा उसकी वर्तमान अवस्था पर दृष्टि डाल तो एक बडी ही अजीब-सी स्थिति दिखाई पडती है। एक ओर तो पूरे देश मे रगमच के प्रति दिनोदिन बढती अभिरुचि और इतनी सक्रियता है कि इसे नवजागरण का दौर मानना भी अनुचित न होगा। दूसरी ओर, हमे ऐसे बहुत-से प्रयत्नो म प्राय वास्तविक कलात्मक मूल्यो की अवहेलना, उद्देश्य तथा कर्म दोना म ईमानदारी का अभाव, और परम्परा तथा सुरुचि के प्रति आदर की कमी, का भी अनुभव होता है, जो साधारणत सास्कृतिक ह्रास के युग म ही सभव है। ऐसा निरतर लगता है कि हमारे सास्कृतिक प्रयास जैसे सफलता और उपलब्धि के द्वार तक ही पहुँचकर रह जाते हैं। वे ऐसी क्षुद्रता से आक्रात हैं जिससे न केवल उनम लग हुए सर्जनशील कर्मियो की आत्मा का बौनापन प्रकट होता है, बल्कि जो प्राय दर्शको के मानस क्षितिज को भी सकुचित और विकृत करता जान पडता है। हमारा समस्त सास्कृतिक कार्यकलाप केवल विस्तार की ओर बढता है, गहराई और ऊँचाई की ओर नही। इसीलिए कला और सस्कृति के नये मूल्यो का परिष्कार, और अतत कोई नव निर्माण, होता नही दीखता।

यह सही है कि बहुत बार सक्राति के युग म, विशेषकर जब अचानक ही किसी देश और समाज के विस्तृत जनसमूह किसी नवीन आन्दोलन के ज्वार म खिच आय, तो प्रगति सीधी रेखा म, एक ही स्तर पर, विस्तार के रूप मे ही,

होती है, उसमे अपने ही विभिन्न स्तरो को लाँघ जाने योग्य तीव्रता अथवा सघनता नही होती। किन्तु थोडी-सी सूक्ष्मता से सोचने पर भी यह बात स्पष्ट हो जायगी कि इस परिस्थिति के अतिरिक्त कुछ और भी सक्रिय तत्त्व हमारे आज के सास्कृतिक कार्य-कलाप की परिस्थिति मे वर्तमान है। हमारा यह नया सास्कृतिक जागरण, हमारे देश की विशेष और अनोखी ऐतिहासिक परिस्थितियो के कारण, बहुत ही तीखी व्यावसायिकता के ऐसे युग मे हो रहा है, जब प्रत्येक मानवीय क्रिया और सृष्टि को पण्य बनाने की प्रवृत्ति तीव्रतम रूप ले चुकी है, जब किसी भी मानवीय प्रयत्न का अपने आप मे कोई मूल्य नही, किसी अवान्तर लाभ या उपयोगिता के साधन के रूप मे उसका महत्त्व अधिक है, जब वह किसी अन्य साध्य या साध्यो का साधन भर रह गया है। जीवन की अन्य समस्त नैतिक, आत्मिक और भौतिक सम्पदा की भाँति, बल्कि कई दृष्टियो से उनसे भी कही अधिक, कला और सस्कृति भी आज मूलत पण्य बन गयी है, और किसी न किसी प्रकार के व्यवसायी के चगुल मे फँसी हुई हैं। और एक प्रकार की हिसाबी बुद्धि, सकुचित व्यावसायिकता, उनको अधिकाधिक जकडती जाती है, यहाँ तक कि उपयोगिता अथवा सफलता अथवा लोकप्रियता को ही पूरे कार्यकलाप का बुनियादी मूल्य समझा जाने लगता है।

यह व्यावसायिकता केवल भौतिक पदार्थों के खरीदने-बेचने तथा आर्थिक दृष्टि से मूल्यो के विनिमय की क्रिया-मात्र का नाम नही है। वह तो शुद्ध व्यवसाय ही है। व्यावसायिकता वास्तव मे जीवन के प्रति उस दृष्टिकोण मे निहित है, जो प्रत्येक वस्तु के विनिमय-मूल्य पर सबसे अधिक बल देता है। एक बार यह दृष्टिकोण ग्रहण कर लेने पर महत्त्व इस बात का नही रहता कि बदले म मिलने वाली वस्तु क्या है—वह धन भी हो सकता है, लोकप्रियता और ख्याति भी, व्यक्तिगत प्रभुता, सामाजिक प्रतिष्ठा अथवा राजनैतिक सत्ता भी। वास्तव मे जैसे ही व्यवसाय-बुद्धि वाले व्यक्तियो को यह पता चलता है कि साहित्य, कला, रगमच न केवल अत्यधिक लाभदायक पण्य हैं, बल्कि वे शक्ति और सत्ता तक पहुँचने के भी महत्त्वपूर्ण साधन हैं, वैसे ही कला और सस्कृति को हथियाने के लिए ठीक उसी तरह की होड लग जाती है, जैसे किसी सोने की खान के अचानक पता लगते ही मचती होगी। और तब सस्कृति अथवा कला सर्वश्रेष्ठ तथा अद्वितीय मानवीय क्रियाएँ नहीं रहती, बल्कि लोगो के लिए समाज मे ऊपर उठने की सीढियाँ तथा राजनीतिक स्वार्थ-साधन के अस्त्र बन जाती हैं। ऐसी स्थिति मे सास्कृतिक मूल्य विकृत होने लगते हैं, और ऊपर से साहित्य, सगीत, कला, नाटक आदि के उत्पादन मे अत्यधिक वृद्धि दिखाई पडने पर भी, और दिनोदिन अधिकाधिक लोगो के इन कार्यों के प्रति आकर्षित होने पर भी, कुल मिलाकर कला के मान निम्नतर होते जाते हैं, रुचियाँ भ्रष्टतर होती हैं, और सर्जनात्मकता

नष्ट होकर संस्कृति का सामान्य विकृतीकरण अनिवार्य हो जाता है।

हमारे रंगमंच में इस प्रक्रिया का एक रोचक उदाहरण मिलता है। यह ठीक है कि कुछ अन्य कलाओं तथा मनोविनोद के अन्य रूपों के, यहाँ तक कि साहित्य के भी, विपरीत रंगमंच अभी तक व्यापारी को पूँजी लगाने के लिए आकर्षित नहीं कर सका है। अभी तक रंगमंच झटपट धनी बनने का साधन नहीं है। बल्कि जो लोग रंगमंच में दिलचस्पी लेते हैं, वे एक प्रकार से धन गँवाने के लिए ही कमर कस कर मैदान में उतरते हैं। हमारे देश में तो पूँजीपति विशेष रूप से रंगमंच को उपेक्षा और तिरस्कार की दृष्टि से देखता आया है। इसलिए यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि हमारे रंगमंच के स्तर की निम्नता सभी जगह टिकट घर के इशारे के कारण नहीं है।

किन्तु यद्यपि हमारे रंगमंच के भ्रष्टाचार का दोष पूँजीपति को नहीं दिया जा सकता, पर राजनीतिक द्वारा फैलाया हुआ भ्रष्टाचार किसी भी प्रकार उपेक्षणीय नहीं है। यह एक दिलचस्प तथ्य है कि हमारे रंगकार्य का मौजूदा दौर १६४० के बाद से शायद एक राजनीतिक रुझान के साथ ही शुरू हुआ था। विशेषकर १६४१ में देश पर जापानी आक्रमण की संभावना बढ़ने पर साम्यवादियों ने यह महसूस किया कि रंगमंच में गीत-नृत्य और नाटक में व्यापक प्रचार के शक्तिशाली माध्यम बनने की बड़ी भारी सम्भावनाएँ हैं जिनका उपयोग जनसाधारण के मन में आक्रमणकारी के प्रतिरोध के लिए प्रबल भावना जगाने के लिए किया जा सकता है। फलस्वरूप उस संकट के समय में रंगमंचीय रूपों का व्यापक प्रयोग आरम्भ हुआ। यह अनिवार्य था कि हमारे देश के उपेक्षित, अल्प विकसित और जर्जरप्राय, रंगमंच को, रंगमंच से सम्बन्धित समूची कलात्मक हलचल को, नये सामाजिक लक्ष्य की इस चेतना से प्रारम्भ में नवीनता और शक्ति प्राप्त हुई। उसे सामाजिक जीवन में ऐसा महत्त्व और उच्च स्थान भी मिला जो उससे पहले मनोरंजन के किसी भी साधन को प्रायः कभी न मिला था। इसके अतिरिक्त उसका समर्थन करने के लिए, उसे प्रोत्साहित करने के लिए और बहुत बार उसे आर्थिक सहारा देने के लिए, एक राजनीतिक दल की संगठित शक्ति और साधन भी पहली बार प्रयोग में आये। उन परिस्थितियों में यह अस्वाभाविक न था कि नाटक प्रेमी और कलाकार, दोनों ने इस नये आश्रयदाता को पाकर बड़े सन्तोष का अनुभव किया और वे पूरी तरह उसके आगे नतशिर हो गये। इस नये आश्रयदाता के उत्साह के पीछे एक आदर्श की भावना के कारण यह बहुत ही आसान हो गया कि कलाकार विषय वस्तु के चुनाव, प्रस्तुत करने के ढंग, तथा कला मूल्यों की रक्षा, के सम्बन्ध में अपनी स्वाधीनता और अपना निर्णय अपने आश्रयदाता के हाथों में सौंप दें। थोड़े समय तक यह लगा भी कि रंगमंच के लिए ही नहीं, बल्कि समूचे

कलात्मक और सर्जनात्मक कार्य के लिए यही अभीष्ट है कि कलाकार तथाकथित सामाजिक उपादेयता के नाम पर, और व्यक्तिगत सरक्षण के बदले मे, कला को साध्य से अधिक साधन बना दे। अन्य अनेक नवीनताओ और सुविधाओ के साथ-साथ इस स्थिति मे कलाकार के अह को भी बडी भारी तुष्टि मिली।

किन्तु शीघ्र ही रगमच के माध्यम की सशक्त सम्भावनाओ को दूसरे राजनैतिक दलो ने भी अनुभव किया, और बहुत जल्दी ही देश म विभिन्न राजनैतिक दलो के सरक्षण मे अनगिनत कला सगठन बन गये, जिनमे नाटक करने वाले दल भी थे। ये दल अपनी अपनी आश्रयदाता राजनैतिक पार्टियो के सिद्धातो तथा कार्यक्रम के अनुरूप और उनके आधार पर नाटक तथा नृत्य-नाट्य, गीत आदि प्रस्तुत करने लगे। इन दलो के पास स्वभावत ही साधनो की कमी न थी, इसलिए इनके प्रदर्शन कभी अनाकर्षक या बहुत घटिया नही होने पाते थे। पर अनिवार्य रूप से इसके साथ ही साथ ऐसे सरक्षण से धीरे-धीरे रगमच का स्तर गिरने लगा। क्योकि एक ओर तो राजनैतिक प्रचार की आवश्यकताओ के लिए कलात्मक आदर्शों की बलि अधिकाधिक होने लगी, और दूसरी ओर आत्यन्तिक रचनात्मक पुष्टता और उत्कृष्टता के स्थान पर बाह्य तडक-भडक, वेषभूषा तथा अन्य साधन-सुलभ सज्जा पर अधिक ज़ोर दिया जाने लगा। एक प्रकार से विभिन्न राजनैतिक दलो मे अपने अपने सास्कृतिक जत्थो को श्रेष्ठतर सिद्ध करने और इस भाँति चुनाव तथा अन्य राजनैतिक कार्यो मे अधिक जनमत प्राप्त करने के लिए होड मचने लगी। फलस्वरूप सच्चे सर्जनात्मक कार्य और अभिव्यक्ति के पनपने की गुजाइश कम होती गयी। कलात्मक और सौन्दर्यमूलक सत्य का स्थान राजनैतिक विचारधारा और कार्यक्रम ने ले लिया। ऐसी अवस्था मे जो लोग युग की सर्जन प्रेरणा को वाणी देने का प्रयत्न कर रहे थे, और एक सच्चे रगमच के निर्माण मे जान खपा रहे थे, उन्हे कोई राजनैतिक दल अपनाने को तैयार न था। किसी न किसी की सूची मे नाम लिखाये बिना मान्यता मिलना असभव होता जा रहा था।

पर यह स्थिति हमेशा नही बनी रह सकती थी। स्वाधीनता के बाद नवोन्मेष से सर्जनात्मकता का जो अवरुद्ध ज्वार फूट निकला, उसने इस दृष्टिकोण की बुनियादी निकृष्टता और विकृति को क्रमश स्पष्ट कर दिया, और धीरे-धीरे सर्जनशील कर्मी राजनैतिक सरक्षण से मुक्त होने के लिए छटपटाने लगा। फलस्वरूप भारतीय जन नाट्य सघ जैसा नाट्य सगठन भी, जो एक समय तरुण कलात्मक और सौदर्यमूलक प्रेरणा की अभिव्यक्ति देने और इस प्रकार देश के सास्कृतिक गतिरोध को तोडने का मूल्यवान माध्यम बना था, अब अपने सकुचित और बुनियादी तौर पर प्रचार-धर्मी दृष्टिकोण के कारण कमज़ोर पडने लगा,

और प्रतिभावान तरुण कलाकारो के स्वाधीन दल हर जगह बनने लगे। सद्य-प्राप्त राजनैतिक स्वाधीनता से उत्पन्न उन्मेष से एक बार फिर यह सम्भावना उदित हुई कि सर्जनात्मक मूल्यो की प्रतिष्ठा होगी, और कलात्मक कार्य को, राजनीति के पिछलग्गू होने की स्थिति से छुटकारा मिलने से, हमारे सामाजिक सास्कृतिक जीवन मे अपना उचित स्थान प्राप्त हो सकेगा। उस समय यह ठीक से नही समझा जा सका कि स्थिति मे इस सभावना के साथ-साथ कुछेक नये तत्त्व भी इस बीच उभर रहे हैं जो इस सभावना को और उसके पीछे के सर्जनात्मक उन्मेष को व्यर्थ बना देंगे, जो अतत और भी भ्रष्ट स्तर पर राजनीति और व्यवसाय के मूल्यो को ही सर्जनात्मक कार्य के ऊपर आरोपित कर देंगे और सभवत कही गहरे स्तर पर सकट उत्पन्न होगा।

आज अब यह सकट हमारे सामने है और उसके कई रूप और तत्त्व तीव्रता से उभर आये हैं। आज अब एक ओर रगमच फैशनेबल चीज और उच्च वर्ग मे सस्कृत और सभ्य होने का प्रमाण समझा जाने लगा है, और दूसरी ओर अब उसे स्वय राज्य भी अपनी नीतियो और सफलताओ के प्रचार के लिए उपयोग मे लाने को अग्रसर हो रहा है। आजकल देश के बडे-बडे नगरो मे दो-तीन तरह की नाटक मडलियाँ पायी जाती हैं। कुछ तो ऐसी हैं जिनका उद्देश्य किसी प्रकार से अपने सदस्यो की वास्तविक कलात्मक प्रेरणा को अभिव्यक्त करना नही, बल्कि उनसे उनके सगठनकर्त्ताओ और पदाधिकारियो को उच्चतम सामाजिक प्रतिष्ठा के स्थान पर पहुँचने का, उससे सपर्क स्थापित करने का, अवसर मिलता है। ऐसे लोगो का उद्देश्य कोई सर्जनात्मक कार्य नही, अपना निजी स्वार्थ-साधन है। ऐसी स्थिति मे वास्तविक कलात्मक अभिव्यक्ति की उपेक्षा और अवहेलना होना लगभग अनिवार्य है। पर ऐसी मडलियो के साधन और सम्पर्क इतने ऊँचे दर्जे के होते हैं और उनकी पहुँच इतनी विस्तृत होती है, कि उन्हे बहुत ही आसानी से अत्यधिक मान्यता मिल जाती है, जो उनके कलात्मक कार्य की तुलना मे अनुपात से कही अधिक होती है। फलस्वरूप बहुत-से ईमानदार और गभीर रगकर्मी भी इन मडलियो और इन सगठन-कर्त्ताओ की ओर उन्मुख होते हैं, चाहे फिर अत मे निराशा, कुठा और विकृति ही उनके हाथ लगती है। इसका एक कारण यह भी है कि वे अपनी सामाजिक स्थिति और मान्यता के कारण अधिकाश स्थानीय सास्कृतिक गतिविधि के निर्णायक और पारखी होने का दर्जा भी पा जाते हैं, चाहे उनकी समझ और जानकारी कितनी ही ओछी और खोखली क्यो न हो, चाहे उनकी रुचि कितनी ही घटिया, परम्परा से विच्छिन्न और विदेशो मे सीखे हुए अधकचरे अनुकरण पर क्यो न आधारित हो। स्पष्ट ही रगमच के विकास के लिए इस सबका परिणाम शुभ नहीं होता।

किन्तु दूसरी तरह की नाटक मंडलियाँ वे हैं, जो या तो अपनी इच्छा से सरकारी योजनाओं के विज्ञापन और प्रचार से संबंधित नाटक खेलती हैं, क्योंकि उससे धन और सुविधाएँ दोनों प्राप्त होती हैं, या फिर सीधी सरकारी अथवा अर्ध-सरकारी नाटक मंडलियाँ हैं, जिनका तो उद्देश्य ही सरकार की नीतियों और योजनाओं का प्रचार करना है। यह बात पहले कही जा चुकी है कि कला और रंगमंच का उपयोग चाहे किसी भी बाह्य उपयोगिता को ध्यान में रख कर किया जाये, चाहे उसे धन अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा के प्राप्त करने का साधन बनाया जाय, चाहे राजनीतिक प्रभाव और शक्ति का, जहाँ तक सर्जनात्मक मूल्यों का प्रश्न है, उनका सतीत्व-अपहरण अनिवार्य है। और यह तो स्वाभाविक ही है कि जब कोई सरकार कला में, विशेष रूप से थिएटर में, निहित प्रचार की की संभावना तथा उसकी सशक्त क्षमता के उपयोग की ओर अग्रसर होती है, तो सर्जनात्मक मूल्यों के सतीत्व-अपहरण की यह आशंका बहुत ही तीव्र और घातक बन जाती है। क्योंकि सरकार के पास आर्थिक और राजनीतिक शक्ति का अपार सकेन्द्रण होता है, वह सर्जनात्मक कर्मी को न केवल किसी भी राजनैतिक दल की अपेक्षा अधिक लोभ दिखा सकती और इस प्रकार अंतत उसके भ्रष्ट होने में कहीं अधिक सहायक हो सकती है, बल्कि साथ ही इस बात की भी बड़ी आशंका रहती है कि किसी भी देश की जनतांत्रिक सरकार को जो नैतिक और भावात्मक स्वीकृति प्राप्त होती है, उससे कलाकार स्वयं ही अभिभूत हो जाये, और अपनी स्वाधीन बुद्धि को छोड़ बैठे।

वास्तव में इस दूसरी संभावना में सर्जनात्मक जीवन के लिए कहीं अधिक संकट है। क्योंकि सर्जनात्मक कर्मी के इस प्रकार राजनैतिक सत्ता से अभिभूत हो जाने पर न केवल कला-मूल्य बड़े व्यापक रूप में विकृत होने लगते हैं, बल्कि उससे स्वयं कलाकर्मियों में व्यापक नैतिक दुर्बलता की आशंका पैदा हो जाती है। कलाकार तब प्रशासक को अपना आलोचक और मार्गदर्शक मानने को विवश होता है, और धीरे धीरे, बहुत बार अनजाने में ही, वह प्रशासकीय आदेशों, रुचियों और पूर्वाग्रहों को कला के मानदंडों के रूप में स्वीकार करने लगता है। एक बार ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर कला मानव स्वाधीनता की, जीवन के सबसे भव्य और सबसे उदात्त अंश की, अभिव्यक्ति नहीं रहती, वह बाजारू और बिकाऊ वस्तु बन जाती है, गतानुगतिकता और स्थापित व्यवस्था के समर्थन और पोषण का गर्हित अस्त्र बन जाती है।

इस स्थिति के कुछ चरम प्रतिमूलक रूप नात्सी जर्मनी, सोवियत संघ तथा पूर्व योरपीय देशों में, और अब सबसे ताजा चीन में, दिखाई पड़ते रहे हैं। विशेष रूप से सोवियत संघ का उदाहरण बहुत ही विचारणीय है। वहाँ कला-कर्मी को समाज में बड़ा ऊँचा स्थान दिया गया, और आर्थिक समस्याओं से

उसे लगभग मुक्ति मिल गयी। इसके बदले मे उससे बस केवल एक ही मांग की गयी कि वह 'जनता के हित' के लिए अपनी कला को समर्पित करे। पर फिर इसके नाम पर वास्तव मे जो कुछ हुआ वह ससार मे कला और साहित्य के इतिहास मे अभूतपूर्व है। इस ऊँचे लगने वाले आदर्श की आड मे धीरे-धीरे, प्रारंभिक उल्लेखनीय उपलब्धियो के बावजूद, सोवियत सघ की सर्जनात्मक गतिविधि और उसके स्रष्टा दोनो ही निर्जीवता और निष्प्राणता की ओर बढते गये। सामाजिक यथार्थ के नाम पर ऐसे मिथ्या और छल की प्रस्थापना हुई, जिसने समस्त सर्जनशीलता का प्राण-रस सोख लिया। कलाकार पूरी तरह राज्य और शासनारूढ राजनीतिक पार्टी के कार्यक्रम और नीतियो की आवश्यकता अनुगामी और दास बन गया। यहाँ इस बात से कोई अन्तर नही पडता कि उसे अमुक तरह से अथवा अमुक विषय पर, रचना करने अथवा न करने का आदेश दिया जाता था या नही। तर्क के लिए ही सही, यह माना जा सकता है कि वह स्वेच्छा से ही यह सब करता रहा। किन्तु ठीक इस 'स्वेच्छात्मकता' के कारण ही यह समूची स्थिति अत्यन्त भयावह, दयनीय और गर्हित है, क्योकि *वह सर्जनशील प्रतिभा के क्रमश लीक पर चलने, स्थापित सत्ता को विवेकहीन* होकर स्वीकृति देने, और इस प्रकार सर्वथा भ्रष्ट हो जाने की सूचक है। वह इस बात का प्रमाण है कि कलाकार ने जाने-अनजाने किसी न किसी प्रशासकीय अथवा नैतिक भय को अपने भीतर प्रश्रय दे दिया है, और अपनी देखने की स्वाधीनता को, न्याय और अन्याय को अपने-आप पहचानने तथा उसका समर्थन अथवा विरोध करने की स्वाधीनता को, बेच दिया है। किसी भी सर्जनशील व्यक्ति के लिए इस भाँति भयभीत होने और बिक जाने से ज्यादा जघन्य स्थिति दूसरी नही होती। स्वाधीनता का सौदा सर्जनशीलता की हत्या है, वह चाहे कितने ही बडे आदर्श के नाम पर अथवा उसकी आड मे किया जाये। राज्याश्रय का यह रूप सर्जनशीलता के लिए सबसे बडी चुनौती है।

किन्तु जैसा कहा जा चुका है ऐसा ही भ्रष्टीकरण कला के व्यवसायी के हाथ मे पड जाने से भी होता है, और दूसरे बहुत-से देश, विशेषकर अमरीका, इस स्थिति का तीव्रतम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। वहाँ भी अधिकाश कला सर्जन स्वाधीन, उन्मुक्त, प्रसारकामी आत्मा की अभिव्यक्ति नही है, बल्कि मोटरकार अथवा हवाई जहाज की भाँति एकाधिकारी व्यापारियो के कारखानो मे फार्मूले के अनुसार, बडे पैमाने पर तैयार होने वाला माल है, जिसकी सार्थकता उसके क्रय-विक्रय मे है, जीवन को सुन्दरतर अथवा उच्चतर और परिष्कृत बना सकने मे नही। फिर भी कुल मिलाकर व्यवसायी की शक्ति किसी सरकार की शक्ति के बराबर और सर्वव्यापी नही होती। व्यवसायी के हाथ बिकना

अस्वीकार करके कलाकार भूखो मर सकता है, पर राज्य के हाथ बिकना अस्वीकार करने से तो उसके जीवित रहने मे भी शका होने लगती है। इसके अतिरिक्त किसी भी समाज मे व्यवसायी को कभी भी ऐसी नैतिक मान्यता प्राप्त नही होती या हो सकती कि उसका हित समूचे जनसमुदाय के हित से *अभिन्न समझा जाने लगे, और उसका विरोध जनहित के विरोध के बराबर* माना जाये। किन्तु राज्य समूचे जनसमुदाय के हित का प्रतीक होता है, कम से कम जब तक विघटन के युगो म उसे डटकर चुनौती न दी जाये तब तक मान्यता उसे उतनी ही प्राप्त होती है, और जब तक किसी शासन व्यवस्था की बुनियादी अनैतिकता उजागर न हो जाये, तब तक वह प्रत्येक नागरिक के *मन मे एक अस्पष्ट भय-सत्ता की सृष्टि करके प्रतिष्ठित बना रहता है।* इसलिए उसका विरोध, विशेषकर यदि वह निरकुश प्रकार का हो, सहज नही होता।

अपने देश म कला, साहित्य और रगमच को राज्याश्रय मिलने के प्रश्न को इन निष्कर्षो के परिप्रेक्ष्य मे देखने पर हमारी स्थिति का एक अन्तर्विरोध स्पष्ट सामने आता है। सर्जनशील कार्यकलाप को प्रशासक, राज्य और राज-*नीति का अनुचर नही बनाना है, यह ठीक है। किंतु क्या इस कारण ही आज* उसका राज्य से, समाज से, राजनीति से कोई सबध ही न हो? क्या राज्याश्रय मात्र, तथा राज्य द्वारा सास्कृतिक कार्य को प्राप्त मान्यता मात्र, ही निंद्य और घातक है? क्या हमारे सामान्य मूर्धन्य सर्जनशील कर्मियो का राज्य या समाज द्वारा सम्मान मात्र ही उनके भ्रष्ट होने का सूचक है? क्या राज्य द्वारा *किसी प्रकार के सास्कृतिक कार्य मे कोई सहायता अथवा सहयोग अथवा कोई* आयोजन सस्कृति के अकल्याण और अमगल का प्रारभ है? ये प्रश्न नानाविध रूपो और क्षेत्रो मे उठ रहे हैं, और विशेषकर नयी पीढी, जिसे अभी इतना सम्मान अथवा मान्यता प्राप्त नही है, इस विषय म उचित ही बहुत उत्तेजित है।

प्रश्न की दो स्पष्ट दिशाएँ हैं। एक तो यह कि इस देश मे शासन व्यवस्था निरकुश नही जनतन्त्रात्मक है। ऐसी व्यवस्था मे कम से कम सिद्धातत किसी न किसी स्तर पर और रूप मे समाज के सर्जनशील अग का सयुक्त, सपृक्त न होना, न केवल राज्य की असपूर्णता और अक्षमता का प्रमाण होगा बल्कि स्वय कलाकार को भी वह समुदाय के जीवन के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष से विच्छिन्न करके उसे अपूर्ण और अशक्त बनायेगा। लोकानुगामी राज्य व्यवस्था मे कलाकार का सम्मान भी अनिवार्य है, और राज्य का कला और सस्कृति के विकास मे उत्तरोत्तर अधिक रुचि लेना भी अवश्यम्भावी ही नही उसका प्रमुख कर्त्तव्य और दायित्व भी है।

दूसरे, इस बात से भी इन्कार नही किया जा सकता कि सप्रेषण के

सुदूरव्यापी सामूहिक माध्यमों के इस युग में कला के प्रभाव के सबंध में कलाकार अथवा कोई सस्कृत समाज वैसा उदासीन नहीं रह सकता जैसा वह उन दिनों रह सकता था, जब किसी कलाकृति का श्रोता, पाठक अथवा दर्शक-वर्ग बहुत ही सीमित और अल्पसख्यक होता था। आज किसी भी रचना के प्रभाव के विषय मे राज्य भी उतना ही सतर्क होने को बाध्य है जितना स्वय कलाकार को वास्तव मे होना चाहिए। कला और सस्कृति की अनेक गुना बढ़ी हुई शक्ति जहाँ कलाकार को व्यवसाय वृद्धि की ओर ढकेलती है, वहीं समाज को उसके उपयोग के नियत्रण की ओर भी। इस परिस्थिति मे कोई छुटकारा नहीं है। और आज के कलाकार द्वारा अपनी समर्थता और सीमाओं की इस सर्वथा नवीन स्थिति को आत्मसात् किए बिना सदा उसके बहक जाने का खतरा रहेगा।

इस बात पर अपने देश मे रगमच के विकास की समस्याओं के सदर्भ मे विचार करें तो यह माँग अथवा आशा सर्वथा भ्रामक है कि रगमच का शिक्षा तथा प्रचार के कार्य के लिए उपयोग नहीं किया जाये। सप्रेषण के एक अत्यत ही शक्तिशाली माध्यम के रूप मे, विशेषकर हमारे देश मे जहाँ गरीबी, अशिक्षा और निरक्षरता के कारण कोई भी दृश्य माध्यम अन्य साधनों की अपेक्षा कहीं अधिक उपयोगी और प्रभावकारी होता है रगमच का ऐसे कार्यों के लिए उपयोग होना सर्वथा अनिवार्य तो है ही, कल्पनाशील और विवेकपूर्ण उपयोग होने पर अत्यत लाभदायक, प्रभावी और कल्याणकारी भी हो सकता है। किंतु इसके अतिरिक्त, कलात्मक अभिव्यक्ति विधा के रूप मे भी रगमच का विकास बहुत बड़ी सीमा तक और कई महत्त्वपूर्ण पक्षों मे राज्य की सहायता पर निर्भर होने को बाध्य है। देश के विभिन्न प्रदेशों तथा प्रत्येक बड़े नगर में नाटकघरों का निर्माण राज्य की सहायता के बिना प्राय असभव दीखता है। पिछले दो-तीन वर्षों म प्रदेशों की राजधानियों मे रवींद्र रगभवन केन्द्रीय सरकार द्वारा ही बनाए गए, जो अपनी सारी खामियों और योजना हीनता के बावजूद, रगकार्य के एक बड़े अभाव को दूर करते हैं। इसी प्रकार नगर, प्रदेश तथा केन्द्र की सरकारों से पर्याप्त सहायता से ही विभिन्न भाषाओं मे ऐसी नाटक मडलियाँ बन सकेंगी जो नियमित प्रदर्शन कर। जब तक ऐसी नाटक मडलियाँ हर भाषा मे नहीं बनती, तब तक रगमच कुछ शौकीनों तथा कुछ उत्साही नौजवानों के कार्य तक ही सीमित रहेगा, वह एक सुविकसित राष्ट्रीय कला रूप का स्थान कभी न पा सकेगा। विश्व भर मे राज्य किसी न किसी रूप मे रगमच को चलाने की जिम्मेदारी लेता है और इसे इतना त्याज्य नहीं समझा जाता। रगमच जैसी सामुदायिक कला तो हर स्तर पर समुदाय के सरक्षण और सक्रिय योग की अपेक्षा रखती ही है।

इसलिए प्रश्न यह नही है कि सरकारी सहायता रगमच के लिए ली जाय या नही, बल्कि यह है कि उसे लेने मे सरकारी दबाव और प्रभाव की जो आशकाएँ है उनसे कैसे बचा जाय। इसके लिए एक अनिवार्य आवश्यकता यह है कि सरकार से प्राप्त सहायता हर प्रकार की शर्त से मुक्त हो, अथवा कोई शर्त हो भी तो वह कला के सच्चे और वास्तविक मानदडो की स्थापना की ही हो, जिसका निर्णय राज्य और प्रशासन नही, रचनाकार स्वय करे। जिससे राज्य रचनाकार की स्वाधीनता का हरण करके अथवा उसे अपने प्रचार विभाग का एक स्तर बनाकर, पगु न बना दे, बल्कि स्वय उस कला को भी विकृत न कर दे। किंतु इस स्थिति मे सबसे बडा दायित्व तो रचनाकार का अपना ही है। जैसे-जैसे सर्जनात्मक कार्य की सामाजिक प्रभाविता और उपयोगिता बढती जाती है, वैसे ही वैसे रचनाकार के सामने चुनौती भी अधिक प्रबल और तीखी होती जाती है। कलाकार की स्वाधीनता सदा ही सकट मे रही है, क्योकि कला का स्वर गतानुगतिकता को छोडकर नयी लीके बनाने का, स्थापित व्यवस्था की जडता, अमानवीयता और ढोग का चुनौती देने का, हर प्रकार के आतक और शोषण की अस्वीकृति का, और इस प्रकार मानव स्वाधीनता के विजय स्तभ नये-नये भावलोको मे स्थापित करने का, होता है। इसलिए जो सत्तारूढ और परिवर्तन तथा विकास के विरोधी हैं, वे सदा सर्जनशीलता से सशक होते रहे हैं। किन्तु आज कला की स्वाधीनता का सकट और उसकी सार्थकता का पथ इस भाँति परस्पर-सबद्ध और अविभाज्य है कि कार्य पिछले किसी भी युग की अपेक्षा कहीं अधिक दुस्तर हो गया है। आज तो यह कलाकार की ही जिम्मेदारी है कि वह इस चुनौती का सामना करे, और अपनी निष्कलकता की रक्षा करे। अपना यह कर्तव्य वह राज्य की उपेक्षा या उसकी सहायता का बहिष्कार करके नही, उसे ठीक दिशा मे चलने के लिए बाध्य करके ही पूरा कर सकता है।

किंतु रगकर्मी को मार्ग भ्रष्ट करने के लिए इससे खतरनाक फदा उसके अपने कार्य मे ही निहित है, और वह है लोकप्रियता का फदा। यह एक पुरानी बहस है कि रगमच को लोकप्रिय होना चाहिए या कलात्मक। यो अधिकाधिक पाठकों, दर्शकों या श्रोताओं तक पहुँचने की भावना और प्रेरणा प्राय सभी सर्जनात्मक क्रियाओ मे सदा रही है और स्वाभाविक भी है। पर रगमच मे लोकप्रियता की बात बडी तीव्रता से उभरती है और एक बुनियादी प्रश्न का रूप ले लेती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि विश्व भर मे रगमच युगो तक केवल मनोरजन का ही साधन माना जाता रहा है और उसमे कलात्मकता और सर्जनात्मक अभिव्यक्ति पर आत्यतिक आग्रह अपेक्षया नयी प्रवृत्ति है। फलस्वरूप बहुत से रगकर्मियो के मन मे भी यह धारणा रहती है कि रगमच

या तो लोकप्रिय हो सकता है या कलात्मक और गभीर, दोनों एक साथ होना बहुत कठिन है। और उनके मन में जाने-अनजाने यह धारणा कुछ इस प्रकार बन गयी है जैसे लोकप्रियता अपने आप में रगमच का कोई बुनियादी मूल्य हो। पर यह निरी भ्रांति है। अन्य किसी भी समर्थ अभिव्यक्ति विधा की भाँति रगमच भी या तो उत्तम हो सकता है या निकृष्ट, और उत्तम रगमच कुछ समय के लिए लोकप्रिय न होने पर भी निकृष्ट रगमच से अधिक वाछनीय है चाहे वह कितना ही लोकप्रिय क्यों न हो।

वास्तव मे लोकप्रियता पर ऐसा दुर्भाग्यपूर्ण आग्रह धन-शासित समाज द्वारा पोषित कपोल-कल्पना है, जिसकी आड म वह अपने सकीर्ण व्यावसायिक स्वार्थों की सिद्धि करता है और अपने घटिया और सस्त माल को बेधडक बेचने का बहाना पा जाता है। लोकप्रियता के नाम पर ही शक्तिशाली व्यापारी वर्ग और राजनैतिक सगठनकर्ता जनसाधारण के ऊपर मनचाही वस्तु थोपने का प्रयास करत हैं और उसकी हीनता के लिए हर प्रकार की सामाजिक और नैतिक जिम्मेदारी से अपने को मुक्त कर लेते हैं। सस्ती घटिया फिल्मों या उपन्यास-कहानियों आदि को लोकप्रियता के नाम पर ही बनाया और बडी सख्या म वितरित किया जाता है और फिर व्यापक तथा शक्तिशाली प्रचार माध्यम द्वारा यह धारणा उत्पन्न की जाती है कि कोई भी अन्य अधिक यथार्थ, अधिक गभीर और सार्थक रचना लोकप्रिय नहीं हो सकेगी, इसलिए अनावश्यक और बेकार है। पर यह निरा छल है। बार-बार यह देखा गया है कि बहुत-सी गभीर कोटि की रचनाएँ भी, यथार्थ का गहराई, सूक्ष्मता और निर्ममता स अन्वेषण करने वाली कृतियाँ भी, चाहे वे साहित्य, सगीत, नृत्य, चित्रकला, फिल्म और रगमच, किसी भी विधा की हो, व्यापक स्वीकृति, मान्यता और सराहना प्राप्त करती हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रेमचद, नदलाल बोस, हुसैन, रविशकर, सत्यजित राय और शभु मित्र हमारे देश के ही कुछ श्रेष्ठ तथा व्यापक रूप म स्वीकृत और समादृत रचनाकार हैं, और इस सूची में और भी बीसियों नाम जोडे जा सकत हैं।

पर थोडी देर के लिए यदि यह मान भी लें कि श्रेष्ठ और गभीर कोटि की सर्जनात्मक कृति अपने आप और सहज ही लोकप्रिय नहीं होती, और कुछ ही समझदार पारखियों तक सीमित रहती है, तो भी उपाय क्या है? क्या इसी कारण सचाई का छोडकर लोकप्रियता की ओर भागना उचित होगा? बाला सरस्वती और बिरजू महाराज का नृत्य व्यापक रूप में लोकप्रिय नहीं होता तो क्या हम सब 'स्ट्रिपटीज़' और फिल्मी नाच के भक्त हो जायें जो निस्सदेह बहुत लोकप्रिय है? निराला या मुक्तिबोध की कविता बहुत लोकप्रिय नहीं होती इसलिए सब कविजन फ़िल्मी गाने या रेडियो के लिए सुगम सगीत लिखें

जो बहुत-बहुत लोकप्रिय होने हैं ? क्योंकि एक बार लोकप्रियता को सर्जनात्मक कार्य का एक मूल्य बना लेने पर फिर वही बीच मे रुकने की गुजाइश नही है; वह ऐसा ढलकाव है जिस पर एक बार पैर रखने के बाद नीचे तल मे आकर ही छुटकारा मिल सकेगा। वास्तव मे लोकप्रियता को उद्देश्य बनाकर कभी कोई सार्थक और मूल्यवान मानवीय सर्जनात्मक क्रिया-कलाप सभव नही, और सामूहिक माध्यमो और सगठित प्रचार साधनो के इस युग मे लोकप्रियता से बडा फदा रचनाकार के लिए कोई दूसरा नही है।

वास्तव मे रचनाकार के सामने सबसे बडी चुनौती यही होती है कि वह अपने सर्जनात्मक व्यक्तित्व के अतिरिक्त सवेदनशील भाव-यत्र द्वारा प्राप्त अपने जीवन-बोध और अनुभव के तथा अपने अन्य सहधर्मी मानवबधुओ की चेतना के, बीच सप्रेषण का सेतु किस प्रकार निर्मित करे। सर्जनात्मक रचना की प्रक्रिया निरतर इस चुनौती का सामना करने, उससे जूझने और एक न एक स्तर पर उसे वश मे करने की प्रक्रिया है। पर ऐसा वह सस्ती लोकप्रियता पाने के लिए अपने सत्य के बोध को झुठलाकर या त्यागकर नही करता, बल्कि अपने अनुभव के भीतर और भी गहराई मे पैठकर, उसमे से समस्त अतिरिक्त और अतिरजित तत्त्व को निर्ममतापूर्वक निकालकर, और इस प्रकार अपनी अभिव्यक्ति को और भी प्रखर और एकाग्र तथा सार्थक और समन्वित बनाकर करता है। इसी प्रक्रिया मे उसके सप्रेषण की व्यापकता और तीव्रता बढती है और वह अधिक से अधिक अपने सहभागी समकालीन, और परवर्ती युगो के सवेदनशील प्रमाताओ, के साथ सपर्क स्थापित करता है। सर्जनशील कृति के सदर्भ मे लोकप्रियता और व्यापक स्वीकृति के यही अर्थ और सीमात होते और हो सकते हैं। जो लोग अपनी कृति को बिक्री का माल बनाकर उसके द्वारा सस्ती लोकप्रियता चाहते है, या सामाजिक सीढी मे ऊपर पहुँचना चाहते हैं, या अपने लिए सुविधापूर्ण आजीविका जुटाने को व्यग्र हैं, वे निस्सदेह अपने दर्शको-श्रोताओ-पाठको को रिझा-बहलाकर अपना उद्देश्य पूरा करने को स्वतत्र है। पुराने जमाने मे दरबारी मुसाहिब चुटीली और प्रशसापूर्ण उक्तियो या करतबो द्वारा अपने राजसी सरक्षको का दिल बहलाकर अपनी आजीविका कमाते थे। आज जनतत्र के युग मे, जब 'जनता' सरक्षक हो गयी है, तो वे लोग उसको रिझाकर, उसमे सस्ती भावुकता और उत्तेजना जगाकर, अपनी आजीविका प्राप्त कर सकते हैं, और इस प्रकार 'लोक'-प्रिय हो सकते हैं। पर स्पष्ट ही ऐसी लोकप्रियता का किसी सार्थक सर्जनशीलता से कोई सबध नही, और न वह किसी रचना का कोई वास्तविक मूल्य हो सकती है।

यह वस्तुस्थिति सामान्यत अन्य सर्जनात्मक विधाओ से सबद्ध व्यक्तियो के आगे स्पष्ट होती है और साहित्य, चित्रकला, सगीत आदि मे सच्चा रचना-

कार कभी लोकप्रिय होने की बहुत चिंता नहीं करता। पर जैसा पहले कहा गया, रंगमंच में स्थिति कुछ इसलिए उलझ जाती है क्योंकि रंगमंच बहुत दिनों तक केवल मनोरंजन का साधन रहा है और एक हद तक आज भी है। पिछली कुछ शताब्दियों में अवश्य उसकी सर्जनात्मक संभावनाओं और पक्षों को अधिकाधिक महत्त्व दिया गया है, पर अपने उस अतीत से रंगमंच अभी पूरी तरह छुटकारा नहीं पा सका है। हमारे देश में तो विशेष रूप से रंगमंच को प्रायः केवल तमाशा ही माना जाता है। इस धारणा से स्वभावतः कलात्मक मूल्यों के बजाय लोकप्रियता पर आग्रह बढ़ता है। किंतु इसीलिए हमारे देश के रंगकर्मी के लिए इस बात को बड़ी गंभीरतापूर्वक समझना अत्यंत आवश्यक है कि सच्चा रंगमंच तमाशा नहीं, बल्कि कलात्मक-सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का ऐसा जटिल और सशक्त माध्यम है जो एक साथ कई स्तरों पर सक्रिय होता है और आधुनिक जीवन के जटिल तथा उलझे हुए यथार्थ को प्रस्तुत करने के लिए विशेष रूप से उपयुक्त और समर्थ है।

लोकप्रियता को रंगमंच का मूल्य मान बैठने का एक अन्य कारण है नाटक के प्रदर्शन में दर्शक-वर्ग की सामूहिक उपस्थिति। इस मामले में, दर्शक-वर्ग से अपने जीवंत संबंध के कारण, नाटक फिल्म से भी अधिक प्रभावनीय है। यह बात जाने-अनजाने रंगकर्मियों को दर्शक-वर्ग को प्रसन्न करने, संपूर्णतः अथवा मुख्यतः उसकी ही रुचियों से, पसंद-नापसंद से, पक्षपातों और पूर्वाग्रहों से प्रभावित होने, के लिए प्रेरित करती है। किंतु दर्शक-वर्ग नाट्यानुभूति की सृष्टि का एक अनिवार्य तत्त्व होने पर भी, नाट्य प्रदर्शन इस अनुभूति को दर्शक-वर्ग के निम्नतम स्तर पर उतर कर नहीं, बल्कि उसमें एक ऐसे धरातल पर संपर्क स्थापित करके करता है जो उसकी सामान्य क्षमताओं के क्षेत्र के भीतर होने के साथ ही, उनके बाहर, उनके परे और कहीं अधिक सूक्ष्म बिंदु पर होता है। नाट्यानुभूति में, हर प्रकार की सौंदर्यमूलक और सर्जनात्मक अनुभूति की भाँति ही, दर्शकों को एक ऐसे स्थल तक पहुँचने का प्रयास करना पड़ता है जो उनकी पकड़ के बाहर रहा है। सर्जनात्मक अनुभूति की यह प्रक्रिया दर्शक-वर्ग की संवेदनाओं को अधिक व्यापक और गहरा बनाती है और इस प्रकार कला को एक सार्थक मानवीय कार्य का दर्जा देती है। केवल साधारण और औसत लोग दर्शक-वर्ग के साधारण और औसत तत्त्वों का गुणगान करते हैं, और उसको किसी उच्च स्तर पर उठाने के बजाय लोकप्रियता पाने के लिए स्वयं उसके स्तर पर उतरना ठीक समझते हैं। किंतु प्रत्येक दर्शक समुदाय में, और व्यक्तिशः अकेले दर्शक में भी, ऐसा सशक्त तत्त्व मौजूद रहता है जो जीवन के उच्चतर और श्रेष्ठतर पक्षों के प्रति संवेदनशील होता है। सजग और गंभीर रंगकर्मी समुदाय अथवा व्यक्ति के भीतर इसी सच्चे और जीवंत

भारत की खोज नृत्य-नाट्य में शांतिवर्धन तथा अन्य

उदयशंकर का नृत्य नाट्य जीवन की लय

पंजाबी संगीत नाटक
सोहनी महीवाल
लिटिल थिएटर ग्रुप
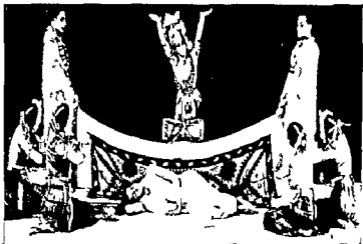
इप्टा द्वारा प्रस्तुत भारत की आत्मा

मोहम्मद तुगलक का दृश्यबंध राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय

लिटिल बैले ट्रूप का पंचतंत्र

अमानत का इन्दरसभा : लिटिल थियेटर ग्रुप
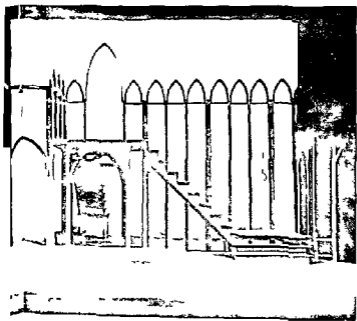
सार तत्त्व की तलाश करता है।

यह असभव नही कि प्रारभ मे यह तलाश बडी सीमित सिद्ध हो। पर सच्ची सर्जनशीलता इसे छोड बैठने की बजाय इसी के अधिकाधिक प्रसार और विस्तार की ओर उन्मुख होती है। एक आम दलील यह है कि रगमच सामूहिक प्रयास होने के कारण, उसके लिए बडी मात्रा म धन तथा अन्य साधन आवश्यक होने के कारण, उसम कोई जोखिम नही उठायी जा सकती। कुछ लोग तो रगमच को उद्योग मानते हैं, और एक स्तर पर किसी हद तक वह है भी। पर इससे सर्जनशील रगकर्मी के दृष्टिकोण मे बहुत अतर नही पडता। दुनिया भर मे गभीर रगकर्मी रगमचीय उद्योगपति से जूझने को मजबूर है, जो अपने अपार साधना के बल पर उसकी सर्जनात्मक प्राणवत्ता को नष्ट करता रहता है, और प्राय सभी जगह सर्वश्रेष्ठ कार्य वे लोग ही कर रहे हैं जिन्होने रगमचीय उद्योगपति के हाथो, शरीर से या मन से, बिकने से इन्कार कर दिया है।

इस सदर्भ मे हिंदी रगमच किसी हद तक सौभाग्यपूर्ण स्थिति मे है। उस पहले से जमे हुए किसी कल्पनाहीन, कलाविरोधी, व्यवसायी रगमच से जूझने म अपनी शक्ति नही लगानी है। उसके लिए एक दृष्टि से सीधे ही सार्थक और सर्जनशील रगमच की स्थापना कर सकना सभव है। हिंदी फिल्मो के निकृष्ट प्रभाव के बावजूद, सर्जनशील कलात्मक हिंदी रगमच अपेक्षया आसानी से जडें जमा सकता है, क्योकि हिंदी दर्शक-वर्ग अभी किसी सुसगठित व्यवसायी रगमच द्वारा रुचिभ्रष्ट नही हुआ है। प्राय यह कहा जाता है कि अभी तो हिंदी रगमच का कोई दर्शक-वर्ग ही नही है, इसलिए पहले तथाकथित लोकप्रिय रगमच चालू करके दर्शक-वर्ग तैयार करना उचित है, सर्जनात्मक रगमच बाद म देखा जायगा। पर यह दलील थोथी और अयथार्थ है। एक बार किसी दर्शक-वर्ग को 'लोकप्रिय', सस्ते और भावुक रगमच के हाथो सौंप देने पर फिर उसका उद्धार बहुत आसान नही होता। रुचियाँ एक बार भ्रष्ट होने पर मुश्किल से सुधरती हैं, समुदाय के सीमित साधन एक बार कलात्मक दृष्टि से अनुर्वर और बजर क्षेत्रा म फँस जाने पर किसी सार्थक कार्य के लिए उनका सग्रह प्राय असभव होता है। लोकप्रियता और सर्जनशीलता के बीच इस स्तर पर कोई सामजस्य नही हो सकता। राजनैतिक आश्रय की भाँति लोकप्रियता भी मूलत एक व्यवसायी मूल्य है और उसका सतर्कतापूर्वक और सावधानी से सर्जनात्मक कार्य म उपयोग तो किया जा सकता है, पर उसको रगमच अथवा किसी सर्जनात्मक कार्य का अपना एक मूल्य मान लेने पर मार्गभ्रष्टता और विकृति अनिवार्य ही है।

वास्तव मे, भारतवर्ष मे रगमच आज एक मोड पर है। एक ओर जहाँ

उसके समाज के महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक अंग होने की स्वीकृति है, वहीं दूसरी ओर उनके अन्य उपयोग तथा उसकी भ्रष्टता के नये स्रोत भी स्पष्टतर होते जा रहे हैं। बहुत बार तो यह स्वयं उसके निर्माताओं और प्रेमियों की भी समझ में नहीं आता कि उसके विकास में सहायता का दम भरने वाले सभी उसके शुभचिंतक नहीं हैं। किंतु फिर भी आज ही हमारे नये रंगमंच की परंपराओं और स्वरूप का निर्माण और उनकी स्थापना होगी। इसलिए यह बहुत ही आवश्यक है कि सर्जनशील रंगकर्मी और रंगप्रेमी सहज प्राप्त संरक्षण, लोकप्रियता, अथवा आर्थिक सुरक्षा के मोह में पड़कर अपनी स्वाधीनता को न छोड़ बैठें, ऊपर से सफल और प्रभावशाली दिखाई पड़ने वाले प्रयत्नों के खोखले और अवसरवादी आदर्शों को सर्जनशीलता के मानदंड न बना लें। विशेषकर यह दायित्व तो कलाकार के ऊपर ही है कि वह निरंतर प्रयास द्वारा अपनी सर्जनशीलता को सक्रिय रखकर, दर्शक-वर्ग की रुचियों को विकृत होने से बचाये, ताकि असली और नकली के बीच परख कर सकने की क्षमता का ही अंत न हो जाय।

यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि इस देश में चाहे जिस उपाय से रंगमंच की स्थापना करने की धुन में हम इस बात को न भूल जायें कि राजनैतिक अथवा आर्थिक सत्तारूढ़ व्यक्तियों के आदेश से पृथक्, जो अपने हितों और योजनाओं के अनुरूप यथार्थ को प्रस्तुत करने के लिए व्यग्र रहते हैं, अथवा लोकप्रियता के आकर्षक छलावे से अलग, कलाकार की अपनी अनुभूत सत्य को अभिव्यक्त करने की स्वाधीनता ही प्रत्येक कलासृष्टि की पहली और आधारभूत आवश्यकता है। आत्मा की इस मुक्ति के बिना कोई रचना न केवल काल के ध्वंस प्रवाह से अपनी रक्षा नहीं कर पाती, बल्कि वह उन सांस्कृतिक-आध्यात्मिक मूल्यों का निर्माण भी नहीं कर सकती, जो मानव को श्रेष्ठतर और अधिक परिष्कृत बनाते हैं, जो उसे जीवन और उसकी सार्थकता की गहनतर चेतना प्रदान करते हैं।

भारतीय रंगदृष्टि की खोज

एक प्रकार से अब हम अपने नाटक और रगमच मे सार्थकता और सर्जनशीलता के इस अन्वेषण के अ त तक आ पहुँचे हैं। यह सभव है कि नाटक और प्रदर्शन के रचनात्मक तथा बाह्य तत्त्वो के पिछले विवेचन मे यह बात स्पष्ट रूप मे उभर आयी है कि वास्तव मे सर्जनात्मक विधा के रूप मे भारतीय रगमच के सामने सबसे बडी समस्या आत्मसाक्षात्कार की ही है । हमारा रगमचीय अतीत और वर्तमान बडा विचित्र और अनोखा विरोधाभास प्रस्तुत करता है । रगकार्य की दृष्टि से हमारी स्थिति किसी इतिहासहीन समुदाय की नही है—भारत का प्राचीन सस्कृत नाटक और रगमच बडा समृद्ध था और यह समृद्धि एक लबे दौर तक चली जिसमे नाटक और रगमच दोनो मे ही तरह-तरह के प्रयोग किये गये, और उस अनुभव को बडे विस्तार से और सूक्ष्मता के साथ सिद्धात-ग्रथो मे सँजोया गया जिसने फिर और भी नयी पद्धतियो और व्यवहारो तथा रूढियो को जन्म दिया या पुष्ट किया। सस्कृत नाटक और रगमच की यह परपरा अपने आप मे समृद्ध और बहुमुखी ही नही है, आज यह सर्व-स्वीकृत है कि वह अपनी विशिष्टता और मौलिकता तथा एक विशेष प्रकार की सूक्ष्मता मे ससार की प्राचीन रग परपराओ मे अनन्य है । उसकी दृष्टि की कलात्मकता और सवेदनशीलता की उपेक्षा नही की जा सकती, न उसे निरर्थक कहकर ही उडाया जा सकता है ।

किन्तु फिर भी यह परपरा दीर्घकाल तक चलने के बाद टूट गयी, नष्ट-भ्रष्ट हो गयी। और आज उसके प्रमाण या स्वरूप के विवरण, अथवा उदाहरण या तो सिद्धात-ग्रन्थो मे उपलब्ध हैं या सस्कृत नाटको मे निहित हैं। उनके व्यवहार की, चाहे जितने परिवर्तित, सशोधित रूप मे ही सही, निरतरता और अविच्छिन्नता नही बनी रह सकी, जिससे आज का रगकर्मी सीख सके और विद्रोह कर सके, जिसे अपने कार्य मे आत्मसात् कर सके अथवा अस्वीकार करके उसके समक्षीकरण मे एक नयी प्रतिमा बना सके। ऐसी स्वीकृति और अस्वीकृति दोनो ही किसी भी सर्जन कार्य को ऐसी अर्थवत्ता और गहराई देती है, सप्रेषण मे ऐसी सार्थकता और तीव्रता देती हैं, जो अन्य किसी भी उपाय से नही मिल सकती। निस्सदेह उस परपरा के कुछ बिखरे हुए, इक्का-दुक्का,

मूल, रूपांतरित अथवा विकृत, तत्त्व देश के कुछ नृत्याभिनयों में, नृत्य-नाटकों में, नृत्य में, अथवा कूडियाट्टम जैसे मिश्रित नाट्य प्रकारों में मिल जाते हैं जिन्हें कुछ शोध, अध्ययन और परिश्रम द्वारा अलगाया जा सकता है। पर स्पष्ट ही वह हमारे काम के साथ जीवंत रूप में सम्बद्ध नहीं है, बल्कि प्राय विस्मृत और विच्छिन्न है। वह परंपरा एक प्रकार से अपनी होकर भी अपनी नहीं है।

संस्कृत रंगमंच का यह विघटन कोई एक हज़ार वर्ष पहले हुआ। अब वह यदि संपूर्ण रूप से टूटकर निरा पुरातत्त्व और प्राचीन इतिहास का अंग बन जाता तो भी एक बात थी। पर ऐसा भी नहीं हुआ; वह असंख्य रूपों में देश भर के विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के सामुदायिक रंगमंच में बिखर गया, मिल गया, खो गया। संस्कृत रंगमंच के कई रूप, रूढ़ियाँ और व्यवहार लोक में प्रचलित नाट्य कार्यकलाप से आये थे, उनमें से कुछ तो संस्कृत रंगमंच के विघटन के बाद फिर अधिक पुष्ट, समृद्ध और विकसित होकर प्रमुख हो उठे, कुछेक शायद लुप्त हो गये। और फिर अगले नौ सौ-हज़ार वर्ष तक विभिन्न प्रदेशों में रंगमंच के वे रूप प्रचलित रहे जिनके समुच्चय को संभवत हम मध्यकालीन नाट्य परंपरा कह सकते हैं। यह परंपरा स्थानीय और प्रादेशिक थी, उसमें लिखित नाटक की प्राय गौणता और गीत-संगीत तथा नृत्य की प्रधानता थी; निश्चित नियमों के स्थान पर स्वच्छंद स्फूर्त सूझ और उपज पर बल था, संस्कृत रंगमंच के-से कलात्मक आग्रह के बजाय मनोरंजन पर बल था, यद्यपि उसका बाह्य रूप प्राय धार्मिक, तथा भक्ति-प्रधान होता था। इस प्रकार संस्कृत रंगमंच से थोड़ी-बहुत प्रभावित और सम्बद्ध होकर भी कालांतर में यह एक स्वतंत्र नाट्य परंपरा बन गयी जो हमारे देश की पूर्व और उत्तर मध्यकालीन जीवन पद्धतियों से जुड़ी हुई थी। फलस्वरूप हमारे तत्कालीन जीवन की जड़ता के अनुरूप ही उसमें भी जड़ता आती गयी, रुचि-परिष्कार का अभाव होता गया और एक प्रकार की विकृति तथा ग्राम्यता बढ़ती रही, यद्यपि जीवन से संबद्ध होने के कारण ही उसमें एक प्रकार की प्राणवत्ता भी थी ही। यह रंग परंपरा मुख्यत ग्रामीण अंचलों, अधिक से अधिक छोटे शहरों, में ही सक्रिय थी। किन्तु पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों में हमारे सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक और मानसिक जीवन में व्यापक परिवर्तनों के फलस्वरूप बड़े-बड़े नगरों के विकास तथा वहाँ शिक्षा के प्रसार के कारण, यह रंग परंपरा भी हमसे छूट गयी, वह विकृत ही नहीं, निरंतर उपेक्षित होते-होते प्राय विस्मृत हो गयी और आज के शहरी रंगकर्मी का उससे बहुत ही कम परिचय रह गया, शहर के रंगमंच से उसका किसी प्रकार का संबंध या योग तो रहा ही नहीं।

इस स्थिति का कारण हमारे जीवन में व्यापक परिवर्तनों के अतिरिक्त एक और भी था। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के आस-पास हमारे देश में

पश्चिम से एक सर्वथा विदेशी, भिन्न प्रकार की नाट्य परंपरा का सन्निवेश हुआ, जो क्रमशः हमारी शिक्षा-दीक्षा के फलस्वरूप, तथा अन्य नानाविध कारणों से, हमारे ऊपर आरोपित हो गयी और क्रमशः हमारे समस्त नगर रंग जीवन को उसी ने घेर लिया। इसने नाटक के संबंध में हमारे दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन किये। जिस समय देश में इसका प्रारंभ हुआ था, संस्कृत नाट्य परंपरा सर्वथा विस्मृत थी, और मध्यकालीन लोक नाट्य परंपरा विकृत और तिरस्कृत अवस्था में थी। फलस्वरूप पश्चिमी रंगमंच ने हमें पूरी तरह अभिभूत कर लिया। अवश्य ही हमारे नाटक लेखन और प्रदर्शन में पश्चिमी व्यवहारों और विचारों के समावेश के विभिन्न चरण हैं पर क्रमशः उसने हमारे रंगकार्य में एकाधिकार प्राप्त कर लिया इसमें कोई संदेह नहीं।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में पश्चिम से अंग्रेज उपनिवेशवादियों के माध्यम से जो रंगमंच हमारे देश में आया वह भी दुर्भाग्यवश पश्चिम का तत्कालीन यथार्थवादी, विद्रोही, तीव्र सामाजिक चेतना जागृति और आलोचना का रंगमंच नहीं, बल्कि अत्यन्त पिछड़ा हुआ, अलंकरणप्रधान अथवा विक्टोरियन पाखंडपूर्ण आचार-व्यवहार का रंगमंच था, जिसमें दिखावे का, बनावटीपन और अतिरंजना का, बोलबाला था। वह मूलतः ह्रासोन्मुख रंगमंच था जिसे अंग्रेजों ने इस देश पर जाने-अनजाने थोप दिया। उसने हमारे देश की अपनी संगीत-नृत्य तथा अलंकारप्रधान पौराणिक लोकनाट्य परंपरा के साथ गडमड होकर एक बड़ा विचित्र-सा रूप ले लिया, जो पारसी रंगमंच में, और उसी जैसे देश के अन्य भागों के रंगमंचों में, प्रकट हुआ। उसके प्रभाव से देशभर में प्रायः हर भाषाई क्षेत्र में घुमंतु और कहीं-कहीं स्थानिक व्यवसायी मंडलियाँ बनीं, हर भाषा में पश्चिमी शैली पर नाटक लिखे और खेले गये, अंग्रेजी से अनुवाद और रूपांतर करके खेले गये, अभिनय और प्रदर्शन की पश्चिमी शैलियाँ या उनसे मिलती-जुलती शैलियाँ अपनायी गयीं, नाटकघर बने, और इस प्रकार एक नयी, बाहर से आरोपित, नाट्य परंपरा की शुरुआत इस देश में हुई। कुछ अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर और स्थानीय नाट्य प्रेम के आधार पर, बँगला और मराठी में विशेष रूप से, और किसी हद तक गुजराती और तमिल में, इस नये रंगमंच ने अधिक उन्मुक्त और समृद्ध विकास पाया। अब एक नयी रंगमंच शैली इन भाषाओं में रूप लेने लगी जिसमें पश्चिमी पद्धतियों का एक परिवर्तित रूप प्रकट हुआ और जिसका अपना अलग व्यक्तित्व भी किसी हद तक बना। किन्तु स्पष्ट है कि इस विशिष्टता के बावजूद इस रंगमंच की जड़ें हमारे देश में, हमारी सांस्कृतिक दृष्टि और व्यवहार में न थीं। इसलिए उसका जो भी विकास होता रहा वह बहुत स्वाभाविक और सहज न था, और जहाँ वह आधुनिक रंगमंच को किसी न किसी रूप में लोकप्रिय और परिवेश का

अनिवार्य अंग बनाता था, वही उसे हमारे मूल जीवन और कला दृष्टि से दूर भी ले जाता था। दूसरी ओर, वह पश्चिम के अपने रंगमंच में होने वाले उन क्रांतिकारी परिवर्तनों से भी कटा हुआ था जो वहाँ के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश से उद्भूत थे, पर हमारे लिए अपरिचित और अप्रासंगिक थे, हमारी अपनी सामाजिक तथा मानसिक स्थितियों से जुड़ न पाते थे। हमारे देश के आधुनिक रंगमंच की इस आरोपित परोपजीवी प्रकार की वृद्धि का हमारी आज की रंगमंचीय परिस्थितियों से बड़ा गहरा संबंध है जिसे पूरी तरह पहचाने बिना हम अपनी परिस्थिति के ठहरावों को तोड़ नहीं पायेंगे।

हमारे देश में गंभीर रंगमंच की ओर रुझान क्रमशः उस शौकिया अव्यवसायी रंगमंच में से हुआ जिसने इसे आजीविका से अधिक अपनी आत्माभिव्यक्ति और आत्मान्वेषण का साधन बनाना प्रारंभ किया, सामाजिक यथार्थ *के उद्घाटन और समुदाय के साथ उसकी अनुभूति में सहभागिता का प्रयास* किया। और जहाँ देश के विभिन्न भागों में व्यवसायोन्मुख अथवा मनोरंजनोन्मुख रंगमंच मौजूदा स्थितियों से संतुष्ट है, या उनके उन्हीं दिशाओं में अधिकाधिक विकास की संभावनाएँ देख पाता है, वहीं गंभीर सर्जनशील रंगकर्मी के सामने भारतीय रंगदृष्टि की खोज और पहचान का प्रश्न, और इसलिए अपनी रंग परंपरा की पहचान का प्रश्न, अत्यंत महत्वपूर्ण है और उसके भीतर तीखे आत्ममंथन की सृष्टि करता है।

इसका प्रधान कारण यह है कि हमारे देश का जागरूक रंगकर्मी एक चौराहे पर खड़ा है। वह अपने रंगकार्य को अपने और अपने परिवेश के जीवंत अनुभव का, उसकी समस्त जटिलताओं, उलझावों और विशिष्ट परिणतियों का माध्यम बनाना चाहता है। अन्य सर्जनशील कर्मियों की भाँति उसके मन में व्यक्ति को, और उसके अन्य व्यक्तियों के साथ संबंधों को, अपने विशिष्ट संदर्भ में देखने, उनके सही रूप का अन्वेषण करने, और फिर उन्हें अपने कार्य में अभिव्यक्त करने, की इच्छा है। पर माध्यम के रूप में रंगमंच एक ओर इतना अधिक सामूहिक है, और दूसरी ओर समुदाय के भाव-जगत के साथ वर्तमान रंगदृष्टि का कोई पारंपरिक अथवा गहरा दूरव्यापी संबंध स्पष्ट नहीं है, जिसको आधार बनाकर वह अपनी नयी रंगदृष्टि का विकास करे। नवीन कुछ भी करना चाहते ही वह पश्चिमी प्रयोगवादी पद्धतियों और दृष्टियों में ही और भी उलझ जाता है, जो एक प्रकार से उसे अपने निजी परिवेश और उसकी गहरी पृष्ठभूमि से और भी काट देती हैं। स्तानिस्लावस्की या ब्रेख्ट, गार्डन क्रेग या तैरोव, आर्तो, ज़ेने या इयोनेस्को, सब अपने विद्रोह और अस्वीकृति में भी अपने अपने परिवेश से जुड़े हुए हैं, और उनकी दृष्टियों की सार्थकता उनकी *अपनी परंपरा के एक विशेष कालखंड में एक विशेष प्रकार से सार्थक या असार्थक*

हो उठने से उत्पन्न होती है। हमारा रगकर्मी उनका अनुकरण मात्र करके अधिक से अधिक दूसरे दर्जे का ही काम कर सकता है। फ्रास, जर्मनी या अमरीका के रगमच की विभिन्न नवीनतम पद्धतियो मे अपनी रगदृष्टि को समोकर वह तात्कालिक चमत्कार या सफलता भले ही प्राप्त कर ले, पर उससे उसे अपने रगमच को अपने समुदाय की चेतना और सास्कृतिक दृष्टि तथा अवचेतन भावधाराओ से जोडने मे सफलता नही मिलेगी, और हमारी अपनी सास्कृतिक-सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियो के साथ आत्यतिक रूप मे समजित न होने के कारण उसमे वह शक्ति तथा अनिवार्यता न आ सकेगी जो समर्थ कलासृष्टि मे अपेक्षित है।

इस परिस्थिति का एक प्राय हास्यास्पद रूप यह है कि बहुत बार हमारे रगकर्मी को पश्चिम से प्राप्त नवीनतम व्यवहारो म अपने ही देश के प्राचीन अथवा मध्ययुगीन रगमच की पद्धतियाँ, रूढियाँ तथा अभिप्राय मिल जाते हैं, जिन्हे पश्चिमी रगकर्मियो ने अपनी नवीनता और कलात्मक सार्थकता की खोज मे *प्राच्य रगमचीय परपराओ से प्राप्त किया था।* इस कारण भी भारतीय सर्जनशील रगकर्मी के लिए यह सर्वथा आवश्यक हो गया है कि अपनी नयी रगदृष्टि के विकास के लिए वह अपनी प्राचीन तथा मध्युगीन परपराओ के सूत्रो को अधिक गहराई से खोजे और आज के जीवन से साक्षात्कार के सदर्भ मे उनकी कलात्मक सार्थकता और प्रासगिकता का सावधानी से परीक्षण करे।

यह बात सर्जनशील रगकर्मी को समझनी ही होगी कि परपरा की पहचान के अभाव मे सार्थक और जीवन से सश्लिष्ट कलासृष्टि की समस्याएँ रगमच मे तीव्रतम हैं, क्योकि रगमच एकाधिक स्तरो पर सामुदायिक विधा है जिसमे सप्रेषण समुदाय द्वारा स्वीकृत रूढियो और अभिव्यक्ति के सामुदायिक अनुभव से सम्बद्ध होने से जुडा हुआ है। कलात्मक अद्वितीयता तथा विशिष्टता की खोज रगमच मे सामुदायिक जीवन की भगिमाओ और अतर्भूत प्रेरक प्रवृत्तियो *तथा* उनके पारपरिक सामुदायिक अभिव्यक्ति रूपो के सबध की ओर भी गहरी तलाश द्वारा सभव होगी। अन्य कला रूपो से इस बात मे रगमच भिन्न भी है और उसका कार्य अधिक कठिन भी। इसलिए नयी सर्जनशील रगदृष्टि का विकास विभिन्न परपरा सूत्रो को जोडकर, उनके नये परिप्रेक्ष्य मे सतुलन और समन्वय द्वारा ही, सभव हो सकेगा। यथार्थवादी निर्जीवता को छोडकर सर्जनशील रगमच की रचना के लिए कौन-से तत्त्व सहायक हो सकते हैं और वे कहाँ से कैसे रगकर्मी को प्राप्त हो सकते हैं, और भारतीय सामुदायिक जीवन मे वे किस सीमा तक अपनी सप्रेषणीयता बनाये रख सकेंगे—इन प्रश्नो का कोई बँधा-बँधाया उत्तर नही हो सकता। वह हर सर्जनशील कर्मी को स्वय परपरा से जीवित सबध स्थापित करके ही खोजना और पाना पडता है। किंतु आज के रगकर्मी के सामने

हमारी रंगमचीय परंपरा के तीनो स्तर—संस्कृत नाट्य, लोकनाट्य और पश्चिमी रंगमंच—एक नये संबंध मे और समन्वीकरण मे उपस्थित हैं। उनका बेभिझक सामना करके और आज के जीवन के साथ उन्हे सार्थक रूप मे सम्बद्ध करके ही वह अपने रंगकार्य की मूलभूत समस्याओं को सुलभा सकेगा। इन तीनो मे से किसी के भी निषेध अथवा अस्वीकार द्वारा, या उनके यांत्रिक, शैक्षिक अथवा फैशनेबल स्वीकार द्वारा, वह अपने क्षेत्र या भाषा मे कोई ऐसा रंगमंच विकसित नही कर सकता जो मूल्यवान, सार्थक और जीवंत अनुभव को मूर्त करने के साथ-साथ *किसी कलात्मक-सर्जनात्मक उपलब्धि का भी साधन बन सके* और इस प्रकार समुदाय के सांस्कृतिक जीवन को अधिक संवेदनशील और समृद्ध बनाने मे योग दे सके। परंपरा के प्रश्न से निर्भीक साक्षात्कार आज के हमारे रंगमंच का एक अत्यंत ही मूलभूत और अनिवार्य प्रश्न है जिसका समाधान खोजकर ही हम वह रंगदृष्टि पा सकेंगे जिसे हम अपनी कह सकें, जिसमे हमारी अपनी पहचान हो, हमारा अपना व्यक्तित्व अपनी पूरी सर्जनशीलता मे वर्तमान हो।

●

परिशिष्ट

(अ) नाटक का अनुवाद

हमारे देश की प्रत्येक भाषा म उच्च कोटि के अभिनेय नाटकों की इतनी कमी है कि रंगमच के उत्थान की कोई भी योजना अथवा परिकल्पना देश-विदेश की विभिन्न भाषाओं के नाट्य साहित्य के अनुवाद के बिना पूरी नहीं हो सकती। वैसे भी ससार के रंगमच के इतिहास मे रंगमच के उत्कर्ष के युग अनिवार्य रूप से अन्य भाषाओं के श्रेष्ठ नाटकों के अनुवाद के युग भी रहे हैं। ससार की कम उन्नत भाषाएँ ऐसी हैं जिनमे शेक्सपियर, इब्सन आदि महान् नाटककारों की रचनाएँ अनूदित होकर अभिनीत न हुई हो।

हिन्दी म भी पिछले सौ वर्षों मे लगातार सस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं तथा अंग्रेज़ी से नाटकों के अनुवाद होते रहे हैं। किंतु इन अनुवादों के अभिनय के लिए हाथ मे लेते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि वे कितने दोषपूर्ण और मूल रचना की मुख्य मौलिक विशिष्टताओं को हिन्दी मे प्रस्तुत करने म कितने असमर्थ रहे है। यो तो हर प्रकार के सर्जनात्मक साहित्य का सफल अनुवाद कठिन और अत्यत परिश्रम-साध्य होता है, पर नाटकों के अनुवाद मे कुछेक अतिरिक्त मूलभूत कठिनाइयाँ हैं जिन पर प्राय अनुवादकों द्वारा समुचित ध्यान नहीं दिया जाता और केवल भाषान्तर, और अधिक से अधिक किसी न किसी प्रकार मुख्य विचारों की अभिव्यक्ति, मात्र से सतोष कर लिया जाता है।

नाटक के अनुवाद की समस्या का मूल नाटक की विधा मे ही निहित है। *केवल सवादात्मक कथा का नाम नाटक नहीं है। नाटक ऐसी सवादात्मक कथा* है जिसे अभिनेता किसी न किसी रंगमच पर दर्शकों के सामने प्रस्तुत कर सकें और करें। जो नाटक अभिनेय नहीं हैं, उनकी गणना मूलत नाटकों मे नहीं, काव्य अथवा अन्य साहित्य रूपों के साथ होती है। नाटक रूप में स्वीकृत होने के लिए रचना का अभिनेय होना सर्वथा अनिवार्य बात है। इसी से यदि अभिनय-जैसे *अभिव्यक्ति के एक भिन्न तथा अन्य माध्यम से आत्यतिक रूप मे सम्बद्ध* होने से नाटक रचना का कार्य कठिन है, तो एक भाषा से दूसरी मे उसका रूपान्तर और भी कठिन होता है। किसी भाषा म नाटक का अनुवाद भी मूल की भाँति ही अभिनेय हो तथा उसे मूल नाटक की सम्पूर्ण अर्थवत्ता मे और

उसके विभिन्न आयामो मे दृश्य और रूपायित किया जा सके, इसके लिए दो भाषाओ के ज्ञान के साथ साथ अनिवार्य रूप मे सामान्य रग विधान से और सम्भवत मूल नाटक की रग परम्परा से परिचय अत्यन्त आवश्यक है। क्योकि नाटक के सवादो म ध्वनित और अभिप्रेत अर्थों का बहुत-सा सदर्भ उसके रग-विधान म होता है। सवाद नाटक के रूप के कार्य व्यापार से, अग-परिचालन, गतियो और मुखाभिनय स अविच्छिन्न रूप से जुडे होते हैं। यदि इन बातो से अनुवादक का परिचय व्यावहारिक न हो तो वह न तो भावानुकूल उपयुक्त शब्द ला सकेगा न पूरी पद-रचना ऐसी कर सकेगा जिसका उसमें अभिप्रेत बाह्य तथा आतरिक कार्य-व्यापार से सामजस्य हो। नाटकीय सवाद म बहुत बार लक्ष्यार्थ और व्यग्यार्थ ही प्रधान और नियामक होता है और इन अर्थों का सम्बन्ध समस्त नाट्य परपरा और कार्य-व्यापार से होता है जिसे समझे बिना उपयुक्त अनुवाद सभव नही। वास्तव म नाटक के अनुवाद को साहित्यिक अनुवाद कार्य से भिन्न मानना चाहिए और अनुवादक के लिए रगमच का व्यावहारिक अनुभव अनिवार्य शर्त्त होनी चाहिए।

इस सामान्य आवश्यकता और सीमा के भीतर भी नाटक के अनुवाद की अन्य विशिष्ट शिल्पगत समस्याएँ है जिन पर विचार करना आवश्यक है। नाटक पूर्णत सवाद प्रधान साहित्य विधा है जिसम विषय-वस्तु का हर पक्ष—कथानक, विचार-तत्त्व, चरित्र भाव-जगत, कार्य व्यापार, सघर्ष, आदि, सभी कुछ—सवादो के माध्यम से व्यक्त होता है। बहुत बार विभिन्न पात्रो के व्यक्तित्व पर विभिन्न रीति से बल देकर ही, उनके परस्पर आत्म-प्रकाशन की शैली और विशिष्टताओ के सधान और तुलना अथवा विभिन्नता-मूलक सतुलन द्वारा ही, लेखक का मूल मतव्य नाटक का मौलिक वक्तव्य और उद्देश्य, अभिव्यक्त होता है। इसलिए नाटक के सवादो का अनुवाद भाषा और अभिव्यक्ति की सर्वथा विशिष्ट प्रयोग-क्षमता की अपेक्षा रखता है। विशेषकर *प्रत्येक पात्र का व्यक्तित्व उसके बात कहने के ढग से,* उसकी शब्दावली से, उसके विभिन्न वाक्याशो पर बल स, उक्ति की सम्पूर्ण शैली से, अभिन्न रूप मे जुडा होता है। इसलिए सवाद के अनुवाद मे केवल उक्ति के अर्थ अथवा भाव का प्रकाश ही पर्याप्त नही है, उसे पात्र के व्यक्तित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति होना चाहिए, उसके द्वारा पात्र की शिक्षा-दीक्षा, सामान्य मनोवृत्ति, उसका आर्थिक *सामाजिक, सास्कृतिक परिवेश, अधिक से अधिक परिलक्षित होना आवश्यक है।* बहुत बार पात्र की अवस्था, आयु, जीवन के अनुभव, उसके भावात्मक और बौद्धिक स्तर आदि को भी लेखक उसके सवादो की शैली द्वारा न केवल सम्प्रे-*षित करता है, बल्कि उस सप्रेषण के फलस्वरूप सम्पूर्ण नाटक के मूल मतव्य* की अभिव्यक्ति को पुष्ट करके प्रभाव की एक विशेष स्थिति उत्पन्न करता

चाहता है। अनुवाद में भी यथासम्भव ऐसा प्रभाव उत्पन्न हो सकना आवश्यक है।

इसी प्रकार नाटक के अनुवाद में भाषान्तर के साथ-साथ एक प्रकार का भौगोलिक स्थानान्तरण भी होता है और मूल नाटक के विभिन्न पात्रों की भाषा के पारस्परिक शैलीगत संतुलन को कई बार सर्वथा भिन्न उपायों द्वारा स्थापित करना अनुवादक के लिए आवश्यक हो जाता है। उदाहरण के लिए, यह बहुत ही संभव है कि एक रागी परम्परावादी और कट्टरपंथी व्यक्ति के संवाद दो अलग अलग भाषाओं में सर्वथा भिन्न प्रकार के तत्त्वों द्वारा अभिव्यक्त करना आवश्यक हो जाय। शब्दों के ऊपर यह आंतरिक भार नाटक के अनुवाद का बड़ा ही आवश्यक तत्त्व है जिसके लिए सजग और सतर्क न होने के कारण अनुवाद में नाटक कई बार सर्वथा भिन्न अर्थ देने लगता है अथवा अर्थशून्य हो जाता है।

संवादों की भाषा के पात्रानुरूप होने की अनिवार्यता भी अनुवादक के लिए बड़ी कठिन समस्या उपस्थित करती है। इस समस्या के दो लगभग परस्पर विरोधी छोर हैं। एक ओर भाषा का इतना अभिव्यंजनापूर्ण और सूक्ष्म अभिव्यक्ति के उपयुक्त होना जरूरी है कि विभिन्न पात्रों के व्यक्तित्वों की बहुत-सी पर्तें दिखा सके, दूसरी ओर वह बोलचाल की भाषा से बहुत दूर नहीं हो सकती। नाटक के संवाद मूलतः किसी न किसी मानवीय व्यापार में प्रवृत्त व्यक्तियों द्वारा बोले जाते हैं। नाटक के चरित्रों की विश्वसनीयता, प्रभावोत्पादकता, स्वाभाविकता बहुत बड़े अंश में संवादों की स्वाभाविकता पर ही निर्भर होती है। अपने दैनिक जीवन में हम हर प्रकार की मनःस्थिति, भाव और विचार को, विषय और परिस्थिति के अनुसार, जिससे बात कर रहे हैं उसकी ग्रहणशीलता के स्तर के अनुसार, उपयुक्त भाषा में सहज ही व्यक्त करते हैं। पर नाटक में अत्यन्त ही घनीभूत रूप में यह सहजता का प्रभाव उत्पन्न करना भी आवश्यक होता है, और साथ ही अपनी दैनिक जीवन की भाषा की बहुत-सी भूलों, भ्रष्टताओं, अस्पष्टताओं से भी नाटकीय संवाद को बचाना होता है। कभी-कभी किसी विशेष इच्छित प्रभाव के लिए बोलचाल की कुछेक भ्रष्टताएँ भी किसी पात्र के संवादों में नाटककार रखता है, पर वहाँ भी मूलतः सर्वथा यथार्थ बोली जानेवाली भाषा नहीं, बल्कि उसका एक प्रकार का संपादित रूप ही नाटक में काम आता है। इस प्रकार नाटकीय संवाद पात्रों के उपयुक्त और उनके लिए सहज स्वाभाविक भाषा के एक संपादित और कलात्मक तथा निखरे हुए रूप में लिखे जाते हैं। कम से कम श्रेष्ठ नाट्य रचना के संवादों में हर स्तर पर यह गुण पाया जाता है। नाटकों के अधिकांश अनुवादों में संवाद की यह सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता प्रायः नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। अधिकांश अनूदित

नाटको के सभी पात्र एक-सी, वैशिष्ट्यहीन, शुद्ध संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक पदावली में बातचीत करते पाये जाते हैं। इस भाषा में पात्रों के व्यक्तित्वों की विभिन्नता अभिव्यक्त तो नहीं ही होती, उसके बोलने, उच्चारण करने तक में कठिनाई होती है। हिन्दी में उपलब्ध अधिकांश अनूदित नाटकों को रंगकर्मी—निर्देशक, अभिनेता आदि—हाथ लगाते डरते हैं, क्योंकि उनमें प्रयुक्त संवादों को *अभिनेता न तो स्वाभाविक ढंग से बोल सकते हैं, न उनके माध्यम से* अपना चरित्र ही प्रकाशित कर सकते हैं।

हिन्दी के विशेष संदर्भ में इस समस्या का एक और भी पक्ष है। विभिन्न ऐतिहासिक कारणों से आज की पुस्तकों में लिखी जानेवाली भाषा में मुहावरे का बड़ा अभाव है। छायावादी युग ने जहाँ हिन्दी गद्य को नीरसता, इतिवृत्तात्मकता और निष्प्राणता से उबार कर उसे रंगीनी, संगीतात्मकता और भावप्रवणता प्रदान की, वहीं उसकी स्वाभाविकता छीन ली, उसमें से बोलचाल के *मुहावरे को निकाल बाहर किया। उर्दू-हिन्दी के झगड़े ने भी हिन्दी को मुहा*विरे से दूर रखने में योग दिया है। उर्दू में काव्य और गद्य दोनों में आज भी कहीं अधिक मुहावरे का प्रयोग है, बल्कि मुहावरे के समुचित और उपयुक्त प्रयोग को उर्दू लेखन-शैली की एक प्रधान कसौटी माना जाता है। एक यह भी बड़ा कारण है कि नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत करने के इच्छुक लोगों को उर्दू लेखक, उर्दू जाननेवाले अनुवादक, उर्दू मिश्रित भाषा, से अधिक समीपता अनुभव होती है। वास्तव में वह उर्दू गद्य के बोलचाल की भाषा के अधिक *समीप होने की परोक्ष स्वीकृति है। नाटक के सफल अनुवाद में हिन्दी के मुहा*विरों पर अधिक से अधिक अधिकार होना सर्वथा आवश्यक है। मुहावरों का समुचित प्रयोग मूल तथा अनूदित नाटकों की भाषा को कृत्रिम होने से बहुत कुछ बचा सकता है और उर्दू तथा संस्कृत के अन्य शब्दों को आवश्यक रूप में परस्पर जोड़ने की कड़ी का काम दे सकता है। हिन्दी की बोलचाल की भाषा और मुहावरे हिन्दी उर्दू की मिली जुली सम्पत्ति है, वह ऐसी मौरूसी विरासत है जिससे मुँह फेर कर हम अपनी भाषा की बुनियाद से मुँह फेरते हैं। नाटक *और उनके अनुवाद का काम हमारे लिए इस दिशा में चुनौती है जिससे बचने* की कोई गुंजाइश नहीं।

बोलचाल की भाषा का एक और पक्ष है, उसमें अंग्रेज़ी शब्दों का और बहुत-से तद्भव आंचलिक शब्दों का प्रयोग। साधारण बोलचाल में प्रयुक्त अंग्रेज़ी शब्दों का नाटक में प्रयोग करने का सबसे दिलचस्प उदाहरण कन्नड़ के विख्यात नाटककार कैलासम के नाटकों में मिलता है। उनके नाटकों के संवादों में कभी-कभी तो पचास-साठ फीसदी अंग्रेज़ी शब्द होते हैं। इस कारण विषय-वस्तु *की गहराई के बावजूद* उनका अभिनय बड़े सीमित वर्ग में ही होता है।

प्रश्न यह है कि क्या उन नाटकों के अनुवाद में अंग्रेजी शब्दों और वाक्यों को यथावत् रहने दिया जाय? विशुद्ध यथार्थवाद और मूल नाटक के रूप की रक्षा की दृष्टि से शायद यही ठीक हो। पर सम्भवतः नाटक की अभिनेयता और सम्प्रेषणीयता की दृष्टि से यही प्रभाव किसी और उपाय से उत्पन्न किया जा सके तो उत्तम है। इसी प्रकार अंग्रेजी के नाटक में कोई पात्र बीच बीच में यदि फ्रेंच अथवा जर्मन भाषा के शब्द बोलते दिखाए गये हों तो उनके अनुवाद में भी पात्र के उस चरित्रगत अभ्यास के उद्देश्य को ध्यान में रखकर ही भाषान्तर करना उचित होगा।

इससे भी जटिलतर समस्या बोलियों के अनुवाद की है। आधुनिक नाटकों में पात्रगण यथार्थवाद के लिए, अथवा चरित्र की स्वाभाविकता तथा वातावरण की स्थापना के लिए, बहुत-से पात्र अपने क्षेत्र या प्रदेश की बोली में कथोपकथन करते हैं। बँगला के नाटकों में इसका बहुत ही प्रचार है, और बहुत-से अमरीकी नाटकों में भी स्थानीय बोली का प्रयोग प्रायः होता है। इनके अनुवाद में भी क्या हिन्दी की किसी बोली का प्रयोग होना चाहिए और किसका? इस प्रश्न का उत्तर आसान नहीं है। हिन्दी की किसी एक बोली में अनुवाद नाटक क्षेत्र को सीमित कर देगा और यह भी सम्भव है कि वह बोली-विशेष मूल की बोली के इच्छित प्रभाव की रक्षा न कर सके। साथ ही हिन्दी-भाषी नगरों में बोलियों में संवाद समुचित रूप में बोलनेवाले अभिनेता आसानी से नहीं मिलते और नाटक को अभिनयोपयोगी बनाने की दृष्टि से बोलियों में अनुवाद कई कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है। उसके बजाय, कम से कम अधिकांश नाटकों के अनुवाद में, कुछेक आंचलिक शब्दों के प्रयोग और वाक्य-योजना में परिवर्तन द्वारा सम्भवतः बहुत कुछ वही प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है जो मूल में बोली के प्रयोग द्वारा अभिप्रेत है। वास्तव में अनुवाद की सफलता की कसौटी पात्रों के अनुरूप संवादों में स्वाभाविकता, उच्चारण-सुविधा, सरलता, लचीलापन तथा पारदर्शिता आदि विशेषताएँ ही हैं, जिनके द्वारा मूल नाटक का इच्छित प्रभाव अनुवाद में यथासम्भव लाया जा सकता है।

नाटक के संवादों की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता है उनका ध्वनि-संयोजन। प्रत्येक भाषा के उच्चारण का अपना एक संगीत होता है जिसमें बहुत बार उसकी विशेषता, उसका सौन्दर्य भी निहित होता है, और उसकी अर्थ और भाव व्यंजित करने की क्षमता भी। स्पष्ट ही अनुवाद में इसकी रक्षा प्रायः सृष्टि लगभग असंभव है। किन्तु अनुवाद की भाषा का एक अपना निजस्व नाद-सौन्दर्य भी तो होता है। नाटक के अनुवादक का उसके प्रति संवेदनशील और सजग होना बहुत आवश्यक है। कुशल अभिनेता और निर्देशक अनजाने ही, और बहुत बार सचेष्ट रूप से, संवादों के उच्चारण द्वारा ध्वनियों

का एक वितान जैसा तैयार करता है, जिसमें भावानुरूप विविधता उत्पन्न करके वह उसे एक निश्चित उत्कर्ष की ओर ले जाता है। श्रेष्ठ नाटक की भाषा में यह विशेषता अनिवार्य रूप से होनी ही है। शेक्सपियर और रवीन्द्रनाथ ही नहीं, किसी अन्य श्रेष्ठ नाटककार की रचनाओं में यह गुण अवश्य पाया जाता है। अनुवाद की भाषा में ध्वनियों और नाद में, स्वराघात और व्यंजन ध्वनियों की योजना में, तारतम्य, विविधता, सुसंगति और उतार-चढ़ाव होना आवश्यक है, नहीं तो रंगमंच पर जाकर नाटक में बड़ी कर्णकटुता और स्वर-विषमता उत्पन्न हो जाने की आशंका है। वास्तव में यदि बोली जानेवाली भाषा पर अनुवादक का अधिकार है और उसकी ध्वनिमूलक सम्भावनाओं से वह परिचित है तो उसे इस कार्य में अधिक कठिनाई न होगी और तभी वह संवादों को एक-रस, वैचित्र्यहीन और फीके होने से बचा सकेगा।

नाटक के अनुवाद का अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व है वातावरण की सृष्टि। प्रत्येक नाटक कोई न कोई सामाजिक परिवेश प्रस्तुत करता है और कभी-कभी विशेष प्रकार का मानसिक अथवा आध्यात्मिक वातावरण भी। पात्रों के संवादों द्वारा अनुवाद में उसकी रक्षा होना आवश्यक है। देहाती जीवन के नाटकों में, औद्योगिक केन्द्रों के यांत्रिक जीवन के नाटकों में, प्रतीकात्मक महत्त्व के और रहस्यमय परिस्थितियों का चित्रण करनेवाले नाटकों में, वातावरण नाटकीय प्रभाव का मूलभूत अंग होता है। शेक्सपियर की त्रासदियों में घेरती हुई नियति का आतंकपूर्ण त्रासदायक वातावरण संवाद-योजना में भी पूरी तरह परिलक्षित होता है। 'हैमलेट' के प्रारम्भिक संवाद ही मन में जैसे किसी आसन्न संकट का खटका उत्पन्न करते हैं। यदि अनुवाद में यह प्रभाव अनुवाद की भाषा की अपनी विशेषताओं द्वारा न उत्पन्न किया जा सका, तो मूल नाटक का बहुत-सा भावात्मक सौन्दर्य नष्ट हो जायगा। सम्भवतः अनुवाद की छंदबद्धता से अधिक महत्त्वपूर्ण यह तत्त्व है जिसे हमारे बड़े-बड़े विद्वान् साहित्यकार तक प्रायः नहीं निभा पाते। रवीन्द्रनाथ के प्रतीक नाटकों का ऐन्द्रजालिक वैभव, चेखव के नाटकों की सूक्ष्म काव्यात्मक अवसादमयता, इब्सन के कुछेक तथा स्ट्रिंडबर्ग के प्रायः सभी नाटकों की विस्फोटक तीव्रता, अथवा आधुनिक नाटककारों में इब्सनकों की दृष्टिगोचर जीवन की अवास्तविकता तथा पिरान्देलो, सार्त्र, बैकेट, एनुई, आमवार्न, टेनसी विलियम्स, आर्थर मिलर, आदि सभी प्रमुख आधुनिक नाटककारों के नाटकों का सघन वातावरण, लगभग एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप में नाटक की मूल विषय-वस्तु के सम्प्रेषण में सहायक होता है, जिसके निर्माण में लेखक संवादों की भाषा से तरह-तरह के काम लेता है। इन नाटकों का कोई अनुवाद उनके इन विभिन्न तत्त्वों की समुचित रक्षा

के बिना बहुत सफल नही हो सकता ।

रगमच पर प्रस्तुत करते समय निर्देशक नाना उपकरणो और दृश्य तथा प्रकाश-योजना द्वारा इस वातावरण का निर्माण करता है, पर सवादो और उनकी भाषाओ मे भी उस प्रभाव के लिए आवश्यक और उसके अनुरूप ध्वनियाँ, शब्द और वाक्य-योजना, तथा शैली होना जरूरी है । विशेषकर भिन्न देश-काल, तथा भावात्मक सघनता, तन्मयता और तनाव आदि प्रभाव-तत्त्व सवादो की रचना द्वारा बहुत बार बनते है और बनाय जा सकते हैं । किन्तु मूलत इसके लिए अनुवादक का नाटकीय वातावरण के विषय मे स्वय सवेदनशील होना आवश्यक है, तभी वह इस तत्त्व को समझ और निर्मित कर सकेगा ।

नाटक के अनुवाद की अन्य कठिनाइयो म हास-परिहास और व्यग के भाषान्तरण भी है । बहुत-से शाब्दिक वाग्वैदग्ध्य का तो कोई अनुवाद हो ही नहीं सकता । फिर भी प्रहसनो तथा अन्य कामदी नाटको का अनुवाद होता ही है । साधारण गभीर नाटक मे भी नाटकीय सवाद सदा व्यजना प्रधान होते हैं और उनके लिए समुचित पर्याय और समानार्थी बिम्ब तथा आलवन अनुवादक को खोजने पडते हैं । ऐसे सभी प्रयत्नो मे मूल लेखक के इच्छित नाटकीय तथा रगमचीय उद्देश्य और प्रभाव का प्रस्तुत करन का प्रयत्न अधिक वाछनीय है, शब्दश अनुवाद इतना नही ।

अभी तक सामान्य रूप से नाटको के अनुवाद की मुख्य कठिनाइयो और विशेषताओ पर विचार किया गया है । पर नाट्य-साहित्य के कुछेक ऐसे विशेष रूप भी हैं जिनके अनुवाद की इनके अतिरिक्त विशिष्ट समस्याएँ हैं, जैसे काव्य नाटको तथा सस्कृत नाटको के अनुवाद । विशेषकर शेक्सपियर, यूनानी नाटककारो, तथा रवीन्द्रनाथ के काव्य नाटको के अनुवाद मे कई प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आती रही है । शेक्सपियर के नाटक ससार की सभी भाषाओ मे अनूदित हुए है, पूर्णत पद्य मे, पूर्णत गद्य मे तथा मिश्रित गद्य और पद्य मे । सभी यूनानी नाटको के अग्रेजी तथा अन्य योरपीय भाषाओ मे पद्यानुवाद हुए हैं । कई भारतीय भाषाओ मे भी शेक्सपियर के सफल पद्यानुवाद हैं, पर रगमच पर सफलता प्राय गद्यानुवादो को ही अधिक मिली है ।

नाटक के अनुवाद के सम्बन्ध मे ऊपर जिन विशेष आवश्यकताओ और बन्धनो का उल्लेख किया गया है उन्हे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि साधारणत काव्य नाटको का अनुवाद लययुक्त उदात्त गद्य मे करना अधिक उपयोगी सिद्ध होगा । विशेषकर अ-भारतीय भाषाओ से भारतीय भाषाओ मे अनुवाद के विषय मे तो यह अत्यन्त ही आवश्यक है, क्योकि साधारणत उनके स्वर सगीत, वाक्य और पद-रचना, छद-विधान तथा बिम्ब-योजना मे इतना मौलिक अन्तर है कि नाटकीय तत्त्व के साथ इन सब बातो का निर्वाह लगभग

असम्भव हो जाता है। इसके अतिरिक्त जब तक भारतीय भाषाओं में, विशेषकर हिन्दी में, पर्याप्त संख्या में मौलिक काव्य नाटकों की रचना द्वारा काव्य नाटक की एक अधिक नमनीय, अभिव्यंजनापूर्ण, सशक्त तथा समर्थ भाषा निर्मित नहीं हो जाती तब तक अंग्रेजी से काव्य नाटकों का पद्यानुवाद व्यर्थ परिश्रम है। पिछले वर्षों में रेडियो के लिए कुछेक गेय रूपक तथा काव्य नाटक लिखे गये हैं जिनसे इस दिशा में भाषा को कुछ शक्ति प्राप्त हुई है। पर जब तक ऐसा प्रयत्न रंगमंच के लिए और व्यापक रूप में नहीं होता तब तक काव्य नाटक में *अभिव्यक्ति की मूल माध्यम भाषा इतनी अपर्याप्त, अक्षम और अनुपयुक्त* रहेगी कि सफलता बड़ी संदिग्ध है। पिछले दिनों इस प्रकार के जो प्रयत्न किए गए हैं वे इसके प्रमाण हैं। बच्चन जी के शेक्सपियर के अनुवादों में पद्या*त्मकता तो है पर काव्य प्राय अधिकांश स्थलों पर अनुपस्थित है नाटकीयता की* तो बात ही क्या! किन्तु जैसा ऊपर कहा गया लययुक्त सघन गद्य में काव्य-नाटकों का सफल अनुवाद संभव है और होना चाहिए।

काव्य-नाटक में वास्तव में पद्यात्मकता ही एक विशेष तत्त्व है जिसकी अनुवाद में रक्षा कठिन है—संभवत वह उतना अनिवार्य भी नहीं है—अन्यथा भावों की काव्यात्मकता, अनुभूति तथा चरित्र-संघात की काव्यात्मक उपलब्धि और उसकी अभिव्यक्ति के बिना कोई भी श्रेष्ठ नाटक नहीं बनता। भावों के काव्य का, जीवन के मूल उत्स और परस्पर मानवीय सम्बन्धों की सघन अनुभूति का, उद्घाटन ही श्रेष्ठ रंग-कार्य का कर्तव्य और धर्म है। नाटक के किसी भी श्रेष्ठ अनुवादक को मूलत यह पहचान होनी ही चाहिए, पर काव्य नाटक के कुछेक शिल्पगत सूक्ष्मताओं का ज्ञान भी संभवत कुछ अधिक अपेक्षित है।

जहाँ तक संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवाद का प्रश्न है उसमें कुछ अन्य प्रकार की प्राविधिक उलझन है। संस्कृत नाटक का रंग शिल्प पश्चिमी रंगमंच से प्रभावित आधुनिक नाट्य पद्धति से बहुत भिन्न है। वे सर्वथा भिन्न प्रकार की सांस्कृतिक तथा बौद्धिक पृष्ठभूमि वाले दर्शकों के लिए रचे गये थे। अनुवादक को उस रंग शिल्प और उसकी मौलिक मान्यताओं और रूढ़ियों से परिचय प्राप्त किये बिना उनके अनुवाद में हाथ न लगाना चाहिए। क्योंकि यह बात भी उतनी ही सत्य है कि संस्कृत नाटक रंग प्रदर्शन के लिए ही गये थे, काव्य के रूप में केवल पढ़े जाने लिए नहीं। दुर्भाग्यवश, उनके अधिकांश उपलब्ध रूपान्तर रंगकर्मियों ने नहीं, साहित्यकारों ने भी नहीं, संस्कृत पंडितों ने किये हैं, जो थोड़े शब्दार्थ-संग्रह और अन्वय से अधिक उपयोगी नहीं। इन *महानुभावों को संस्कृत का ज्ञान चाहे जितना रहा हो, सजीव हिन्दी भाषा का* ज्ञान बड़ा स्वल्प ही रहा है। पर आज संस्कृत नाटकों के वास्तविक सर्जनात्मक

और अभिनेय अनुवादो की आवश्यकता है जिसमे मूल रचना के काव्य और रगशिल्प के सौन्दर्य का यथासभव रूपान्तर प्रस्तुत किया जाना आवश्यक है।

इस कार्य मे सबसे बडी बाधा सस्कृत नाटको की अलकार-बहुल बिम्ब-योजना और समास-प्रधान भाषा है। उसे अपेक्षाकृत सरल किन्तु काव्यात्मक कल्पनामूलक गद्य मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न होना जरूरी है। सस्कृत नाटको का अनुवाद कल्पना प्रधान काव्य नाटको की भाँति ही हो सकता है, और अन्य काव्य नाटक की भाँति, तथा स्वय मूल सस्कृत नाटको की भाँति ही, उनके अनुवादो का प्रदर्शन भी शिक्षित और दीक्षित सहृदय सामाजिको के लिए ही हो सकता है, साधारण प्रेक्षक-वर्ग के लिए नही। सस्कृत नाटक की मूल मान्यताएँ और उसका काव्यगत चमत्कार और वैचित्र्य निश्चित रूप से पर्याप्त सास्कृतिक चेतना और सवेदनशीलता की अपेक्षा रखता है और उसे सर्वसाधारण के लिए प्रस्तुत कर सकने के उद्देश्य से उसके सरलीकरण अथवा परिवर्तन से उसका रूप विकृत, भ्रष्ट और सस्ता ही बन सकता है, गौरवपूर्ण नही। बहुत-कुछ ठीक उसी प्रकार जैसे खजुराहो के मूर्ति शिल्प का सास्कृतिक महत्त्व शिक्षित और सस्कृत व्यक्ति के लिए है, साधारण दर्शक के लिए तो वे पत्थर पर खुदी हुई कामोत्तेजक आकृतियाँ और आसना की तस्वीरें भर हैं। सस्कृत नाटको के पद्यो का अनुवाद भी काव्यात्मक गद्य मे ही उचित है यद्यपि प्रदर्शन की आवश्यकता के लिए कुछ पद्यो का पद्यानुवाद जरूरी हो सकता है। मुख्य आवश्यकता इस बात की है कि विभिन्न पात्रो की अपनी-अपनी भाषा पात्रानुरूप विविधता और विभिन्नता के साथ रूपान्तरित हो और समूचे अनुवाद मे एक विशिष्ट काव्यात्मक स्वर व्याप्त रहे जो उसे यथार्थवादी नाटक के स्तर पर उतरने से बचाए। इस दृष्टि से मोहन राकेश का 'मृच्छकटिक' का अनुवाद उल्लेखनीय है और सही दिशा की ओर सकेत करता है।

इस समूचे विवेचन मे अनुवाद से मूलत भाषान्तर द्वारा भाव और विचार तथा रचना-शिल्प के यथासभव अविकल सम्प्रेषण का अभिप्राय लिया गया है, देशकाल के अनुरूप परिवर्तन करके रूपान्तर का नही। यह एक विचारणीय प्रश्न है कि विशेषकर विदेशी नाटको के अनुवाद मे पात्रो के नामो, स्थानो और वातावरण आदि को अनुवाद की भाषा के क्षेत्र के अनुरूप परिवर्तित कर लेना चाहिए अथवा नहीं, जैसे भारतेन्दु ने शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' का अनुवाद 'दुर्लभ बधु' नाम से किया था। शेक्सपियर तथा मोलियर के बहुत-से नाटक इस प्रकार रूपान्तरित हुए हैं और उन्होंने भारतीय रगमच पर विभिन्न भाषाओ मे बडी सफलता भी पायी है। इस पद्धति मे एक ओर तो साधारणत मूल नाटक के भावो, विचारो और शिल्प के सौन्दर्य की रक्षा कठिन हो जाती है, पर दूसरी ओर रगमच पर उसकी सम्प्रेषणीयता कही

अधिक बढ जाती है।*किन्तु ऐसे अधिकाश अनुवादो मे मूल के साथ पूरा न्याय नही हो पाता और प्राय ऐसे नाटक किसी विदेशी नाटक की छाया लेकर तैयार की गयी उसकी फीकी अनुकृति मात्र रह जाते हैं। यह प्रश्न रगमच की अपनी आवश्यकताओ के साथ अधिक सम्बद्ध है और नाटको के अनुवाद की मूल भावात्मक विषय वस्तु-परक तथा शिल्पगत आवश्यकताओ से उसे अलग ही रखना चाहिए।

वास्तव म देखा जाय तो अनुवाद का सभी कार्य भाषागत जितना है उससे कही अधिक मूल रचना के भाव और विषय-वस्तु से सबधित है। किन्तु नाटक जैसी दोहरी सर्जनात्मक विधा के क्षेत्र मे तो वह बहुत बडी मात्रा मे रगमच और नाटक के गहरे व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव से सम्बन्धित कार्य है, विशुद्ध साहित्यिक अथवा भाषामूलक कार्य नही। हमारे बहुत से साहित्यिक, और विशेषकर विश्वविद्यालयो के आचार्यगण अपने अहकार मे नाटक के एक भिन्न अभिव्यक्ति माध्यम होने के सत्य को नही देखते और शास्त्रीय अथवा अन्य साहित्यिक रचनाओ की भाति बोझिल और सस्कृतनिष्ठ भाषान्तर पर जोर देते है। इसी कारण दुर्भाग्यवश प्रतिष्ठित अर्ध-सरकारी तथा व्यवसायी प्रकाशन सस्थाओ द्वारा प्रकाशित अधिकाश अनूदित नाटक प्राय रगमच के किसी काम नही आते और उनसे न तो हिन्दी के रगमचोपयोगी नाटक साहित्य की कमी दूर होती है न रगमच के विकास म तथा अन्य मौलिक नाट्य साहित्य की रचना म ही कोई सहायता मिलती है। जितने शीघ्र नाटको के अनुवाद कार्य से इन साहित्याचार्यों का वरद हस्त हटाया जा सकेगा उतने शीघ्र ही हिन्दी म नाटको के अभाव की समस्या सुलझने मे सुविधा हो सकेगी।

---

*त्रैमासिक पत्रिका 'भाषा' म प्रकाशित।

(आ) हिंदी रंगमंच : परंपरा और प्रयोग के सूत्रों का अन्वेषण

लगभग एक शताब्दी पहले जब अन्य भारतीय भाषाओं के साथ हिंदी मे भी आधुनिक रंगमंच का प्रारंभ हुआ तो यह जहां एक ओर अंग्रेजी साहित्य के परिचय-अध्ययन का, अंग्रेज शासकों के मनोरंजन प्रकारों के अनुकरण का परिणाम था, वहीं साथ ही वह देश की प्राचीन संस्कृत और मध्ययुगीन प्रादेशिक नाट्य परंपराओं के नये सिरे से अन्वेषण का परिणाम भी था। यही कारण है कि उस समय देश की लगभग प्रत्येक भाषा मे जो नयी रंगमंचीय गतिविधि आरंभ हुई, उसकी तात्कालिक प्रेरणा विजातीय होने पर भी उसकी भाववस्तु और रूपाकृति किसी भी पाश्चात्य नाट्य प्रकार से भिन्न ही नहीं थी बल्कि सम-सामयिक प्रादेशिक नाट्य रूपों से अत्यधिक प्रभावित भी थी। यह सत्य जिस प्रकार मराठी के प्रारंभिक नाटक 'सीता स्वयंवर' से, कन्नड़ के 'शाकुंतल' से, बंगला के 'विद्यासुंदर' से, स्पष्ट है, वैसे ही भारतेन्दु के नाटकों से भी। भारतेन्दु के 'अंधेर नगरी', 'भारत दुर्दशा', 'चंद्रावलि' में, यहां तक कि 'सत्य हरिश्चंद्र' में भी, विभिन्न पारंपरिक और पाश्चात्य नाट्य प्रकारों का दिलचस्प मिश्रण है। वास्तव में एक तीव्र प्रेरणा और आत्म सजगता ने रंगमंचीय कार्य-कलाप को एक नयी सार्थकता प्रदान की थी जिसके फलस्वरूप एक नया भारतीय नाट्य प्रकार रूप ले रहा था। पाश्चात्य प्रेरणा और प्रभाव के अंतर्गत प्राचीन तथा मध्ययुगीन भारतीय नाट्य परंपरा का यह सर्वथा नवीन अन्वेषण था।

हिंदी रंगमंच का लगभग तत्कालीन समानांतर अगला चरण था पारसी रंगमंच जिसका मूल प्रारंभ गुजराती मे १८५२ मे हुआ। यह रंगमंच मूलत. अर्थोपजीवी था, उसका उद्देश्य अधिकाधिक मनोरंजन द्वारा अधिकाधिक धनोपार्जन ही था। किंतु उसकी प्रेरणा एक साहसी वणिक समुदाय को विदेशी संस्कारों से प्राप्त होने पर भी, उसका भी स्वरूप मूलत स्थानीय रंग प्रकारों से निर्धारित हुआ। हमारे देश का प्रारंभिक तथा अधिकांश परवर्ती पारसी नाटक उस युग के किसी योरपीय या अंग्रेजी नाट्य प्रकार जैसा नहीं था। योरप मे उस समय यथार्थवादी रंगमंच का उदय हो रहा था और बीसवीं सदी का प्रारंभ होते-होते यथार्थवादी परंपरा के अधिकांश सर्वश्रेष्ठ नाटक—इब्सन,

स्ट्रिंडबर्ग, तालस्ताय आदि के विश्व विख्यात नाटक—लिखे जा चुके थे और रंगमंच पर महत्त्वपूर्ण यथार्थवादी निर्देशक और अभिनेता प्रकट हो चुके थे। उस युग में हिंदी में पारसी रंगमंच का—और उसी के समानांतर प्रायः प्रत्येक भाषा की व्यवसायी नाटक मंडलियों का—वह रूप विभिन्न नाट्य परंपराओं के एक नवीन भारतीय मिश्रण का ही सूचक है। शेक्सपियर के नाटक अपने विभिन्न रूपांतरों, छायानुवादों, भावानुवादों में इसीलिए भारतीय रंगमंच में पूरी तरह खप गये, क्योंकि उनकी प्रवृत्ति बहुत सी बातों में प्राचीन संस्कृत नाट्य परंपरा से मिलती थी और उन्हें आधार बना कर ऐसा रंगमंच तैयार किया जा सकता था जो पाश्चात्य और भारतीय नाटक की रूढ़ियों, व्यवहारों और पद्धतियों का कोई मिला-जुला रूप हो। इसी कारण अकल्पनीय, चमत्कारपूर्ण कार्य व्यापार से रोमांचित पारसी रंगमंच पर संगीत और नृत्य की इतनी प्रधानता होती थी, शेरों, दोहों और छंदों की भरमार रहती थी, पूरे अभिनय में एक प्रकार की कृत्रिम नाटकीयता, भावुकता, उच्छ्वास-प्रधानता और सहज अयथार्थता होती थी; समानांतर कथा के रूप में चलनेवाला हास्य, 'कॉमिक', भी प्रायः भँडैती और नक्ल के स्तर पर अकुंठित, अनर्गल तथा अबाध चलता था, दृश्यबंध में निस्संदेह लिपटवाँ परदों पर यथार्थवादी ढंग के दृश्य चित्रित होते थे जो दृश्यमूलक तत्त्वों को भड़कीला, रंगीन, और आकर्षक बनाने में सहायक समझे जाते थे।

प्रसाद के नाटक एक भिन्न स्तर पर पारसी रंगमंच के युग की ही चरम उपलब्धि के सूचक हैं। प्रसाद के नाटक पारसी रंगमंच की बुनियाद पर ही खड़े हैं, उनका कार्य-व्यापार का विन्यास, दृश्य संयोजन, रूपबंध, सब कुछ पारसी रंगमंच की रूढ़ियों और व्यवहारों से निर्धारित हुआ है। प्रसाद का महान योगदान इस में है कि अपने नाटकों में उन्होंने एक भिन्न प्रकार की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का अन्वेषण किया, नाटक और रंगमंच दोनों को सर्जनात्मक स्तर प्रदान किया और सार्थक बनाया। इसीलिए प्रसाद के नाटक *उसी प्रकार मंचोपयुक्त हैं जैसे पारसी रंगमंच के अन्य नाटक, यद्यपि रंगमंच की* दृष्टि से आगा हश्र के कुछ नाटकों का रूपबंध कहीं अधिक सुगठित और कुशलता-पूर्ण है।

किंतु पारसी रंगमंच अपनी ही आंतरिक कृत्रिमता, जड़ता और विसंगतियों के कारण धीरे-धीरे अंततः नष्ट हो गया। उसकी इस परिणति का एक कारण यह भी था कि पारसी रंगमंच हिंदी क्षेत्र में मूलतः अजनबी था, बाहरी और विजातीय था, उसका प्रदेश के सांस्कृतिक मानस के साथ राधेश्याम कथावाचक के बावजूद भाषा के साथ, जीवन के साथ कोई आंतरिक संबंध न था, उसकी कुरूपता, फूहड़ता भी हिंदी-भाषी जनता की अपनी न थी, उसके

सचालक भी अन्य प्रदेश के, अन्य भाषा भाषी, अन्य तथा भिन्न सास्कृतिक परिवेश की उपज थे। पारसी रगमच के स्वरूप और उसकी इस परिणति की विस्तार से चर्चा का यह अवसर नहीं है। किंतु हिंदी रगमच की परपरा का सही परिप्रेक्ष्य मे आकलन उसके इस दौर को ठीक से समझे बिना कठिन है। पारसी रगमच ने हिंदी रगमच के विकास और स्वरूप पर बडी गहरी बुनियादी छाप छोड़ी है और परवर्ती काल के पृथ्वी थियेटर्स और सम-सामयिक कलकत्ते की मून लाइट कपनी तथा लगभग उन्ही आदर्शों और मूल्यो को अभिव्यक्त करने वाला दिल्ली का थी आर्टस क्लब, अथवा हिंदी प्रदेश के विभिन्न नगरो और कस्बो के नाट्य दल उसी परपरा को अधूरे अदात्त रूप म बार-बार अभिव्यक्त करते रहते हैं। यदि वह परपरा प्रदश की अपनी और गहरी तथा स्थायी होती तो अन्य प्रदेशो की भाँति आज यहाँ भी उसका एक अन्य रूप दिखाई पडता होता, और जो यथार्थवादी पाश्चात्य प्रभाव हलका-फीका-सा केवल नाटका म आया वह रगमच पर भी प्रकट होता। सभवत तब आज के गभीर हिंदी रगकर्मी का सघर्ष और भी अधिक तीव्र और तीखा होता, यद्यपि निस्सदेह तब वह बँगला, मराठी आदि भाषाओ की भाति अधिक वास्तव और जीवत तथा सार्थक भी होता। पर उसकी चर्चा बाद मे करेंगे।

किंतु पारसी रगमच नष्ट होने के साथ ही हिंदी रगमच की निरतरता फिर से नष्ट हो गयी और देश की सास्कृतिक चेतना पर बढता हुआ यथार्थवादी प्रभाव अधकचरा-सा केवल नाटक पर ही हुआ, अथवा स्कूलो कालेजो और विश्वविद्यालयो म यदा-कदा होनेवाले प्रदर्शनो पर। तीसरी और चौथी दशाब्दी मे हिंदी रगमच का अल्पप्राण क्रिया-कलाप शिक्षा सस्थाओ मे सीमित हो कर रह गया और उसका सबध पूरी तरह विदेशी नाटक से जुडकर भारतीय रग परपरा से एकदम टूट गया। यही कारण है कि दूसरे महायुद्ध के समय और स्वतत्रता के पूर्व और बाद मे हिंदी रगमच का अटकता-सा नवोत्थान सीधे ऊपरी बाह्य यथार्थवादी स्तर पर प्रारभ हुआ, जब कि अन्य भाषाओं म गहरे यथार्थवाद की स्थापना के लिए एक गहरा कलात्मक सघर्ष की आवश्यकता हुई। परपरा के साथ सघर्ष और सामजस्य की यह विभिन्नता आज के बँगला या मराठी तथा हिंदी रगमच की स्थिति की विभिन्नता म ही प्रकट है।

कलकत्ते की मूनलाइट कपनी को छोड़ दें तो आज हिंदी मे नियमित रूप से चलनेवाला व्यवसायी रगमच नहीं है, जबकि अन्य बहुत-सी भाषाओ म विभिन्न स्तरो पर और विभिन्न स्थितियो मे नियमित व्यवसायी रगमच है। इसलिए अधिकाश हिंदी रगमचीय गतिविधि अव्यवसायी, शौकिया (अमेचर) ही है। इसमे भी बहुत बडा भाग शिक्षा सस्थाओ के नाटक समाजो या वर्ष म एकाध नाटक करनेवाले क्लबो की, अथवा अभिनय प्रेमी युवक-युवतियो के

आत्मप्रदर्शन अथवा मनोरंजन के लिए होनेवाली, गतिविधि का है। किसी गहरी कलात्मक चेतना या प्रेरणा से रंगकार्य में लगे हुए दल हिंदी में उँगलियों पर गिनने लायक भी नहीं है। इनके भी रंगकार्य का स्तर बड़ा असमान है। जहाँ कई भाषाओं के रंगमंच में मुख्य टकराहट व्यावसायिकता और गंभीर कलादृष्टि के बीच केन्द्रित होती जा रही है, वहाँ हिंदी में अभी तक बुनियादी प्रश्न यह बना हुआ है कि किसी न किसी प्रकार वैसा न कैसा व्यवसायी रंगमंच स्थापित कर दिया जाये, उसका कलात्मक स्तर चाहे जो हो। हिंदी क्षेत्र के अधिकांश रंगकर्मी सोचते हैं कि पहले नियमित व्यवसायी रंगमंच बने तो सही, कलात्मकता की बात बाद में देखी जायगी। आंतरिक दुर्बलता के अतिरिक्त फिल्मी प्रभाव से भी, मनोरंजन और लोकप्रियता ही हिंदी रंगमंच के आदर्श हैं, *रंगमंच के संबंध में अनुभूति और दृष्टि के, रूप और अभिव्यक्ति के*, कला और संस्कार के, प्रश्न उठाना साहित्यिकों का दिमागी फितूर समझा जाता है--हिंदी रंगमंचीय क्षेत्रों में अभिरुचिसपन्न साहित्यिक-कलात्मक पृष्ठभूमि-युक्त रंगकर्मी घुसपैठिये समझे जाते हैं और संदेह की दृष्टि से देखे जाते हैं।

वास्तव में हिंदी रंगमंच की बुनियादी समस्या है उसे मनोरंजन के साधन के स्तर से उबारना और उसमें अनुभूति की सार्थकता, दृष्टि की गहनता और रूप की कलात्मकता की स्थापना द्वारा उसे एक महत्त्वपूर्ण और मानवीय कार्य की श्रेणी प्रदान करना। यदि रंगकार्य निरा दिलबहलाव है तो उसके पीछे माथापच्ची करने से कोई लाभ नहीं। पर उसके द्वारा जीवन के गहनतम यथार्थ से साक्षात्कार संभव है, बल्कि शायद ऐसा बहुमुखी साक्षात्कार संभव है जो किसी अन्य अभिव्यक्ति माध्यम द्वारा उपलब्ध नहीं, तो इस सत्य की अनिवार्य आवश्यकताओं से सामना करना तात्कालिक कार्य है। इसका अर्थ है कि रंगमंच शौकीन अथवा आत्मप्रदर्शन प्रेमी व्यक्तियों का कार्य नहीं, गंभीर तथा आत्मा-*न्वेषणकामी व्यक्तियों का, आत्मानुशासित और निष्ठावान व्यक्तियों का*, परिश्रम तथा सहयोग कर सकनेवालों का, कलात्मक दायित्व के लिए सुविधाओं का त्याग करने का साहस और क्षमतावाले व्यक्तियों का कार्य है। हिंदी ही नहीं, देश के *समस्त व्यवसायी रंगमंच में यह प्रायः कहा जाता है कि* रंगकर्मी जिम्मेदार नहीं होते समय से पूर्वाभ्यास के लिए नहीं आते, 'पार्ट' याद नहीं करते, आत्म-प्रदर्शन और प्रचार को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं, इत्यादि। पर यह एक ऐसा अंतर्विरोध है जो बड़ी आवश्यकता का सूचक है। वास्तव में गंभीर रंगमंच में ऐसे रंगकर्मियों के लिए कोई स्थान नहीं जो जिम्मेदार नहीं है। किसी की खुशामद करके आप उसे कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित नहीं कर सकते। *जो अनुशासित नहीं हो सकते, जो परिश्रम नहीं कर सकते, जो सुविधाओं का* त्याग नहीं कर सकते, उनसे हमारे अच्छा रंगमंच कभी नहीं बनेगा; इसलिए

उनकी उपस्थिति मे आज भी कोई विशेष लाभ नही। सभवत हिंदी रगमच अब उस अवस्था मे आ पहुँचा है जब यह स्वीकार किया जा सके कि रगमच तुनक मिजाज फैशनेबल युवक-युवतियो का क्लब नही जहाँ वे शाम का वक्त दिलचस्प ढग से बिताने के लिए इकट्ठे हो सके। रगमच ऐसे लोगो का कार्य क्षेत्र है जो उसके माध्यम से जीवन से एक *नये प्रकार का साक्षात्कार करना* चाहते हैं, जो अपने आपको उसके माध्यम से खोजते हैं और इस प्रकार और दूसरे लोगो को भी ऐसे साक्षात्कार मे सहायता देते हैं। इसी से यह प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण नही है कि रगमच व्यवसाय के रूप म स्थापित होता है या नही, बल्कि यह है कि वह किसी सार्थक मानवीय साक्षात्कार का साधन बन *सकता है नही।*

वास्तव मे व्यवसायी रगमच की स्थापना के प्रश्न को इसी परिप्रेक्ष्य मे देख सकना बडा आवश्यक है। जहाँ व्यवसायी रगमच रगकर्मियो को अपनी सपूर्ण शक्ति के साथ अपने कार्य म जुटने की सभावना प्रस्तुत करता है, वही यह सच है कि ससार मे *अधिकाश उत्कृष्ट, उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण रगकार्य,* जिसने रगमच को नयी दिशा दी और नयी सार्थकता प्रदान की है, गभीर अव्यवसायी कर्मियो ने ही किया है। हमारा देश भी इसका अपवाद नही। ससार का अधिक अव्यवसायी रगमच ऐसी अधी प्रतियोगिता और अर्थ-करी वृत्ति से आक्रात है कि किसी अर्थवत्ता का, किन्हीं मूल्यों का प्रश्न ही वहाँ *नही उठता।* हिंदी के अपने सदर्भ मे यह प्रश्न इसीलिए और भी तीव्रता प्राप्त कर लेता है क्योकि हमारे पास कोई व्यवसायी मच नही है। किंतु सभवत यह दुर्भाग्य नही, एक हद तक सौभाग्यपूर्ण परिस्थिति है। हिंदी रगमच को किसी समृद्ध व्यवसायी रगमच और उसकी मूल्यहीनता, भ्रष्टाचार और विकृति के शव को नही ढोना है, किसी *मृगतृष्णा के मोह को नही काटना है।* उसके लिए सभव है कि वह सीधे ही सार्थक कार्य से प्रारभ कर सके, चाहे वह प्रारभ अन्य भाषाओ के रगमचो की तुलना मे अपेक्षाकृत निम्नतर धरातल से ही क्यो न होता हो। हिंदी रगमच का गभीर कर्मी यदि अपनी इस स्थिति के सही स्वरूप को पहचान सके तो वह बहुत से अनावश्यक निरर्थक श्रम से, बद गलियो मे भटकने से, बच सकता है।

अभी तक हिंदी रगमच की परपरा और उसके साथ आज के रगकर्मी के सबध के बाह्य पक्षो की ही चर्चा की गई। रगमच जैसी अपेक्षाकृत अल्पविक-सित विधा मे यह सभवत अनिवार्य भी है और आवश्यक भी। जहाँ प्रारभ से ही प्रारभ है वहाँ *प्राथमिक स्तर की चर्चा से कोई छुटकारा नही।* किंतु निस्सदेह किसी भी सर्जनात्मक कार्य की भाँति रगकार्य का भी गहरे रचनात्मक स्तर पर आकलन आवश्यक है। दुर्भाग्यवश व्यापक रूप मे रगसृष्टि और

रंगानुभूति के अभाव में ऐसे आकलन के वास्तव उपलब्धि पर आधारित न होकर निरे सामान्य सिद्धांतों के विवेचन में खो जाने की आशंका है। किंतु जैसा पहले कहा गया, यह एक शक्ति का कारण भी बन सकता है और यह असंभव नहीं कि वास्तविक सार्थक रंगानुभूति की खोज ही नयी सार्थक रंग सृष्टि की स्थापना भी सिद्ध हो।

हिंदी क्षेत्र के पिछले पंद्रह-बीस वर्ष के कार्यकलाप पर दृष्टि डालें तो आठ-दस से अधिक प्रदर्शन ऐसे न निकलेंगे जिनमें किसी सार्थक रंगानुभूति का संप्रेषण भी हो सका हो तथा जिनकी प्रस्तुति में कोई नवीन कलात्मक आयाम भी हो। शंभु मित्र के निर्देशन में इप्टा द्वारा प्रस्तुत विजन भट्टाचार्य का 'अंतिम अभिलाषा' दिल्ली आर्ट थिएटर द्वारा प्रस्तुत विष्णु प्रभाकर का 'होरी' श्यामानन्द जालान और इब्राहिम अल्काजी द्वारा प्रस्तुत मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन', अल्काजी तथा सत्यदेव दुबे द्वारा प्रस्तुत धर्मवीर भारती का 'अंधा युग', प्रयाग रंगमंच द्वारा प्रस्तुत विपिन अग्रवाल का 'तीन अपाहिज', कुछेक उल्लेखनीय प्रदर्शन कहे जा सकते हैं। हिंदी क्षेत्र इतना विस्तृत है कि कुछेक उल्लेखनीय प्रदर्शन अवश्य ही और भी कहीं हुए होंगे। इनके अतिरिक्त विभिन्न केन्द्रों में उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीशचंद्र माथुर, लक्ष्मी नारायण लाल के नाटकों के प्रदर्शन भी किसी हद तक सार्थकता के साथ हुए होंगे। इन में योरोपीय तथा अन्य भारतीय भाषाओं के नाटकों के अनुवादों के प्रदर्शन भी जोड़े जा सकते हैं, जिनमें से कुछेक ने हिंदी में मौलिक नाटकों की कमी को देखते हुए, हिंदी रंगमंच को अवश्य ही विशिष्टता और गहराई प्रदान की है। किंतु हिंदी क्षेत्र के विभिन्न नगरों में प्रायः प्रदर्शित होनेवाले अधिकांश नाटक तथाकथित रंगमंचीय कोटि के ही होते हैं, जिनमें सस्ती कामदियों, प्रहसनों अथवा उद्देश्यपरक तथाकथित समस्यामूलक नाटकों की ही भरमार रहती है। कुल मिला कर हिंदी रंगमंच पर उपलब्ध रंगानुभूति में एक ओर पर्याप्त विविधता नहीं है दूसरी ओर उसकी कोई निश्चित निजस्व दृष्टि, कोई अपना व्यक्तित्व कोई विशिष्ट शैली या शैलियाँ भी नहीं हैं। महत्त्वपूर्ण प्रस्तुतियाँ अधिकांश यथार्थवादी नाटकों की हैं यद्यपि 'अंधायुग' और 'तीन अपाहिज' जैसे अयथार्थवादी प्रयोग भी हुए हैं।

वास्तव में हिंदी की नाट्य परंपरा से परिपुष्ट काव्यात्मक, आंतरिक यथार्थवाद की अवस्था कभी आयी ही नहीं। पहले कहा गया है, हिंदी में यथार्थवाद केवल शिक्षा संस्थाओं में अंग्रेजी नाटकों के अनुकरण में लिखे गये नाटकों तक सीमित रहा। दूसरे महायुद्ध और स्वतन्त्रता के बाद रंगमंच पर प्रस्तुत यथार्थवादी नाटक अधिकांशतः सतही और छिछले रहे हैं। केवल पिछले कुछेक वर्षों में लिखे गये दो चार यथार्थवादी नाटक ही ऐसे हैं जो अनुभव की

गहराई मे प्रवेश करते हैं, जो भावो के काव्य को कार्य-व्यापार के रूप मे प्रस्तुत करते हैं। पर उनकी भी अभी कोई निश्चित स्थिति नही बन सकी है। हिंदी रगमच का निर्देशक, अभिनेता, और रगशिल्पी अभी तक आतरिक, काव्यात्मक यथार्थ को गहराई से अभिव्यक्त करने का अभ्यासी नहीं हो सका है, उसमे निपुणता या सार्थकता की तो बात ही दूर है। हिंदी रगमच पर अभी तक इब्सन या चेखव के सूक्ष्म सवेदनशील, अभिव्यजनापूर्ण प्रदर्शन नही हुए हैं। उन अथवा उन-जैसे नाटको के प्रयोग के अनुभव के बिना हिंदी रगकर्मी अभिव्यक्ति की कोई *प्रौढ़ता प्राप्त कर सकता है इसमे सदेह है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय* के अतिरिक्त नाट्य सगठन नहीं के बराबर है जिसके द्वारा प्रस्तुत नाटको मे न केवल महत्त्वपूर्ण मौलिक हिंदी नाटक, बल्कि पाश्चात्य रगमच की महत्त्वपूर्ण शैलियो के प्रमुख नाटक भी, सम्मिलित हो। विभिन्न शैलियों के नाटकों के अभाव मे हिंदी रगमच और कर्मियों के अत्यधिक सीमित, सकुचित और आत्मस्थ रह जाने की बडी भारी आशका है। इसलिए इस बात की बडी भारी आवश्यकता है कि गभीर रग सगठन अपने नाटको के चुनाव को अधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न करें और महत्त्वपूर्ण नाटको के प्रदर्शन द्वारा अपनी अभिव्यक्ति की परिधि का विस्तार करके दर्शक वर्ग को बृहत्तर रगानुभूति सुलभ बनायें।

रगमच पर परपरा और प्रयोग के सबध का प्रश्न इस स्थिति से बडी घनिष्ठता से सबद्ध है। उसका स्वरूप और स्तर ठीक वही नहीं है जो हिंदी कविता या कथा साहित्य मे दिखाई पडता है। नाटक वैसे भी कई स्तरो पर सामूहिक विधा है जो किसी समुदाय द्वारा स्वीकृत रूढियों पर आधारित रहती है। ये रूढियाँ स्थायी या शाश्वत नही हैं, वे बदलती हैं। पर उनकी आतरिक *परिवर्तनशीलता व्यक्तिमूलक कलाओ से भिन्न प्रकार की गति से निर्धारित होती* है। हिंदी रगमच के क्षेत्र मे काव्य अथवा कथा साहित्य के अनुशीलन के आधार पर अपने मानदड स्थिर करनेवाले समीक्षकों और नाट्य प्रेमियो के ऊपर यह विशेष दायित्व है कि वे रगकार्य की आतरिक विकास गति को समझे बिना निष्कर्ष निकालने की जल्दी न करें। यह समझना अत्यत आवश्यक है कि जीवन के काव्य को दृश्य कार्य-व्यापार के रूप मे अभिव्यक्त कर सकने के लिए, अनुभव के गहनतम स्तरो का साक्षात्कार स्वय करने और दर्शक-वर्ग को करा सकने के लिए, सबसे पहले रगकर्मी के मानतन मे पर्याप्त ग्रहणशीलता आवश्यक है। हिंदी रगकर्मी के सामने, बल्कि भारतीय रगकर्मी के सामने, प्रश्न किसी पूर्व निर्धारित भाव निरपेक्षता (एलिनेशन) या सगतिहीनता (ऐब्सर्ड) के अन्वेषण का नहीं, बल्कि एक अधिक सवेदनशील रग शैली विकसित करने का है। वह शैली वर्णनात्मक हो या अभिव्यजनात्मक, रूढिपरक या नाट्यधर्मी, सादृश्यमूलक या प्रतिनिधान मूलक, यथार्थवादी या अ-यथार्थवादी—यह प्रश्न बहुत हद तक

अभी शास्त्रीय है। ऐसा लगता है कि अभी देर तक हमारे रंगमंच की प्रधान शैली आंतरिक काव्यात्मक यथार्थवादी ही रहेगी जो गहरी भावानुभूति को अभिव्यक्त करने में समर्थ हो, केवल बाह्य परिवेश और व्यवहार मात्र को ही नहीं। इस समय जो एक ओर अत्यधिक बाह्यपरकता और दूसरी ओर विभिन्न शैलियों के लापरवाह मिश्रण की स्थिति हिंदी रंगमंच पर दीखती है, उसका अंत करके अभिनय, गति-विज्ञान, दृश्यबंध, प्रकाश-योजना आदि, रंगाभिव्यक्ति के सभी पक्षों में अन्विति की खोज करना रंगकर्मी का सबसे प्रमुख और आवश्यक दायित्व है। हिंदी रंगमंच के प्रयोग की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण दिशा अन्विति का यह अनुसंधान ही है।

वास्तव में इस अन्विति का अनुसंधान ही किसी भी रंगमंच के लिए आत्म परिचय के अन्वेषण का प्रारंभ है। रंगमंच पर परंपरा और प्रयोग की समस्या मूलतः इसी स्तर पर जुड़ी हुई है। पिछले दिनों हिंदी में इस बात की चर्चा होने लगी है कि हमारा रंगमंच अपनी भारतीय परंपरा से, प्राचीन संस्कृत और लोक नाट्य के व्यवहारों और रूढ़ियों से, बहुत कुछ ग्रहण कर सकता है। विशेषकर पाश्चात्य रंगमंच में प्राच्य रंगमंचीय रूढ़ियों और व्यवहारों के उपयोग की ओर ध्यान जाने के कारण, ब्रेख्ट तथा अन्य पाश्चात्य नाटककारों-निर्देशकों-अभिनेताओं के माध्यम से, अपने पुराने रंगमंच की कुछेक विशेषताओं की ओर हमारा ध्यान भी आकर्षित हुआ है। उदाहरण के लिए, परंपरागत भारतीय रंगमंच में देश-काल की अन्वितियों का बंधन नहीं, कार्य-व्यापार की गति को रंग द्वार की, दृश्यबंध की, स्थिरता नहीं जकड़ती, कार्य-व्यापार में एक अपूर्व निरंतरता, तरलता मौजूद रहती है, अभिनय में नृत्य मूलक गतियों और गीत तथा संगीत का प्रयोग होता है, उसमें एक प्रकार का महाकाव्यत्व, दृश्य पटल का विस्तार अपनाना संभव हो पाता है। निस्संदेह ये सब महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं जिनका सर्जनशील रंगकर्मी आवश्यकतानुसार उपयोग कर सकता है और यह हिंदी तथा भारतीय रंगकर्मी के सौभाग्य की बात है कि उसे ये सब तत्त्व अपनी ही परंपरा से प्राप्त है। किंतु वे कोई जादू की छड़ी नहीं हैं जिनके हाथ में लेते ही प्रदर्शन काव्यात्मक हो जायगा। मुख्य बात यह है कि वे भी साधन ही हैं साध्य नहीं। रंगाभिव्यक्ति का रूप, उसमें प्रयुक्त व्यवहार और रूढ़ियाँ, अनुभूति के स्वरूप और स्तर से ही निर्धारित हो सकता है। उनकी यांत्रिक स्थापना हिंदी रंगमंच के कलात्मक विकास में सहायक नहीं हो सकेगी। परंपरा से परिचय और संपर्क निस्संदेह आवश्यक है, पर उससे भी अधिक आवश्यक है उस परंपरा का सर्जनात्मक अन्वेषण जो किसी सार्थक अनुभूति के साक्षात्कार, और उसकी अभिव्यक्ति के प्रयास में, प्रखर एवं कलात्मक, सौंदर्यमूलक अन्विति के अन्वेषण द्वारा ही संभव है। इस प्रसंग में हबीब तनवीर द्वारा

'मृच्छकटिक' का नयी नौटंकी के रूप में और हिन्दुस्तानी थियेटर द्वारा ही 'मुद्राराक्षस' को तथाकथित क्षेत्रीय पद्धति द्वारा, प्रस्तुत करने के प्रयासों का उल्लेख किया जा सकता है। इन प्रदर्शनों में सौंदर्य-मूलक और कलात्मक अन्विति का इतना अभाव था कि बहुत-सी शिल्पगत उपलब्धियों के बावजूद वे प्रदर्शन हास्यास्पद के स्तर पर पहुँच जाते थे, यद्यपि उनमें भारतीय रंग परंपरा की बहुत सी युक्तियों का प्रयोग था।

वास्तव में हिंदी रंगमंच के लिए प्रयोगशीलता की दिशा मनहीं, मनोरंजन-मूलक अभिव्यक्ति से गहन समन्वित काव्यात्मक अभिव्यक्ति की ओर बढ़ने की दिशा है। रंगमंच पर निर्देशक और रंग शिल्पी को, विशेषकर अभिनेता को, इस काव्यात्मकता की प्राप्ति अपने अनुभूति जगत का विस्तार देकर और अपने भावतंत्र को संवेदनशील रूप कर करनी होगी। निस्संदेह संस्कृत तथा लोक नाट्य परंपरा से परिचय उसकी संवेदनशीलता को गहरा बना सकता है, कार्य-व्यापार के काव्य को समझने और अभिव्यक्त करने के लिए उसे अधिक क्षमता प्रदान कर सकता है। अपने आत्म-परिचय के अन्वेषण में सहायक हो सकता है। पर यह धीमी और जटिल प्रक्रिया है। किसी सरल समाधान का मोह, चाहे वह पाश्चात्य नाट्य रूढ़ियों से प्राप्त हो चाहे संस्कृत और लोक नाट्य की रूढ़ियों से वास्तविक आत्मान्वेषण का पर्याय नहीं बन सकता।

अंत में रंगमंच की भाषा के संबंध में कुछ एक प्रश्न उठा कर मैं इस वक्तव्य को समाप्त करना चाहता हूँ। भाषा हिंदी रंगमंच की एक बड़ी बुनियादी समस्या है। परंपरा से हिंदी रंगमंच को भारतेन्दु के नाटकों की, पारसी रंगमंच की, और प्रसाद की भाषा मिली है। इन में एक ओर पाठ्यक्रमीय नाटकों की तथा दूसरी ओर रेडियो और बंबइया फ़िल्मी संवादों की भाषा भी जोड़ दें तो अराजकता अपनी पूरी तीव्रता से सामने आ जाती है। नाटक की भाषा में उच्चरित शब्द की भावगहनता, काव्यात्मकता, व्यंजना, प्रतीकात्मकता और संगीत से युक्त करना पड़ता है। केवल सुबोधता किसी कलात्मक अभिव्यक्ति का मानदंड नहीं हो सकती, न शास्त्रीयता ही। पिछले दिनों हिंदी कविता और कथा-साहित्य में जो प्रश्नता, अलंकरणहीनता के साथ-साथ तीव्रता, सूक्ष्मता और भावव्यंजना आयी है, वह हिंदी नाटक की भाषा के निर्माण में सहायक हो सकती है। भाषा को काव्य और संगीत से विमुक्त करके केवल मुहावरों की के द्वारा नाटकीय नहीं बनाया जा सकता, और न परंपरागत रोमैटिक शब्दावली के उपयोग द्वारा। व्यंजनापूर्ण सार्थक भाषा की खोज हिंदी रंगमंच के व्यक्तित्व की खोज का अनिवार्य अंग है।

हिंदी नाटक इस समय अपने व्यक्तित्व की खोज में है। वह व्यक्तित्व क्या है इसका निश्चित सूत्र बताना कठिन है। पर हाल की कुछेक रचनाएँ

यही सूचित करती है कि हिन्दी नाटककार दृश्य यथाय के भीतर पैठने के लिए प्रयत्नशील है और उसका दृष्टि ऊपरी कार्य व्यापार और व्यवहारवादी आच रण के निरूपण की बजाय मानवीय कार्यों के गहनतर मानसिक आधारो तक जाने लगी है। हिन्दी रगमच के लिए यह शुभ सकेत है। यथाय के इस गहन रूप के मूत्त करन के प्रयास मे ही वह अपनी परम्परा को फिर स खोज भी सकेगा और उसे एक नया सस्कार भी दे सकेगा।

(इ) नौटंकी और आधुनिक रंगमंच

नौटंकी अथवा स्वाग भगत आदि उसका कोई अन्य प्रकार हिंदी-भाषी क्षेत्र का ऐसा प्रमुख लौकिक नाट्य रूप है जिसने रासलीला तथा रामलीला जैसे धार्मिक नाट्य रूपों के साथ सैकडो वर्षो से इस क्षेत्र के लोक जीवन मे रंगमंच और नाट्य की परपरा को जीवित रखा है। पिछली शताब्दी मे आधुनिक रंगमंच के उदय के बाद से भी आज तक नौटंकी के प्रदर्शन हिंदीभाषी क्षेत्र के लाखो लोगो का मनोरंजन करते है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि आज के जागरूक रंगकर्मियो का ध्यान पिछले दिनो इस नाट्य रूप की ओर आकर्षित हुआ है और उसके बारे मे चर्चा होने लगी है।

वास्तव मे, हमारे देश मे किसी भी भाषा के रंगमंच के लिए अपने क्षेत्र के लोक नाट्य रूपो का अध्ययन आज कई कारणो से आवश्यक हो गया है। एक तो यही कि लोककला की चर्चा बड़ ऊँचे दर्जे की आधुनिकता मानी जाती है, सभ्रान्त, फैशनेबल समाज की ऊँची से ऊँची मजलिस मे उठने-बैठने के लिए लोक नाट्य से प्रेम का प्रदर्शन निस्सदेह एक उत्कृष्ट योग्यता है। पर इसके अतिरिक्त भी, एक गभीर रंगकर्मी को लगता है कि हमारे देश की प्राचीन परपरा के सूत्र कही न कही लोक नाट्य मे सचमुच छिपे है जिससे समन्वित होकर शायद आज के कला-कार्य को एक नया आयाम दिया जा सकता है। पर जो लोग अपने देश मे अपने ही रंगमंच का स्वरूप पहचानने और विकसित तथा स्थापित करने के काम मे उलझे हुए है, उसके लिए जूझ रहे है, उनके निकट तो लोक नाट्य एक ऐसा अनोखा भडार है जिसकी किसी तरह उपेक्षा नही की जा सकती। नौटंकी मे आज के शहरी रंगकर्मियो की बढ़ती हुई रुचि और चर्चा के पीछे ये सब कारण भी निस्सदेह है ही, यद्यपि इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे तत्व भी है जो नौटंकी के आधुनिक अध्ययन को कुछ विशेष सार्थकता और महत्त्व प्रदान करते है और उसकी अपनी विशिष्ट समस्याओ और कठिनाइयो को सामने लाते है।

इस अध्ययन अथवा रुचि का एक ढग और स्तर यह है कि नौटंकी के प्रदर्शन शहरी रंगमंच के दर्शक-वर्ग के लिए आयोजित किए जाएँ। दिल्ली मे ही पिछले दिनो इस तरह के कई एक प्रयत्न हुए है। इसके भी दो रूप है। एक

तो यह कि किसी पेशेवर मंडली द्वारा उनके लोकप्रिय नौटंकी नाटक शहरी दर्शक वर्ग के लिए कराए जाएँ। दूसरा यह कि इन मंडलियों द्वारा, अथवा विभिन्न मंडलियों में से चुने हुए श्रेष्ठ गायक-अभिनेताओं द्वारा, कोई नया, विशेष रूप से शहरी दर्शक-वर्ग के लिए लिखा गया, नौटंकी नाटक प्रदर्शित कराया जाय। इन दोनों ही प्रयत्नों की अपनी-अपनी विशिष्ट कठिनाइयाँ हैं।

नौटंकी आज व्यवसायी नाट्य रूप है और उसे दिखाने वाली मंडलियाँ उत्तर प्रदेश के बहुत-से शहरों, कस्बों और देहातों में निरंतर अपने प्रदर्शन करती रहती हैं। इनमें से अच्छी मंडलियों की इतनी अधिक माँग रहती है कि उन्हें अवकाश ही नहीं रहता। उनका दर्शक-वर्ग निश्चित है और उसी के मनोरंजन के लिए वे अपने प्रदर्शन तैयार करती हैं। यह भी स्वाभाविक है कि उनका *कलात्मक स्तर, अथवा उसका अभाव, भी उसी दर्शक-वर्ग के अनुरूप रहता है।* इन मंडलियों की, या कम से कम उनके विशेष अभिनेताओं की, आर्थिक स्थिति बहुत बुरी नहीं है। पर यह काम उनके लिए विशुद्ध धंधा है और इस कारण *न तो वे उसमें कोई भी ऐसे परिवर्तन करने से पीछे हटते हैं जो अधिक दर्शकों* का अधिक मनोरंजन कर सकें, और न केवल कलात्मक कारणों से ऐसे परिवर्तन करने को तैयार होते हैं जो उनके निश्चित दर्शक-वर्ग द्वारा पसंद न किए जाएँ। *इस प्रकार उनके कार्य के पीछे मूलतः कोई कलात्मक चेतना नहीं, निरी व्यव*साय प्रेरणा ही प्रमुख है। पिछले कुछेक वर्षों से एक और भी नवीनता नौटंकी में आयी है। अभी तक नौटंकी में स्त्रियों का अभिनय पुरुष ही किया करते थे, पर पिछले दिनों कई शहरों में तवायफों ने बड़े पैमाने पर नौटंकी में प्रवेश किया है जिसके फलस्वरूप नौटंकी प्रदर्शनों में एक विशेष प्रकार का बाजारूपन और सस्तापन बहुत बढ़ गया है। उनमें घटिया दर्जे के उत्तेजक गाने और नाच तथा भाव-भंगिमाएँ, अश्लील प्रसंग अथवा अभद्र इंगितपूर्ण कथोपकथन आदि, मूल नौटंकी नाटक में प्रक्षिप्त करके दिखाए जाते हैं। यह गिरावट फिल्मी धुनों के उपयोग के सीन सीनरी तथा वेशभूषा में अनावश्यक तड़क-भड़क के, अतिरिक्त है जो पहले से ही नौटंकी के नाटकों, विशेषकर उनके प्रदर्शनों में, आती जा रही थी। कुल मिलाकर मौजूदा स्थिति यह है कि नौटंकी मंडलियों में बड़े सुरीले और सशक्त गायक और अभिनेता तथा प्रतिभावान वादक मौजूद होने के बावजूद, उनका कलात्मक स्तर दिनोंदिन गिरता जाता है, यद्यपि उसी मात्रा में अशिक्षित जनता में उनकी लोकप्रियता और माँग भी बढ़ती रही है।

इन्हीं सब विशेषताओं के कारण इन प्रदर्शनों का अब शिक्षित और सुसंस्कृत शहरी दर्शक-वर्ग के आगे आने में कोई लाभ नहीं होता। न तो ये कलाकार ही खुलकर अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन कर पाते हैं और न यह दर्शक-वर्ग

ही उनसे कोई विशेष सौंदर्यमूलक अथवा नाटकीय परितृप्ति प्राप्त कर पाता है। ऐसे प्रदर्शनो से रगशिल्प का जिज्ञासु विद्यार्थी अथवा अध्येता भले ही कुछ रोचक बात जान ले, साधारण शहरी रगप्रेमी उनसे निराश और क्षुब्ध ही होता है।

इस स्थिति के उपचार रूप मे नये नौटकी नाटक लिखकर कुछेक चुने हुए अभिनेताओ द्वारा उनका प्रदर्शन कराने के प्रयत्न भी हुए है। दिल्ली मे ही 'रत्नावली' और 'माधवानल कामकदला' नामक दो नौटकियाँ इस प्रकार प्रस्तुत की जा चुकी हैं। पर इनम साधारण नौटकी प्रदर्शन की ग्राम्यता चाहे न हो, पर अपरिचित भावभूमि और कथानक के कारण उनम अभिनेता-गायक इतनी अस्वाभाविकता और जकड अनुभव करते हैं कि किसी भी उत्कृष्ट प्रदर्शन के लिए आवश्यक सहजता, स्वत स्फूर्तता और तन्मयता उनमे नही आ पाती। नयी नौटकी के प्रदर्शन के लिए लम्बी तैयारी की आवश्यकता होती है। क्योकि पुरानी मुख्य-मुख्य नौटकियाँ अच्छे अभिनेताओ को पूरी याद होती है और वे थोडी-सी मेहनत स ही किसी भी प्रदर्शन मे भाग ले पाते है। पर शहरो के लिए विशेष रूप से लिखी गयी नयी नौटकियो को नये सिरे से याद करने लायक न तो उनके पास अवकाश होता है न इतना धीरज, जिसके बिना प्रदर्शन की सफलता सभव नही। इसके अतिरिक्त आज ऊँचे कलात्मक स्तर के नौटकी नाटक लिखे जाने के लिए वातावरण भी विशेष प्रेरणादायक नही है। वास्तव मे नयी नौटकियो की अच्छी तैयारी और प्रदर्शन तब तक ठीक नही हो सकते जब तक विशेष रूप से इसी कार्य के लिए नयी पेशेवर मडलियाँ न बनायी जाएँ और उनके नियमित प्रदर्शनो की पर्याप्त व्यवस्था हो सके। यह स्पष्ट ही ऐसा काम है जिसमे परिश्रम, धन और व्यवस्था सभी कुछ बहुत चाहिए। हाल ही मे ब्रज कला केन्द्र नामक एक सस्था ने ऐसी एक मडली चलाने का प्रयास तो किया है, पर कई प्रकार की कठिनाइयो के कारण वह बहुत अधिक प्रगति नही कर पायी है।

इस प्रकार नौटकी के प्रचार और अध्ययन का यह रूप बहुत सुविधाजनक नही है। इस उपाय मे हम नौटकी को अपने आज के रगमचीय जीवन और गतिविधि का जीवत और महत्त्वपूर्ण अग नही बना सकते और न उसके रूप मे कोई कलात्मक परिवर्तन या सशोधन ही कर सकते हैं। मौजूदा स्थिति म स्वय नौटकी मडलियो के भीतर कोई अपनी कलात्मक प्रेरणा और गति नहीं है और अपने ही भीतर बद होने के कारण उसमे कोई कलात्मक तत्त्व बाहर से भी नही लाया जा सकता। किसी कलात्मक उद्देश्य से कोई अव्यवसायी या शौकिया ढग की नयी नौटकी मडली शुरू करना सभव नहीं, क्योकि उसके लिए उपयुक्त लेखक-कवि, गायक अभिनेता, और उसके प्रशिक्षण तथा फिर प्रदर्शन

की सुविधाएँ सभी कुछ इस पैमाने पर चाहिए कि अव्यवसायी संगठन उन्हें आसानी से नहीं जुटा सकते। यदि किसी तरह कहीं किसी नौटंकी मंडली में ही कोई ऐसा व्यक्ति पैदा हो जाय जो इस नाट्य रूप की कलात्मक संभावनाओं को समझकर उसे भिन्न दिशा में ले जाने को उद्यत हो तो दूसरी बात है। इतना निश्चित है कि आज लगभग असंभव लगने वाले ये संयोग यदि किसी प्रकार जुट सकें और नयी रंगमंचीय और कलादृष्टि से उनका प्रदर्शन आयोजित किया जा सके जिसमें नौटंकी की परंपरागत गायन पद्धति के साथ एक ओर अभिव्यंजनापूर्ण तथा उपयुक्त गति, समूहन, संरचना आंतरिक अभिनटन का और दूसरी ओर कल्पनाशील वेशभूषा तथा प्रकाश-व्यवस्था का समन्वय हो—तो अवश्य ही नौटंकी के प्रदर्शन को अत्यंत ही ऊँचे और सौंदर्यपूर्ण नाट्य रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

अभी तो आधुनिक रंगमंच के लिए नौटंकी की उपयोगिता उसकी नाट्य लेखन और प्रदर्शन की पद्धतियों के अध्ययन की ही रह जाती है। नौटंकी संगीतमूलक नाटक है, एक प्रकार का 'म्यूज़िकल', ऑपेरा नहीं। क्योंकि नौटंकी की संगीतात्मक रचना निश्चित और प्रत्येक नाटक के लिए लगभग एक-सी ही होती है। नाटक की कथावस्तु के अनुरूप नयी-नयी संगीत संरचना नौटंकी में संभव नहीं, प्रत्येक नये नाटक की कथावस्तु को उसी संगीत रूप के माध्यम से गायक अभिनेता दर्शकों तक पहुँचाता है। इस पूर्व निश्चित संगीत निर्मिति में भी पात्रोनुकूल परिवर्तन बहुत नहीं है, कुछ थोड़े-से छंद, बहरें, और उनकी धुनें और तर्जें हैं जिनका उपयोग ही नाटक के सभी पात्र करते हैं। इस प्रकार यह तो संभव है कि विभिन्न गायक-अभिनेता नौटंकी के संगीत रूप का प्रयोग बहुत अलग अलग ढंग से करें और उनके प्रभाव में अपनी अपनी प्रतिभा और क्षमता के अनुसार अंतर हो—पर नौटंकी की संगीत रचना में विविधता लाना संभव नहीं है।

नाटक रचना की दृष्टि से भी नौटंकी के रूप में इतनी जकड़ और पुनरावृत्ति है कि वह प्रेम कहानियों, लोककथाओं या उसी प्रकार की इतिवृत्तात्मक, वर्णनात्मक कथावस्तु के लिए अधिक उपयुक्त जान पड़ती है। अत्यधिक व्यक्तिगत और मिश्रीकृत आधुनिक अनुभूति को अभिव्यक्त करने लायक पर्याप्त लचीलापन और आंतरिक भिन्नता उसमें नहीं है। फिर भी यह संभव है कि कुछेक प्रकार की विषयवस्तु के लिए नौटंकी के नाट्य रूप का उपयोग आज का लेखक कर सके। पर उसके लिए नौटंकी की रचना और उसके प्रदर्शन से बड़ा गहरा और आत्मीय परिचय चाहिए। किस प्रकार की अभिव्यक्ति, भाषा और अभिनय प्रदर्शन उसमें संभव है यह पूरी तरह समझे बिना नये प्रकार की ऐसी नौटंकी नहीं लिखी जा सकती जिसमें सर्जनात्मक और कलात्मक शक्ति

हो।

नौटकी नाटक अथवा प्रदर्शन को आधुनिक चेतना और अनुभूति का माध्यम बना सकने म कठिनाइया का इतन विस्तार स विवेचन इसलिए आव श्यक जान पडता है कि लोक नाट्य के प्रति अत्याधुनिक रुचि और बाहर स आरोपित उत्साह म बहकर या ता यह प्र रणा हाती है कि लोक नाट्य रूपो को सिर पर बैठा लिया जाय या उन्ह अत्यन्त तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाय। वास्तव म अन्य लाक कला रूपा की भाति साधारणत लोक नाट्य और विशे षत नौटकी का उपयोग आधुनिक रगमच के लिए बहुत अप्रत्यक्ष रूप म, उसकी विभिन रूढिया के उद्देश्य और प्रभाव और सभावनाओ को समझकर, किसी नाट्य रचना म उनकी कलात्मक अन्विति के रूप म ही हो सकता है।

सगीतमूलक नौटकी नाटक कल्पना प्रधान थिएटरी रचना है जिसम यथार्थ के अनुकरण का, उसका छन उत्पन्न करने का, प्रयत्न तनिक भी नही किया जाता। नौटकी म कथावस्तु का, घटनाओ का, प्रयाग प्रत्यक्ष सीधे ढग से, नाटकीय प्रभाव की दृष्टि स, होता है। नौटकी नाटककार के लिए स्थान और समय की दूरियाँ काई बाधा नही उत्पन्न करती, क्योकि उसे दर्शकों की कल्पना शीलता म सहज ही विश्वास होता है, क्याकि उसका उद्देश्य एक नाटकीय थिएटरी सत्य को, किसी अनुभूति क सत्य को, सप्रेषित करना है किसी बाह्य या ऊपरी यथाथ का भ्रम उत्पन्न करना नही। नौटकी नाटक के पात्र अपने आपको सहज किंतु लगभग काव्यमयी चित्रात्मक व्यजनाप्रधान भाषा म अभि व्यक्त करत है, और रगा जैसा पात्र देशकाल सबधी तथा अन्य इतिवृत्तात्मक सूचनाएँ भी दता है, कथावस्तु की प्रगति पर टिप्पणी करता है और कथा के भावसूत्रा को सयोजित भी करता जाता है। आधुनिक नाटक म इस पद्धति का उपयोग बडी आसानी से हो सकता है और आधुनिक नाटककार नौटकी लसक की परपरागत चतुराई और कुशलता से इस रूढि का उपयोग सीख सकता है। बहुत बार नौटकी प्रदर्शन म गायक अभिनता किसी स्थानीय अथवा सामयिक घटना या प्रसग पर भी टिप्पणी करता है। आधुनिक नाटक लेखक इस तत्व का उपयोग भी आवश्यकता हान पर कर सकता है। स्वगत और जनान्तिक के नाटकीय उपयाग म नौटकी से कुछ सीखा जा सकता है।

आधुनिक नाटककार के लिए एक अन्य विचारणीय तत्त्व है भारतीय नाटक म सगीत का उपयोग। हमारा समस्त परपरागत नाटक सगीत प्रधान है, या कम स कम यह सगीत का बडा नाटकीय और महत्त्वपूर्ण उपयाग करता है। आज का हिंदी नाटककार भी अपनी अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति को तीव्रता दन के लिए, किसी नाटकीय क्षण या स्थल का महत्व प्रगट करन के

लिए, किसी भाव, विचार, चरित्र या स्थिति को एक से अधिक स्तर या आयाम देने के लिए, अपने नाटक में संगीत का प्रयोग कर सकता है, और इस कला का कुछ-कुछ परंपरागत ढंग और कौशल उसे निस्संदेह नौटंकी से प्राप्त हो सकता है।

प्रदर्शन के मामले में भी मंच के तीन ओर दर्शकों को बैठाने की प्रवृत्ति कार्य व्यापार के लिए एक से अधिक धरातल का उपयोग, गतियों का विशेष *प्रयोग, आनुषंगिक संगीत की नाटकीयता, अभिनेता और दर्शक-वर्ग* के बीच अधिक घनिष्ठ और सीधा संबंध, आदि, तत्त्वों का आवश्यकतानुसार उपयोग हो सकता है। नौटंकी प्रदर्शन में दृश्य विधान अथवा उपकरणों का कोई स्थान नहीं। रंगमंचीय सत्य के संप्रेषण में बाहरी दृश्य विधान की गौणता पर इससे पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। आधुनिक रंगकर्मी दृश्य विधान को अधिक से अधिक सरल, अनलंकृत और व्यंजना प्रधान बनाने में नौटंकी से प्रेरणा पा सकता है। नौटंकी में भाव या वस्तु को गाकर संप्रेषित किया जाता है और बीच बीच *में अभिनटन और मूक अभिनय की सहायता ली जाती है। यह अभिनटन* (या जो भी अन्य रंगचर्या नौटंकी में होती है) प्रायः प्रतीकात्मक होता है संप्रेषण का प्रमुख साधन नहीं। विशेष प्रकार के आधुनिक प्रदर्शन में इस पद्धति का प्रयोग भी संभव है। नौटंकी अभिनेता के प्रशिक्षण में भी गले की तैयारी, स्पष्टता और सशक्तता पर बड़ा बल है। नौटंकी के गायक अभिनेता को अपनी आवाज़ में शक्ति, मधुरता और टिकाव को संचित रखना पड़ता है। आधुनिक अभिनेता, विशेषकर काव्य नाटक के अभिनेता, के लिए इस प्रकार के स्वर-*प्रशिक्षण का बड़ा महत्त्व है।*

पर कुल मिलाकर नौटंकी नाटक और प्रदर्शन की विशिष्टता उसकी कल्पनाप्रधानता सरलता और अलंकरणहीनता और प्रत्यक्ष नाटकीयता में है। हिंदी नाटक और रंगरचना के विकास में इन सभी तत्त्वों का अधिक समावेश उपकारी सिद्ध होगा और इसलिए नौटंकी से उनका नाटकीय प्रयोग सीखना हिंदी क्षेत्र के रंगकर्मी के लिए उपयोगी है। मुख्य बात यह है कि नौटंकी के अध्ययन से उसे अनुभव होगा कि ये विशिष्ट नाटकीय गुण इसे विदेशी नाटकों से ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं, ये सब उसकी अपनी परंपरा के अंग हैं और आज उसके नाटक और रंगमंच में इसीलिए नहीं है कि वह अपनी परंपरा से विलग है और विदेशी नाटक और रंगमंच की विघटनशील मान्यताओं के प्रभाव में कार्य करता है।

किंतु नौटंकी की नाट्य परंपरा के विभिन्न पक्षों और तत्त्वों का आधुनिक नाटक और रंगमंच में समावेश सर्जनात्मक स्तर पर ही हो सकता है, अनुकरणात्मक या 'लै-भागू' ढंग पर नहीं। कोई भी रूढ़ि या शिल्प पद्धति केवल अपनी

नवीनता या चमत्कार के लिए, या फैशन के कारण, प्रयुक्त होकर सार्थक नही हो सकती। किसी रचना की सम्पूर्ण विषयवस्तु और उसके सर्जनात्मक उद्देश्य की प्राप्ति मे मूलभूत उपादेयता, उपयुक्तता मे ही इन पद्धतियो के उपयोग का औचित्य हो सकता है। हमारे देश मे बहुत सी नवीन नाट्य पद्धतियो अथवा रूढियो का उपयोग प्राय विदेशी प्रेरणा से हुआ है और वह भी बहुत कुछ उनकी नवीनता या चमत्कार के लिए दर्शकों को चौकाने या अभिभूत कर देने के प्रकट अप्रकट उद्देश्य से। पर निस्सदेह रगसर्जन के रचनात्मक उद्देश्य से भी उनका उपयोग हो सकता है। सभवत उसके लिए अधिक कलात्मक ईमानदारी निष्ठा और दायित्व चाहिए, रगकार्य के प्रति और अपनी परपरा के प्रति अधिक सम्मान और आदर का भाव चाहिए। हमारे रगमचीय वातावरण म आज उसकी बहुलता है, यह कहना कठिन है। पर जब तक यह निष्ठा और आदर का भाव हमारे भीतर उत्पन्न नही होता तब तक न केवल हम अपने लोक नाट्य का कोई सस्कार या प्रचार नही कर सकेंगे, बल्कि अपने साधारण रग-मचीय जीवन और कार्य को किसी उल्लेखनीय कलात्मक स्तर तक न उठा सकेंगे।

(ङ) दिल्ली का हिंदी रंगमंच

इसमे तो कोई सन्देह नही कि पिछले पन्द्रह-बीस वर्ष से दिल्ली नगर, रगमच का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बनता जा रहा है, यद्यपि यह भी उतना ही निस्सदेह है कि दिल्ली का रगमच यहाँ के जीवन की भाँति ही एक प्रकार की ग्रथार्थता और सतहीपन से घिरा हुआ है। वह इस शहर की अपनी ही किसी पुरानी रग परपरा का, या किसी सामान्य व्यापक सांस्कृतिक जीवन का अग नही, बल्कि मूलत पिछले बीस बरसो मे बाहर से आकर स्थायी या अस्थायी तौर पर बसने वाले लोगो का कार्यकलाप है। इनमे भी बहुत-से लोग वे होते है जो विदेशी दूतावासो, बडे-बडे औद्योगिक-व्यावसायिक सस्थानो या सरकारी कार्यालयो के छोटे-बडे अधिकारी हैं और अपने मनोरजन के लिए नाटक खेलते हैं। इसलिए बुनियादी तौर पर यह रगमच अवकाश के समय मे दिल-बहलाव के लिए कुछ न कुछ करने का साधन भर ही रहा है, फिर चाहे कुछेक नाटको का स्तर कितना ही अच्छा क्यो न होता हो। प्रारम्भ मे यह गतिविधि मुख्यत अग्रेजी मे ही होती थी। धीरे-धीरे अब अन्य भाषाओ मे भी, विशेषकर, पजाबी, हिन्दी, उर्दू और बँगला, मराठी तथा कन्नड आदि भाषाओ मे भी नाटक खेले जाने लगे है। इनके अतिरिक्त राजधानी होने के कारण दिल्ली मे निरन्तर देश के विभिन्न भागो तथा विदेशो से बहुत-सी मडलियाँ आकर अपने प्रदर्शन करती रहती हैं बल्कि शायद दिल्ली मे सबसे सार्थक नाट्यानुभूति प्राय बाहर से आने वाले दलो के प्रदर्शनो मे ही मिलती है।

किन्तु यह सारी गतिविधि, दिल्ली की जनसख्या, उसके उपनगरो, सरकारी दफ्तरो और अफसरो की भाँति ही, अनियत्रित रूप से बनावटी ढग से बढती-फैलती रही है। इस रगमच मे गुणात्मक से परिमाणमूलक वृद्धि अधिक है, यह समुदाय की किन्ही मूलभूत, सास्कृतिक-सौंदर्यमूलक आवश्यकताओ के दबाव से अधिक ऊपरी-बाहरी प्रभावो के कारण बढता रहा है। इसीलिए उसकी जडें नहीं हैं। समुदाय के जीवन मे उसका कोई निश्चित अनिवार्य स्थान नहीं है। उसका स्थायी दर्शक-वर्ग नही है, उसके कोई अपने कलात्मक आदर्श या मान नहीं हैं। इस स्थिति का अन्य पक्ष यह है कि वह अधिकाशत एकदम शौकिया अव्यवसायी गतिविधि है—ऐसे लोगो की आत्माभिव्यक्ति, बल्कि प्राय आत्म-प्रदर्शन, का माध्यम, जो

अपेक्षाकृत संपन्न हैं, जिनके पास अवकाश भी है और अन्य आर्थिक साधन भी, पर जो क्लब-टेनिस ब्रिज की बजाय नाटक करना अधिक पसंद करते हैं। इसीलिए इस गतिविधि में कोई गंभीरता प्रायः नहीं होती, सर्जनात्मक प्रेरणा की अभिव्यक्ति के बजाय अवकाश के समय का मनोरंजन होने के कारण उसमें उद्देश्य का, दिशा का, अभाव है। यह नहीं कि इस सामान्य स्थिति के कुछ अपवाद नहीं रहे हैं और दिल्ली के रंगमंच में विभिन्न स्तरों पर कलात्मक अभिव्यक्ति के प्रयत्न नहीं होते। पर ऐसे प्रयास प्रायः इतने छिटपुट इक्के-दुक्के और अस्थायी रहे हैं कि यह नहीं कहा जा सकता कि पुराना चौखटा बदल गया। उस चौखटे के भीतर जो थोड़ा-बहुत परिवर्तन होता रहा है वह अभी तक इतना निर्णायक नहीं है कि उसके कारण दिल्ली के रंगमंच का स्वरूप ही बदल गया हो, यद्यपि पिछले दिनों में निस्संदेह कुछेक ऐसे तत्त्व उभरे हैं जिन्हें आशाप्रद भावी विकास का सूचक मानना संभव है।

दिल्ली का हिंदी रंगमंच इसी सामान्य स्थिति का ही एक अंग है और *उस स्थिति की सभी दुर्बलताओं के अतिरिक्त कुछेक अपनी विशेष परिस्थितियों* का भी शिकार है, जैसे हिंदी रंगमंच की अपनी टूटी हुई परम्परा, हिन्दी में विभिन्न प्रकार के कलात्मक सार्थक नाटकों की कमी, प्रशिक्षित सुरुचिसंपन्न निर्देशकों का अभाव, हिन्दी भाषी दर्शक-वर्ग के सांस्कृतिक स्तर की हीनता, आदि। *हिंदी रंगकर्मी या तो सचमुच इतना पिछड़ा हुआ है कि उसके प्रयत्नों का स्तर बहुत ही नीचा होता है, या वह राजधानी के बनावट-पसंद, हिंदी-विरोधी वातावरण में एक प्रकार की हीनता के* भाव से ग्रस्त रहता है, *या वह* रेडियो अथवा टेलिविज़न पर *स्थायी-अस्थायी* रूप में काम करने वाला व्यक्ति है जो अपने आपको पहुँचा हुआ मान चुका है और अपने व्यक्तित्व के ऊपर गहरी पड़ी हुई लीकों से बाहर निकलने में असमर्थ है। अधिकांश हिंदी प्रेमियों और साहित्यकारों की रंगमंच में विशेष रुचि नहीं। हिंदी नाटकों के प्रदर्शनों में हिंदी लेखक बहुत कम ही दिखाई पड़ते हैं। उनमें से बहुत-से तो नाटक को तभी 'उच्च कोटि का' समझते हैं जब वह किसी 'साहित्यकार' का लिखा हो, और उनकी प्रतिक्रियाएँ ऐसे पूर्वाग्रहों और घिसी-पिटी निस्सार धारणाओं से निर्धारित होती हैं जिनका रंगमंच या किसी भी सर्जनात्मक-कलात्मक कार्य से कोई संबंध नहीं। जैसे, एक विद्वान प्राध्यापक महोदय को मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' का प्रदर्शन इसलिए अच्छा नहीं लगता क्योंकि उसमें कालिदास का चरित्र बहुत 'गिरा हुआ' दिखाया गया है। साथ ही यह भी सही है कि साधारणतः हिन्दी नाटकों के लिए पर्याप्त दर्शक नहीं जुट पाते और किसी नाटक को लंबे अरसे तक खेल सकना प्रायः असंभव होता है। जो लोग हिन्दी नाटक देखने जाते भी हैं वे न तो दिल्ली के सामाजिक जीवन के उस

स्तर के सदस्य होते हैं जिसे प्रतिष्ठा प्राप्त है, और न जनसाधारण ही। आम तौर पर फिल्मी भावुकता से आक्रान्त हल्के छिछले मानसिक स्तर और घटिया रुचि वाले दर्शक ही नाटक देखने आते हैं। इसलिए हिंदी के अधिकांश प्रदर्शनों का स्तर उन्हीं के अनुरूप रहता है और वे कभी कलात्मक सक्षमता का आयाम नहीं प्राप्त कर पाते। जो कुछेक प्रदर्शन कलात्मक सार्थकता प्राप्त करने का प्रयास करते भी हैं वे या तो अपने संगठन और उद्देश्य के कारण या अपने साधनों की सीमाओं के कारण स्थायी उपलब्धि के स्तर पर हिन्दी रंगमंच को स्थापित करने में सफल नहीं होते।

दिल्ली में हिंदी रंगमंच से संबंधित दलों के कार्य पर सरसरी नज़र डालने से भी यह स्थिति स्पष्ट हो जाती है। इन दलों में कुछ तो ऐसे हैं जो केवल हिंदी, उर्दू, या तथाकथित 'हिन्दुस्तानी', में नाटक करते हैं, और कुछ ऐसे जो इनके साथ-साथ पंजाबी या अंग्रेज़ी में भी। कुछ दल ऐसे हैं जो विशेष प्रकार के नाटकों में, जैसे प्रहसनों में या संगीत प्रधान नाटकों में, ही दिलचस्पी रखते हैं और मनोरंजन के उद्देश्य से नाटक खेलते हैं, किसी कलात्मक प्रेरणा से नहीं। इसी प्रकार कुछ ऐसे जो हर वर्ष कई नाटक प्रस्तुत करते हैं, कुछ ऐसे हैं जो जो कभी-कभी इक्का-दुक्का कर के ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। इस भाँति इन मंडलियों के कार्य के स्वरूप और स्तर में, उनकी योग्यता और लगन में, उनके द्वारा प्रस्तुत नाटकों और उनके प्रदर्शनों की संख्या में, बड़ी विविधता है, और यदि कुल मिलाकर वे हिंदी रंगमंच के कई आयामों और कई भावी दिशाओं के सूचक हैं, फिर भी वे हिंदी रंगमंच का बहुत उत्साहवर्धक चित्र नहीं प्रस्तुत करते।

इन दलों के काम को अलग-अलग लें। थ्री आर्ट्स क्लब नाटककार रमेश मेहता के निर्देशन में चलने वाला दल है जो पिछले पन्द्रह से भी अधिक वर्षों से सक्रिय है और हर वर्ष नियमित रूप से एक न एक नये अथवा अपने ही पुराने नाटकों का प्रदर्शन करता है। इस दल ने एकाध अनुवाद या रूपांतर को छोड़कर केवल रमेश मेहता के नाटक ही खेले हैं। इसका ज़ोर उद्देश्य प्रधान प्रहसनों या हलके फुलके नाटकों पर है और प्रदर्शन में पारसी या पृथ्वीराज के ढंग की अभिनय शैली की प्रधानता है, कलात्मक संयम या सुरुचि पर विशेष आग्रह नहीं। पर यह दिल्ली का सबसे लोकप्रिय दल है और इसने अपना एक निश्चित दर्शक-वर्ग बना लिया है। इसके प्रदर्शनों में किसी अतिरिक्त विज्ञापन के बिना ही लोग पर्याप्त संख्या में टिकट ले कर आते हैं। इस दल के कर्मी सरकारी अथवा व्यवसायी संस्थानों में काम करने वाले लोग हैं।

दिल्ली आर्ट थियेटर भी बीच-बीच में हिंदी नाटक करता रहता है, यद्यपि इसकी उपलब्धि पंजाबी संगीतिका (ऑपेरा) का प्रदर्शन है। इसने पिछले

दस-बारह वर्षों में 'होरी' और 'देवी' (विष्णु प्रभाकर), 'षोडशी' (शरच्चन्द्र), 'डाकघर' (रवीन्द्रनाथ), 'कंजूस' (मोलियर) आदि नाटक हिंदी में खेले हैं। नाटकों के चुनाव के अनुरूप ही इसका प्रदर्शन स्तर भी अपेक्षाकृत अच्छा होता है, मूलतः पंजाबी ऑपेरा पर आग्रह होने के कारण यह हिन्दी नाटकों पर नियमित रूप से ध्यान नहीं दे पाता।

लिटिल थिएटर ग्रुप दिल्ली की ऐसी संस्था है जो रंगमंच संबंधी हर काम हाथ में लेती है। पहले इसके मुख्य तथा अधिकांश प्रदर्शन अंग्रेजी में होते थे। पर अब इसने हिंदी की ओर भी ध्यान दिया है और हर वर्ष एक-दो नाटक हिंदी के खेलता है। इसने हिंदी में प्रदर्शन के लिए सहकारी आधार पर एक अर्द्ध-व्यवसायी मंडली बनायी है। इसके अधिकांश प्रदर्शन भारतीय अथवा विदेशी भाषाओं के रूपांतर ही रहे हैं, जिनमें 'कस्तूरी मृग' (पु० ल० देशपांडे), जजीरें (वसंत कानेटकर), 'इन्सपेक्टर विवर्क' (प्रीस्टले), 'नष्टनीड़, (रवीन्द्रनाथ), 'मिनिस्टर' (स्टिफेन ग्रोस्तोव) और 'श्री भोलानाथ' आदि हैं। इधर इसने जासूसी ढंग के नाटक भी हिन्दी में प्रस्तुत किये हैं और पिछले वर्ष अमानत का 'इन्दर सभा' भी खेला था। इसका प्रदर्शन स्तर साधारण शौकिया ढंग का होता है जिसमें कलात्मक आग्रह अधिक नहीं।

इन्द्रप्रस्थ थिएटर के संचालक आर० जी० आनंद व्यवसायी भी हैं और नाटककार भी। यह दल प्रायः उनके ही नाटक करता है जो प्रहसनात्मक हलके-फुलके ढंग के होते हैं। इन में प्रारम्भिक दिनों के रोचक नाटक 'हम हिंदुस्तानी' का उल्लेख किया जा सकता है। बीच में इसका जोर संगीत प्रधान तड़क-भड़क वाले प्रदर्शनों पर हो गया था जिनमें भगवती चरण वर्मा के उपन्यास 'चित्रलेखा' का नाट्यांतर और 'दरबारे-अकबरी' आदि हैं। पिछले दिनों राजेन्द्रनाथ के निर्देशन में इसने कुछेक दूसरे ढंग के नाटक भी किये हैं, पर अभी उसका कोई स्वरूप नहीं बन सका है। इस दल के पास साधनों की भी प्रचुरता है और प्रभावशाली व्यक्तियों से संपर्क की भी। फलतः मनोरंजक प्रदर्शन करने में इसे कोई कठिनाई नहीं होती और इससे अधिक कोई महत्वाकांक्षा भी इसकी शायद नहीं है।

यात्रिक अर्ध-व्यवसायी ढंग की मंडली है जो बारी-बारी से अंग्रेजी-हिंदी दोनों में हर शनिवार और रविवार को नाटक करती है। अब तक हिंदी-उर्दू में यह 'आजर का ख्वाब' (बर्नार्ड शा के 'पिगमेलियन' पर आधारित 'माइ फेयर लेडी' का उर्दू रूपांतर), 'इन्सपेक्टर जनरल' (गोगोल), 'रहें कि न रहें, (आद्य रंगाचार्य) आदि कर चुकी है। इसके सदस्य अभिनेता प्रायः सभी प्रशिक्षित व्यक्ति हैं जिनका रंगमंच से गहरा लगाव भी है। इसलिए इसका प्रदर्शन स्तर साधारणतः अच्छा होता है। पर इसका मुख्य क्षेत्र अंग्रेजी नाटक

और उसी का दर्शक-वर्ग है और हिंदी रंगमंच में यह पूरी तरह खप नहीं पाती।

अन्य संस्थाओं में कला साधना मंदिर एक अन्य नाटककार रेवती सरन शर्मा का दल है जो प्राय उन्हीं के नाटक खेलता है। ये नाटक जाने-अनजाने मूलत उस प्रगतिवादी मान्यता के शिकार है कि उद्देश्य अच्छा होने से रचना अच्छी हो जाती है। इसलिए वे सतही भावुकतापूर्ण स्थितियों और पात्रों के अस्वाभाविक बनावटी प्रस्तुतीकरण के कारण न तो मनोरंजक होते हैं न कलात्मक। प्रदर्शन का स्तर भी निहायत शौकिया ढंग का होता है। मॉडर्नाइट्स में ज्यादातर रेडियो में काम करने वाले लोग हैं और ये भी हलके-फुलके प्रहसन ही करते हैं और करना चाहते हैं। हिन्दी में मौलिक प्रहसनों और कामदी नाटकों का भारी अभाव होने के कारण यह स्वाभाविक ही है कि अधिकांश नाटक रूपांतर या अनुवाद होते है। रंगमंच नामक संस्था ने पिछले दिनों अपनी अन्य गतिविधियों के अतिरिक्त हिन्दी में नाटक भी किये हैं, जिनमें 'अलगोज़ा' (ब्रजमोहन शाह) और 'केयर टकर' (पिंटर) का उल्लेख किया जा सकता है। इन नाटकों की विषय-वस्तु और उद्देश्य गंभीर होने पर भी उनका प्रदर्शन किसी सार्थक स्तर तक नहीं उठ सका—'अलगोज़ा' तो नाटक के रूप में भी कमज़ोर और ढीला था। यह कहना कठिन है कि यह दल भी कोई निश्चित व्यक्तित्व और सार्थक स्तर प्राप्त कर सकेगा। ऐसे ही कुछ अन्य दल भी हैं जो वर्ष-दो वर्ष में एक बार कोई हिन्दी नाटक करते हैं। पर उनके नाटकों का चुनाव और प्रदर्शन का स्तर सभी कुछ अनिश्चित और प्राय निम्न ही रहता है। इसलिए उनका कभी कोई महत्त्व नहीं होता। इसी प्रकार सरकारी गीत-नाटक विभाग के हिन्दी नाटकों के प्रदर्शन नियमित होते हुए भी प्रचारात्मक होने के कारण नगर की मूल रंगमंचीय गतिविधि पर, प्रदर्शन के स्तर और दर्शक-वर्ग के रुचि-संस्कार पर, कोई विशेष प्रभाव नहीं डाल पाते।

दिल्ली के हिन्दी रंगमंच के इस परिदृश्य का एक अन्य उल्लेखनीय अंग है राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा) जो अपने सभी प्रदर्शन हिन्दी उर्दू में ही करता है। इसकी स्थापना १९५९ में हुई और प्रारम्भ के तीन वर्षों में इसके प्रदर्शन मुख्यत विद्यार्थियों के अभ्यासार्थ और सीमित निमंत्रित दर्शक-वर्ग के लिए होते रहे। उस समय 'भगवदज्जुकम्' (बोधायन), 'पाप और प्रकाश' (ताल्सताय) और 'शारदीया' (जगदीशचन्द्र माथुर) प्रस्तुत किये गये थे। बाद में विद्यालय ने टिकट लगा कर प्रदर्शन शुरू किये और अब तक हिन्दी में 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' (मोहन राकेश), 'अंधायुग' (धर्मवीर भारती), 'सुनो जनमेजय' (आद्य रंगाचार्य), 'प्रेत' (इब्सन), 'मध्यम व्यायोग' (भास), तथा उर्दू में 'गुड़िया घर' (इब्सन),

'एंटिगनी' (ज्यां ग्रानुई), 'बिच्छू' ग्रौर 'कजूस', (मौलियर), 'ईडिपस' (सौफोक्लीज), 'सपने' (कामू), फादर' (स्ट्रिडबर्ग), 'किंग लियर' (शेक्सपियर), 'मोहम्मद तुगलक (गिरीश कारनाड) ग्रौर 'ट्राय की ग्रौरतें' (यूरीपिडीज) का प्रदर्शन कर चुका है। इसम से अधिकतर विद्यालय के अपने छोटे नाटकघर म हुए हैं। नाटको की इस सूची से स्पष्ट है कि विद्यालय के प्रदर्शनो मे श्रेष्ठ नाटको पर बल है ग्रौर उसका उद्देश्य हिन्दी-उर्द समभने वाले दर्शकों के लिए ऐसी नाट्यानुभूति सुलभ बनाना है जो साधारणत उपलब्ध नही। साधनो की कठिनाई ग्रौर मनोरजन ग्रथवा ग्रार्थिक लाभ का ग्राग्रह न होने से इन प्रदर्शनो का शिल्पगत स्तर ऊँचा रहता है ग्रौर वे हिन्दी नाट्य प्रदर्शन को नयी मान्यता ग्रौर प्रतिष्ठा दिलाने मे सहायक हुए हैं।

पर विद्यालय के प्रदर्शन मूलत उन छात्रो के प्रशिक्षण के उद्देश्य से होते हैं जो देश के विभिन्न भाषा क्षेत्रो से ग्राते हैं। हिन्दी-उर्दू मे ग्रभिनय सदा उनके लिए सहज नही होता। साथ ही ससार के श्रेष्ठ नाटको पर ग्राग्रह के कारण स्कूल के ग्रधिकाश प्रदर्शनो मे भारतीय जीवन ग्रौर उसकी विभिन्न स्थितियो ग्रौर मुद्राग्रो के बजाय विदेशी जीवन को ही नाट्यात्मक ग्रभिव्यक्ति मिलती है। छात्रो के लिए प्राय इस अपरिचित जीवन पद्धति और ग्रनुभूति क्षेत्र से तादात्म्य ग्रौर इसीलिए उसका विश्वसनीय, प्रामाणिक प्रस्तुतीकरण कठिन होता है। फलत यह सम्भावना रहती है कि वे समन्वित नाट्यानुभूति के बजाय शिल्पगत सौष्ठव, सुरुचि, कल्पनाशीलता ग्रौर निपुणता के प्रस्तुतीकरण हो जायें। एक प्रकार से विद्यालय के प्रदर्शनो का प्रभाव मूलत ग्रौर मुख्यत शिल्पगत है ग्रौर उन्होंने हिन्दी नाट्य प्रदर्शनों से ऊँचे स्तर और शिल्पगत सम्पूर्णता की अपेक्षा को बढा दिया है। किन्तु साधना की दृष्टि से विद्यालय तथा ग्रन्य हिन्दी मडलियो मे इतनी विषमता है कि विद्यालय के प्रदर्शनो का प्रभाव बहुत सीमित हो जाता है ग्रौर साधारण हिन्दी नाटक मडली उनकी पद्धतियो ग्रौर शिल्पीय स्तर को नही ग्रपना पाती। प्रदर्शनो मे ग्रनुवादो की बहुलता के कारण दर्शक-वर्ग के स्तर पर भी, उनके साधारण हिन्दी-भाषी दर्शक की बजाय नगर के ग्रग्रेजी-पसन्द, पाश्चात्य जीवन-साहित्य से परिचित, या उसके प्रेमी, उच्च वर्ग से ग्रधिकाधिक जुडने की सभावना है। हिन्दी के ग्रपने दर्शक-वर्ग के रुचि-सस्कार मे इससे बहुत सहायता नही मिलती। इन सब सीमाग्रो बावजूद विद्यालय के प्रदर्शनो ने दिल्ली के हिन्दी रगमच की ग्रपेक्षाग्रो को, उसके कार्य के स्तर ग्रौर मानदडो को, ऊँचा बनाने मे महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

ग्रत मे दिल्ली रगमच के इस सामान्य सर्वेक्षण मे कुछ ऐसे दलो का नाम भी लिया जाना जरूरी है जो ग्रब टूट गये हैं या प्राय टूटे-से हैं। इनमे हिन्दुस्तानी थिएटर भी है। इसकी स्थापना स्व० बेगम कुदसिया जैदी ने व्यवसायी मडली

बनाने के उद्देश्य से की थी। वह उद्देश्य पूरा न हो सका और बहुत दिनों तक यह दल पहले हबीब तनवीर और बाद में शमा जैदी और एम० एस० सथ्यु के निर्देशन में अव्यवसायी दल के रूप में कार्य करता रहा। इसके पीछे एक प्रकार की सिद्धांतवादिता निरंतर रही और इसने विशेष प्रकार की शैली में 'शकुंतला' 'मिट्टी की गाड़ी', 'मुद्राराक्षस' आदि संस्कृत नाटकों के उर्दू रूपांतर में ब्रेख्ट का 'सफेद कुण्डली' जैसे नाटक किये। इस दल का आग्रह ब्रेख्टपंथी नाट्य रचना पर, प्रदर्शन में संगीत और नृत्यात्मक गतियों तथा अयथार्थवादी पद्धतियों पर था। पर सैद्धांतिक आग्रह के बावजूद, या शायद इसके कारण ही, इसका प्रदर्शन स्तर बड़ा अस्थिर रहा और संस्कृत नाटकों के प्रदर्शन में एक ओर तीव्र हठग्राहिता और दूसरी ओर उसके उपयुक्त सांस्कृतिक चेतना की क्षीणता इतनी उभर कर सामने आती रही कि वे कोई स्वस्थ प्रभाव हिन्दी या उर्दू रंगमंच के लिए नहीं बन सके। शमा जैदी और सथ्यु के दिल्ली से चले जाने के बाद अब इस दल की कोई गतिविधि नहीं है। हबीब तनवीर ने हिन्दुस्तानी थिएटर छोड़ने के बाद अपना अलग दल नया थिएटर नाम से बनाया। इसमें उन्होंने मोलियर के एक नाटक का संगीत-प्रधान उर्दू रूपांतर 'मिर्ज़ा शोहरत' और आगा हश्र का 'रुस्तम सोहराब' किया। इनमें रंगमंचीय सूझ-बूझ और निर्देशकीय कल्पनाशीलता निस्संदेह थी। तनवीर दिल्ली के प्रतिभावान निर्देशक और अभिनेता हैं, पर कई प्रकार की व्यक्तिगत और परिस्थितिगत कठिनाइयों के कारण वे दिल्ली की रंगमंचीय गतिविधि में कोई महत्त्वपूर्ण स्थायी योग नहीं दे सके हैं। इसी तरह सुपरिचित हिन्दी कवि हरिवंशराय बच्चन ने हिन्दी शेक्सपियर मंच नाम से एक संस्था बनायी थी जिसने उनके द्वारा अनूदित शेक्सपियर के दो नाटक खेले—'मैकबेथ' और 'ऑथेलो'। पर अनेक कारणों से यह संस्था न तो बहुत उच्च कोटि की कलात्मक सफलता प्राप्त कर सकी और न सक्रिय ही रह सकी।

दिल्ली के रंगमंचीय कार्यकलाप का यह संक्षिप्त सर्वेक्षण बहुत नकारात्मक लगेगा किन्तु वह दिल्ली के हिंदी रंगमंच की नहीं, समस्त हिंदी रंगमंच की विशेष परिस्थितियों को बड़ी तीव्रता से प्रकट करता है। हिंदी रंगमंच की दो बड़ी भारी कठिनाइयां हैं विभिन्न प्रकार के उच्चस्तरीय सार्थक नाटकों की कमी और सुरुचिसंपन्न हिंदी प्रेमी दर्शक-वर्ग की अल्पता। इन दो छोरों के बीच नाट्य संगठनों के संचालकों, अभिनेताओं और निर्देशकों की रुचियाँ, योग्यताएँ, क्षमताएँ और सीमाएँ भी अनिवार्य रूप से हिंदी रंगमंच के स्वरूप और स्तर को निर्धारित करती रहती हैं।

दर्शकों के सामने में, अनिवार्य रूप से अन्य स्थानों की भाँति दिल्ली में भी, प्रहसनों और मनोरंजक नाटकों की मांग अधिक है और उन्हीं की तलाश

रहती है। पर हिंदी मंडलियों में प्रायः नाटककार ही उनके संचालक-निर्देशक हैं और वे अपने ही नाटकों के खेले जाने का आग्रह करते हैं। देश की अन्य भाषाओं में, विशेषकर मराठी, बँगला आदि में, कामदी नाटकों की इतनी कमी नहीं है और पाश्चात्य रंगमंच के नाटकों की ओर दौड़ने या चाहे जैसे अपने ही लिखे नाटक करने की बजाय अन्य भारतीय भाषाओं के नाटक साहित्य की तलाश करना अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है। पर वास्तव में दिल्ली में नाटक खेल कर प्रतिष्ठा और मान्यता अंग्रेज़ी या पश्चिमी नाटकों के अनुवादों के प्रदर्शन द्वारा ही मिलती है। इसलिए आग्रह उन्हीं पर अधिक रहता है। जब तक संपन्न उच्च वर्गों के संरक्षण के बजाय साधारण दर्शक-वर्ग तक जाने और उसके रुचि-संस्कार के प्रयास का दृष्टिकोण नाटक मंडलियाँ नहीं अपनातीं, तब तक न तो नाटक की समस्या हल होगी और न दर्शक-वर्ग की।

उच्च वर्गों के संरक्षण की चाह का एक और भी पक्ष दिल्ली के रंगमंचीय जीवन में है। अंग्रेज़ी के नाटक में अच्छा अभिनय कर के ऐसे लोगों की नज़रों में चढ़ने की बहुत ज़्यादा संभावना रहती है जो छात्रवृत्तियाँ दिलवा कर विदेशों में भिजवा सकते हैं। अंग्रेज़ी या प्रायः-अंग्रेज़ी नाटकों के संचालक-निर्देशक इत्यादि ही रंगमंच या 'संस्कृत' से संबंधित सरकारी समितियों के, सांस्कृतिक शिष्ट मंडलों में, विशेष अध्ययन दलों के सदस्य बनाये जाते हैं, और इस प्रकार की अन्य मान्यताएँ प्राप्त करते हैं। यदि आप किसी प्रकार ऐसा नाटक तैयार कर सकें जो किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति का लिखा हो या जिसके प्रदर्शन में किसी उच्च सरकारी अधिकारी की 'रुचि' हो, तो आपकी साधना की कोई कमी नहीं रहेगी और इस बात की पूरी संभावना है कि अंततः आपको पर्याप्त प्रचार और संभवतः किसी विदेश यात्रा का अवसर प्राप्त हो जायेगा। रंगमंच का, विशेषकर हिंदी रंगमंच का, कोई भला इससे हो या न हो। हिंदी रंगमंच के बहुत-से कर्मी ऐसे लालच के शिकार हो कर हिन्दी रंगमंच को भ्रष्ट करते हैं। दिल्ली में हिन्दी के कई निर्देशक और अभिनेता, जो अपने आपको प्रशिक्षित समझने लगे हैं या प्रशिक्षित दिखाना चाहते हैं, इसलिए कुछ इस प्रकार से विदेशी नाटकों और प्रदर्शन-शैलियों-पद्धतियों और विचारों से आक्रांत होते जा रहे हैं कि उन्हें हिंदी का कोई नाटक अच्छा नहीं लगता, वे प्राचीन या आधुनिक पाश्चात्य 'क्लासिक्स' ही प्रस्तुत-अभिनीत करना चाहते हैं। निस्संदेह दिल्ली का सुविधासंपन्न और सुविधावादी वातावरण इसके लिए बहुत ही उपयुक्त है, और दिल्ली का हिन्दी रंगमंच इसका शिकार है।

इसी से अपने को गंभीर रंगकर्मी कहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर आज यह दायित्व है कि वह अपने दिल को टटोले। नाटक यदा-कदा प्राप्त होने वाले मनोरंजन से आगे किसी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति और अनुभूति का माध्यम तभी

बन सकेगा जब हम ईमानदारी से, उसे सामाजिक सीढ़ियाँ चढ़ने का साधन समझने की बजाय व्यक्ति और समूह के गहरे आत्मान्वेषण का कार्य समझेंगे। आशा करनी चाहिए कि हिन्दी रंगमंच--उसका नाटककार, उसका अभिनेता, निर्देशक तथा अन्य रंगशिल्पी और उसका दर्शक-- कभी न कभी इस सत्य से अवश्य साक्षात्कार करेगा।

●

'विग्रह' मासिक के मई १९६७ के अंक में प्रकाशित।

(з) टोटल गोष्ठी

दिल्ली रंगमंच का मौसम शुरू हो गया बल्कि उसके उभार का प्रारंभिक दौर खत्म हो चुका है और अब दूसरा शुरू होगा। पिछले दो-तीन महीनों में निस्सदेह हिंदी भाषा तथा अन्य भारतीय भाषाओं के भी कुछ पुराने और कुछ नए नाटकों के प्रदर्शन हुए, पर सदा की भाँति प्रधानता एक प्रकार से अंग्रेजी में होने वाले नाटकों की ही बनी रही। वास्तव में दिल्ली के रंगमंच में अंग्रेजी प्रेमियों का ही बोलबाला है। यहाँ न केवल अंग्रेजी में होने वाले नाटकों की संख्या अधिक होती है, बल्कि भारतीय भाषाओं के, विशेषकर हिंदी के, नाटकों के भी अधिकांश संगठनकर्ता-संयोजक, प्रस्तुतकर्ता-निर्देशक प्रायः अंग्रेजीदां और पश्चिम-भक्त लोग ही हैं। बड़े दुर्भाग्य की बात है कि जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति हमारा रंगमंच भी बड़े दयनीय रूप में पश्चिमोन्मुख और परोपजीवी है। शासनतंत्र और उद्योग-धंधों को ही नहीं, अपने नाटक और रंगमंच को भी हम पश्चिमी साँचों में ढालना और रचना चाहते हैं। पश्चिमी रंगमंच के मानों और मान्यताओं को ही हम आदर्श समझते हैं और उसके छोड़े हुए अथवा सप्रति फैशनेबल या 'अत्याधुनिक' समझे जाने वाले, व्यवहारों, रूढ़ियों और प्रतिरूपों को किसी न किसी रूप में अपने नाटक और रंगमंच में स्थापित और प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं। निस्सदेह आधुनिक भारतीय रंगमंच के प्रारंभ और विकास का विशेष इतिहास इस प्रवृत्ति और मनोवृत्ति का एक कारण है। किंतु इसका एक बड़ा कारण यह भी है कि आजादी के बाद से देश में सांस्कृतिक कार्य-कलाप जिसमें रंगमंच भी शामिल है, समाज की उस पश्चिमभक्त, फैशनेबल मंडली के आत्म-प्रदर्शन, दिलबहलाव और वक्त काटने का साधन बन गया, जिसकी शिक्षा-दीक्षा, आकांक्षा अभिलाषाएँ, प्रेरणाएँ और मान्यताएँ सभी प्रायः विदेशी थीं। यह मंडली लगभग संस्कारहीन तो थी ही, अपने देश की सांस्कृतिक परंपरा से, उसकी परिणति, सामर्थ्य और संभावनाओं से भी, प्रायः अपरिचित थी। यह मंडली नाटक इसलिए करती और देखती थी कि नाटक में माना-जाना 'सुसंस्कृत' समझा जाता है और वहाँ बड़ी आसानी से मेलजोल का काम पूरा हो सकता है। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक उन्नति के लिए आवश्यक महत्त्वपूर्ण 'संपर्क' बन सकते हैं। इस संभावना के कारण बहुत से नये अमीर व्यव-

सायी भा थेटर म दिलचस्पी लेन लग जिहान रगमच के विकास को एक भिन दिशा म प्रभावित किया। किंतु रगमच के ये समथक चाहे जिस वग के रह हा उनके उद्देश्या की पूर्ति के लिए नाटक और रगमच के किसी साथक रूप की तलाश न ता आवश्यक ही थी न इन लागो के लिए सभव ही।

बहुत कुछ इसलिए भी इस मडली के विशपना की सहज ही यह राय थी कि सस्कृत नाटक के बाद हमारे देश म नाटक या रगमच की काई परपरा नही बची है। इसलिए यहा अगर रगमच स्थापित हाना है तो वह या ता अग्रजी मे पश्चिमी नाटको क प्रदशना स हागा या भारतीय भाषाओ म उनके अनुवादो के प्रदशन से। भारतीय भाषाओ म नाटक का विकास तो विदेशी नाटको के बड पमाने पर रूपातरा या उनके माडल पर लिखे गए नाटका के बिना सभव ही नही है। स्पष्ट है कि इस वग के रगमचीय प्रयासो म देश के मानस या देश के व्यक्तित्व की कोई खाज दरकार है। य तो अधिक स अधिक उसका एक सकीण एकाकी और विकृत तथा कृत्रिम रूप प्रस्तुत करते थ। इन लोगो की प्ररणा या सरक्षण स जो हिंदी रगमच बना उसम इसीलिए कोई जान नही थी। वह पश्चिमी प्रदशन शलया की अनुकृति मात्र ही रहा। अधिकाशत इनकी सवश्रष्ठ उपलब्धिया अग्रजी म प्रदशना या पश्चिमी नाटका के भारतीय भाषाओ म अनुवादा के प्रदशना म ही रही। भारतीय नाटको के कल्पनाशील प्रदशना की ओर उनका ध्यान ही नही गया और न व नयी नाटक रचना के लिए ही काई गहरी प्ररणा प्रस्तुत कर सके।

इस पश्चिम प्रम का एक अय रूप यह हुआ कि भारतीय नाटक और रगमच की समस्याओ पर विचार भी पश्चिमी रगमच क सदभ म ही हाता रहा। पिछले दिना देश म रगमच सम्बन्धी गोष्ठियों प रसवादा सम्मलना म जिन स्थितिया और आवश्यकताओ पर ध्यान केन्द्रित रहा है उनम स अधिकाश प्राय अवास्तव थी और मूलत पश्चिमी रगमच की अपना स्थितियो का उपज थी। जिन समस्याओ स हम जूझत रह व हमार रगमच की थी ही नही। इसी प्रकार अपन रगमच का विशपताओ की ओर भी हमारा ध्यान पाश्चात्य नाट्य प्रवत्तियो या आन्दालना क माध्यम स ही गया। यही कारण है कि ब्रख्ट स परिचय प्राप्त करके हमार रगकर्मी भारतीय परपरागत नाट्य रूपा की ओर उनकी रूढिया पद्धतिया और व्यवहारा का आर आकर्षित हुए। नीरस सतही यथाथवाद स बजाय पश्चिमी रगमच का अयथायवादी शली का खाज क सहारे हा हम नाटक म सगीत और नत्यमूलकता की साथकता का पहचान सक और फलस्वरूप भारतीय नाटक और रग परपरा का महत्त्व स्वीकार करन का लाचार हुए। पिछले दिना लोक नाट्य म भी जो दिलचस्पी बढी है वह भी बहुत कुछ इसी प्रवत्ति के कारण हा है लोक नाट्यो म किसी विशष परिचय

या लगाव के कारण नही। इसलिए इन पश्चिम भक्त नव-परपरा प्रेमियो के दृष्टिकोण मे एक प्रकार का अजनबीपन है और भारतीय रगमच के प्रति एक प्रकार का श्रेष्ठता का, अनुग्रह का, भाव है जो उसे अपने स्वाभाविक समर्थ रूप मे बढने से रोकता है।

भारतीय रग परपरा से अपरिचय तथा उसके प्रति अवज्ञा का, और मुख्यत पाश्चात्य रगमच के पिछलग्गू बने रहने का, एक बडा रोचक उदाहरण हाल ही मे दिल्ली मे आयोजित पूर्व-पश्चिम नाट्य गोष्ठी म दिखाई पडा। इस गोष्ठी की न केवल मुख्य विवेच्य वस्तु—'टाटल' या सपूर्ण थिएटर की समस्या--भारतीय रगमच के सदर्भ म सर्वथा अप्रासगिक, अयथार्थ और कृत्रिम थी, बल्कि उसका पूरा सयोजन, कार्यपद्धति आदि सभी से यह झलकता था कि *उसके मुख्य सयोजको को भारतीय रगमच से कोई लेना-देना नही, और न* उसके प्रति उनके मन मे कोई खास आदर भाव है। गोष्ठी और समारोह के पूरे प्रबध मे एक ओर बेहद अराजकता और विशृखलता थी, तो दूसरी ओर *बडा अफसराना अन्दाज और अहकार भी था।*

इसका एक रूप दिखाई पडा भारत की ओर से गोष्ठी मे भाग लेने वालो के चुनाव मे। इनकी चार श्रेणियाँ बनायी गयी थी सचालन समिति, प्रतिनिधि मडल, प्रेक्षक और विशेष रूप से आमत्रित व्यक्ति। इनमे निस्सदेह कई ऐसे नाम थे जिनका भारतीय रगमच के विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान है। पर कुल मिलाकर बहुसख्यक लोग ऐसे ही थे जिनका रगमच से बडा सतही सबध है। सचालन समिति और प्रतिनिधि मडल के कुछ सदस्य तो ऐसे थे जो न केवल कोई भी भारतीय भाषा नही जानते या पढते, बल्कि रगमच से व्यावहारिक रूप मे भी किसी प्रकार सबद्ध नही, फिर भी भारतीय रगमच के विशेषज्ञ बने हुए है। कुछ ऐसे लोग थ जिनके 'सपर्क' महत्त्वपूर्ण हैं या जो स्वय ही किसी न किसी प्रकार से 'उपयोगी' हो सकते हैं। कुछ ऐसे लोग भी थे जो अपन आपको आगे लाने की प्रतिभा के धनी हैं और ऐसे अवसरो की तलाश मे ही रहते हैं जब वे अपनी धाक जमा सकें, विशेषकर ऐसी मजलिसो मे जहाँ महत्त्वपूर्ण *विदेशी लोग एकत्र हो ताकि उनके विदेशी 'सपर्क' व्यापक और पक्के हो और* भविष्य मे किसी न किसी सास्कृतिक आयोजन मे उनकी विदेशी यात्रा सुगम हो सके। फिर मुख्य सयोजक के मित्र-कृपापात्र तो थे ही। 'प्रेक्षक' श्रेणी मे देश के कई नगरो से, अधिकाश अपने-अपने नगर के महत्त्वपूर्ण रगकर्मी होने के कारण नही, बल्कि सगठन-विशेष से सबद्ध होन के कारण, आमत्रित लोग थे। दिलचस्प बात यह है कि इतनी सारी 'श्रेणियाँ' होने पर भी दिल्ली मे भारतीय भाषाओ के बहुत से नाटककार, निर्देशक, अभिनेता, समीक्षक विचारक उनमे से किसी मे नही आ सके और आमत्रित नही हुए। सयोजक ने उन्हे

दर्शक या श्रोता की श्रेणी के योग्य भी न समझा। सरकारी आयोजनों की भाँति यह गोष्ठी भी एक प्रकार से कुछेक लोगों के लिए अपनी श्रेष्ठता दिखाने का, अपने मित्रों को आभारी करने का, या 'उपयोगी' और 'महत्त्वपूर्ण' व्यक्तियों को प्रसन्न करने का सुनहरा अवसर बन गयी थी।

भारतीय रंगमंच से परिचयहीनता का ही एक अन्य रूप प्रकट था गोष्ठी के अवसर पर प्रस्तुत भारतीय नाट्य प्रदर्शनों की योजना में। इन प्रदर्शनों में आधुनिक नाटकों में बहुरूपी के 'राजा' और परंपरागत नाटकों में 'यात्रा' को छोड़कर बाकी प्रायः सभी घटिया स्तर के तो थे ही, भारतीय रंगमंच को अत्यंत ही एकांगी, विकृत और भ्रामक रूप में भी प्रस्तुत करते थे। 'गीत-गोविंदम्', 'अभिनयदर्पण', 'भामाकलपम्' और 'टेम्पटेशन ऑफ बुद्ध' नाटक या नाट्य नहीं, नृत्य-प्रधान प्रदर्शन थे जिनमें नाट्य भी था। इन नृत्यों की बहुलता शायद इसलिए रही होगी कि भारतीय रंगमंच के विदेशी विशेषज्ञों के अनुसार कथकली, भरतनाट्यम्, जैसे नृत्य नाट्य प्रकार ही कलात्मक और उल्लेखनीय है, रंगमंच का और कोई सार्थक रूप यहाँ बाकी नहीं। संस्कृत नाटक के नाम पर कूडिअट्टम का प्रदर्शन इतने कल्पनाहीन और फूहड़ ढंग से शायद इसीलिए प्रस्तुत किया गया कि भारतीय रंगमंच की प्रतिष्ठा बढ़ने की कोई आशंका न रह जाय! वास्तव में अधिकांश भारतीय प्रदर्शन अपनी कलात्मक श्रेष्ठता और सार्थकता के कारण नहीं, बल्कि प्रस्तुतकर्ताओं के 'महत्त्वपूर्ण' होने के कारण कार्यक्रम में सम्मिलित किए गए होंगे। क्योंकि अवसरोपयुक्त न होने के अलावा वे या तो नितांत निर्जीव रूप में गतानुगतिक शैली में थे, अथवा कल्पनाशून्य रूप में 'प्रयोगात्मक' और 'आधुनिक' थे। लगता है समारोह के उपयुक्त प्रदर्शनों के चुनाव पर संयोजकों को ध्यान देने या ठीक से सोचने का अवकाश नहीं मिला। अन्यथा सप्ताह भर के इस महत्त्वपूर्ण समारोह के लिए कोई नियमित संस्कृत और हिंदी नाटक विशेष रूप से तैयार करा सकना बहुत कठिन कार्य न था। इतने बड़े और अंतर्राष्ट्रीय स्तर के आयोजन के लिए यह भी आवश्यक था कि इतने सारे निरर्थक नृत्य-नाट्यों के बजाय, बहुत पहले से देश के कुछेक महत्त्वपूर्ण लोक नाट्यों के ऐसे सुनियोजित और कल्पनाशील ढंग से प्रस्तुत प्रदर्शन तैयार किए जाते जो हमारे देश की नाट्य संपदा या परंपरा का सही चित्र विदेश के और देश के रंगकर्मियों के सामने रख सकते। पर ऐसा तो तभी हो सकता था जब संयोजकों को देश के रंगमंच की समग्र परंपरा का, उसमें लोक नाट्यों की वास्तविक स्थिति का, और साथ ही उनके महत्त्व का भी, सही ज्ञान होता, जब उनके भीतर इस कार्य को संपन्न करने के लिए गहरा लगाव होता और पर्याप्त आवश्यक कल्पनाशीलता होती, जब उन्हें इस गोष्ठी द्वारा अंतर्राष्ट्रीय संपर्क 'सुदृढ़' करने के महत्त्वपूर्ण कार्य से कुछ फुरसत होती

और वे किसी अन्य कार्य की आवश्यकता अनुभव करते। कार्यक्रम का ऐसा निराशाजनक आयोजन तनिक भी आकस्मिक या आश्चर्यकारी नहीं है, इस *गोष्ठी की संचालन समिति इससे बेहतर कार्यक्रम* प्रस्तुत करने में शायद असमर्थ थी क्योंकि उसमें जो लोग सक्रिय थे उनमें से कुछेक को छोड़कर बाकी अधिकांश का भारतीय रंगमंच से लगाव लगभग काल्पनिक ही है। निस्संदेह *संचालन समिति के अध्यक्ष और प्रतिनिधि मंडल के प्रधान भारतीय रंगमंच के* मूर्धन्य व्यक्ति थे, पर लगता है वे भी प्रभावकारी न हो सके।

भारतीय रंगमंच की मूलभूत स्थिति और वास्तविकता से परिचय का *नितांत अभाव ही इस गोष्ठी के विषय के चुनाव में, उसके प्रस्तुतीकरण में,* और भारतीय वक्ताओं द्वारा उसके प्रतिपादन में भी परिलक्षित हुआ। गोष्ठी का विषय था 'टोटल' या सम्पूर्ण थिएटर। पर यह 'टोटल' थिएटर क्या है? *मुख्य भारतीय रंगमंच की परम्परा और समसामयिक स्थिति के संदर्भ में 'टोटल'* थिएटर की अवधारणा की क्या सार्थकता है? गोष्ठी प्रारम्भ होने के पहले शायद ही किसी भारतीय प्रतिनिधि के पास इन प्रश्नों का कोई संतोषजनक *उत्तर रहा हो। और इस गोष्ठी के बाद तो यह और भी तीव्रता से उजागर* है कि भारत या किसी प्राच्य देश के रंगमंच के लिए यह कोई जीवंत प्रश्न नहीं, योरपीय रंगमंच के लिए उसका चाहे जितना बड़ा महत्त्व क्यों न हो। वास्तव में पश्चिमी देशों में यह प्रश्न उनके रंगमंच की विशिष्ट स्थितियों की उपज है, रंगकर्मी और दर्शक-वर्ग के बीच संप्रेषण अधिकाधिक कम होता जा रहा है और नाटककार, निर्देशक, रंगशिल्पी तथा अभिनेता, सभी दर्शक-वर्ग से संवाद के लिए नये से नये साधनों और युक्तियों की तलाश में बेचैन हैं। यह स्थिति पश्चिमी देशों के विशिष्ट राजनैतिक-सामाजिक, आध्यात्मिक-सौन्दर्यमूलक संकट से उत्पन्न हुई है जिसमें संप्रेषण के साधनों की समग्रता, 'टोटलिटी', का प्रश्न हर रचनाकार के लिए इतना ज्वलंत हो उठा है। पर क्या यह भारतीय रंगमंच के लिए भी उतना ही जीवंत और मूलभूत है? यह विश्लेषण अपने आप में महत्त्वपूर्ण है और अलग से इस पर विचार करना उपयोगी हो सकता है। पर जहाँ तक पूर्व-पश्चिम गोष्ठी का संबंध है, उसमें भारत की ओर से भाग लेने वाले इस प्रश्न को भारतीय संदर्भ से जोड़ नहीं पाये। अधिकांश मुखर भारतीय *प्रवक्ता विदेशी प्रतिनिधियों को 'टोटल' थिएटर की परिभाषा बताने का प्रयास* करते रहे, उन्हें यह समझाने का प्रयास करते रहे कि उनकी सही स्थिति क्या है और उसमें उनके लिए क्या करना उपयोगी होगा। स्वभावतः ही उनकी बातों *में वाचालता अधिक थी, किसी जीवंत रंगमंचीय समस्या से साक्षात्कार कम।* इसी कारण इस विषय पर सारा विवेचन अंत तक इतना पथ भ्रष्ट और लक्ष्यहीन रहा और संपूर्णतः निरर्थक सिद्ध हुआ।

यदि गोष्ठी के सयोजक पर्याप्त जागरूक होते तो भारत मे ऐसी गोष्ठी का आयोजन करते समय वे विषय को ऐसे रूप मे रखते जिसकी भारतीय और अन्य प्राच्य रगमचो के लिए कोई विशेष सार्थकता होती और इस आधुनिक लगने वाले फैशनेबल विषय की चर्चाओ से बचते जिसके ऊपर पश्चिमी देशो तक मे कोई स्पष्ट चिंतन या विवेचन अभी तक नही है। क्योकि ऐसी निराधार निरर्थक चर्चा भारतीय रगमच और रगकर्मियो के लिए उपयोगी नही सिद्ध हो सकती। साथ ही यह प्रश्न भी सर्वथा सगत है कि भारतीय रग जगत अपने सीमित साधना को केवल कुछेक विदेशी विशेषज्ञो को एकत्र करके उनके साथ निरर्थक चर्चा मे क्यो नष्ट करे? इस बात पर शायद ही दो मत हो कि इस गोष्ठी की उपलब्धि कम से कम भारतीय रगमच के लिए प्राय नगण्य रही, कुछ व्यक्तियो या सस्थाओ को उससे भले ही कोई निजी लाभ हो जाय।

किन्तु एक बार इस विषय को ले कर गोष्ठी करने का निश्चय हो जाने के बाद भी यदि सयोजक इसको समझते कि, और कुछ नही तो गोष्ठी को यथा सभव उपयोगी बनाने के लिए, ही, भारतीय रगमच के सदर्भ मे इस विषय पर कुछ पूर्व चिंतन और तैयारी आवश्यक है, तो भारतीय वक्ताओ की स्थिति उतनी दयनीय न हुई होती जैसी गोष्ठी मे सचमुच हुई। यह बहुत कठिन न था कि गोष्ठी के कुछ महीने पहले तैयारी के रूप मे भारतीय रगमच से घनिष्ठत सबद्ध और चितनशील, चाह थोडे-से ही, व्यक्तियो का कोई सम्मलन किया जाता जिसम 'टोटल' रगमच की अवधारणा पर विचार विनिमय होता। ऐसे सम्मेलन से भारतीय रगमच मे आत्मचिंतन की प्रक्रिया को तो बल मिलता ही, साथ ही उसके बाद गोष्ठी म भारतीय दृष्टिकोण अधिक स्पष्टता तथा तीव्रता के साथ और अपनी सपूर्ण विविधता मे प्रस्तुत हो पाता। किन्तु पहले से ऐसे किसी सम्मेलन की बात तो दूर, गोष्ठी के दिनो मे भी अत तक विभिन्न श्रेणिया के प्रवक्ता कभी एक साथ मिल कर नही बैठ सके कि इस विषय म आपस मे विचार विनिमय करे और, गोष्ठी के बहाने ही सही रगमच के विषय मे किसी भारतीय दृष्टिकोण की खोज करें, या कम से कम किसी जीवत रगमचीय अभिव्यक्ति शैली स सबद्ध दृष्टिकोण गोष्ठी मे प्रस्तुत करने की दिशा मे अग्रसर हो सकें। पर यह तो शायद गोष्ठी का उद्देश्य ही नही था। फलस्वरूप भारतीय प्रतिनिधि मडल के अधिकाश सदस्य या तो बोले ही नही, या जो बोले वे प्राय सर्वथा अप्रासगिक बात कह कर आत्मसतुष्ट हो लिये, या फिर ऐसे लोग बोलने रहे जिन्हे किसी तरह भी किसी भी रगमच से कोई वास्तविक लगाव नही है, जो केवल विदेशियो पर अपनी धाक जमाने के उपयोगी काम म जी-जान से जुटे हुए थे। *अधिकतर बढ़िया 'एक्सेण्ट' मे अग्रेजी बोलने वाले और मूलत* भारतीय रग परपरा से सर्वथा असपृक्त, अनभिज्ञ या सहानुभूतिहीन दो-चार

लोग ही अपने अग्रेज़ी भाषा और पाश्चात्य थिएटर के विशेष ज्ञान का प्रदर्शन करते रहे। जो भी हो, कोई सुचिंतित भारतीय दृष्टिकोण, एक या एक से अधिक, गोष्ठी में न उभर सका।

इसीलिए आमत्रित भारतीय रगकर्मियो मे से अधिकाश समझदार लोग पूरी गोष्ठी मे भारत की ओर से प्रस्तुत विचारा से, और गोष्ठी की कार्यपद्धति तथा सयोजको के तानाशाही रवैये से, बेहद असतुष्ट थे। उन्हे अनुभव हुआ कि गोष्ठी उनके विचारो के आदान-प्रदान के लिए भारतीय रगमच के विकास का पथ प्रशस्त करने के लिए नही, किसी अन्य ही उद्देश्य की सिद्धि के लिए आयोजित है। उन्हे लगा कि उनके तथा भारतीय रगमच के लिए गोष्ठी की कोई उपलब्धि न थी। यह शायद सच हो, पर गोष्ठी के सयोजको के लिए तो उपलब्धि सचमुच हुई—एक 'एशियाई ब्यूरो' की स्थापना का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। अब इसके बहाने कुछेक अन्य अंग्रेज़ियत अथवा जोड-तोड के विशेषज्ञो को किसी न किसी अतर्राष्ट्रीय सम्मेलन, गोष्ठी या समारोह मे, या किसी समिति मे, भारतीय रगमच का प्रतिनिधि बन कर देश-विदेश की सैर का अवसर मिल सकेगा। इससे क्या फर्क पडता है कि भारतीय रगमच जहाँ है वही रहेगा, बल्कि उसके कुछ और साधनो के ऊपर कुछेक साहब लोगो का शिकजा और कडा हो जायगा। पूर्व-पश्चिम 'टोटल' रगमच गोष्ठी की 'टोटल' प्राप्ति और परिणति बस यही है।

'विग्रह' मासिक के जनवरी ६७ के अक मे प्रकाशित।

अनुक्रमणिका